महाकोशल-साहित्य-माला—२रा ग्रन्थ

तीन नाटक

गोविन्ददास



प्रकाशक

महाकोशल-साहित्य-मन्दिर

गोपालबाग, जबलपुर

मुद्रक
महेन्द्रनाथ पाण्डेय
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
१९९२

प्रकाशक
महाकोशल-साहित्य-मन्दिर
गोपालबाग, जबलपुर

परिडत द्वारकाप्रसाद मिश्र

को

सस्नेह समर्पित

—गोविन्ददास

प्राक्कथन

आरम्भिक निवेदन

बचपन की कुछ रचनाओं के पश्चात्, जिन्हें मैं एक प्रकार के खिलौनें मानता हूँ, फिर से लेखनी उठाने का सौभाग्य मुझे जेल में ही प्राप्त हो सका। वहाँ मैंने छोटे-बड़े बारह नाटक लिखे। इनमें एक पौराणिक, दो ऐतिहासिक एवं नौ सामाजिक हैं, और एक पौराणिक, एक ऐतिहासिक और एक सामाजिक, तीन नाटक, इस जिल्द में प्रकाशित हो रहे हैं।

बाल्यावस्था से ही मुझे नाटकों से अनुराग रहा है। इस अनुराग के कारण मुझे पहले हिन्दी और हिन्दी के द्वारा बँगला, फिर अँगरेज़ी और अँगरेज़ी के द्वारा अन्य देशों के नाटक तथा नाटक-साहित्य पर अनेक ग्रन्थ पढ़ने एवं हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला और अँगरेज़ी नाटक देखने का अवसर पड़ता रहा है। नाटकों के प्रति इसी अनुराग के कारण कला-सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन एवं मनन का भी अवसर आया है और इस प्रकार श्रेष्ठ-कला तथा कला के अन्तर्गत श्रेष्ठ नाटक के संबंध में आपसे-आप कुछ मत स्थिर होते गये हैं। इन्हीं मतों की नींव पर इन नाटकों की रचना हुई है। अतः पाठकों के सम्मुख इन नाटकों को रखते हुए मैं जिस प्रकार की कला को श्रेष्ठ कला और जिस प्रकार के नाटकों को श्रेष्ठ नाटक मानता हूँ उसका भी इस प्राक्कथन द्वारा संक्षिप्त विवेचन कर देना उचित समझता हूँ। परन्तु, इस विवेचन का यह अर्थ न समझ लिया जाय कि इन टूटे-फूटे नाटकों के लिखने में मैंने कोई महान् कार्य करने का संकल्प किया था और मैं यह समझ रहा हूँ कि उसमें मुझे सफलता मिली है। जेल के एकान्तवास का समय व्यतीत करने के लिए ही मैंने इन नाटकों का

लिखना आरंभ किया; फिर अनेक मित्रों के संग होने पर भी, तीनों बार के जेल-जीवन में यह कार्य चलता रहा। बिना किसी संकल्प या निश्चय के, अनायास ही, इन नाटकों की रचना हुई है और मैं भलीभाँति जानता हूँ कि श्रेष्ठ कला और श्रेष्ठ नाटक-संबंधी मेरे ही मतों की कसौटी पर कसे जाने से ये नाटक खरे न उतरेंगे।

ललित कला

यह बात निर्विवाद है कि सृष्टि में मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान उसकी ज्ञान-शक्ति के कारण है। विद्वानों ने मनुष्य के ज्ञातव्य पदार्थों को मोटे रूप से दो विभागों में बाँटा है—एक प्राकृतिक और दूसरा कृत्रिम। यहाँ उन्होंने 'प्राकृतिक' और 'कृत्रिम' शब्दों को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया है। प्राकृतिक विभाग में वे वस्तुएँ ली गयी हैं जिनके निर्माण में मनुष्य का कोई हाथ नहीं रहता और कृत्रिम विभाग में वे वस्तुएँ जिनका निर्माण वह स्वयं करता है। कृत्रिम विभाग को विद्वानों ने दो मोटे उप-विभागों में बाँटा है—एक विज्ञान और दूसरा कला। कला के, हमारे पूर्वीय विद्वानों ने ६४ विभाग किये हैं, किन्तु मोटे रूप से इसके भी दो विभाग हैं। एक वह कला जिसका कोई पार्थिव उपयोग है और दूसरी ललित कला जो अपने सौंदर्य से मनुष्य के हृदय को आनन्द पहुँचाती है। ललित कला का यथार्थ में पार्थिव क्षेत्र ही नहीं है। उसके दर्शन अथवा श्रवण से मनुष्य के हृदय में भावों की जाग्रति होती है और रस का प्रादुर्भाव होकर उसे आनंद मिलता है। ध्यान रखने की बात यह है कि ललित कला के आनंद को उत्पन्न करनेवाले दो ही मार्ग हैं—आँखें और कान। मनुष्य की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में आँख और कान इन्हीं दो इन्द्रियों का पार्थिवता के संग कम से कम प्रत्यक्ष संसर्ग होता है, अतः इनके द्वारा जिन भावों और रस की उत्पत्ति होकर इस रस की चरम सीमा पर जिस आनंद की प्राप्ति होती है, उसकी तुलना हमारे भारतीय प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने मोक्ष-सुख से की है। इसी

लिए कलाओं में ललित कलाओं का सर्वोच्च स्थान है। ललित कलाओं के पाँच मोटे उपविभाग किये गये हैं—शिल्प, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य। इनमें काव्य-कला सबसे श्रेष्ठ मानी जाती है। मनुष्य जो कुछ देखता या सोचता है उसे दूसरे के प्रति प्रकट करने की उसकी नैसर्गिक इच्छा होती है। सुन्दरता से इसका प्रकाशन, चाहे वह जिस रूप में भी हो, ललित कला है। किसी वस्तु-विशेष को देखने, सुनने अथवा किसी बात पर विचार करने के पश्चात् मस्तिष्क में कल्पनाएँ उठती हैं, क्योंकि कुछ सीमा तक ही बुद्धि की पहुँच है। जहाँ बुद्धि की पहुँच नहीं है वहाँ मनुष्य केवल कल्पना का आश्रय लेता है। जिन ललित कलाओं का कोई स्थूल आधार है जैसे शिल्प, मूर्ति आदि का पाषाण, धातु, काष्ठ, मृत्तिका इत्यादि, अथवा चित्र का पट आदि; उनके निर्माण में कल्पना को उतनी स्वतंत्रता नहीं मिलती जितनी काव्य-कला में; क्योंकि काव्य-कला का आधार कोई स्थूल पदार्थ न होकर केवल शाब्दिक संकेत है। ललित कलाओं में काव्य-कला के सर्वश्रेष्ठ स्थान माने जाने का यही कारण है।

ललित कलाओं से प्रेम रखनेवाले सभी सज्जन जानते हैं कि ललित कला-विशेषज्ञों में दो दल हैं। एक ललित कला का कार्य केवल मनोरंजन मानता है। उसका मत है कि, 'कला का उद्देश कला ही है' (Art for art's sake)। दूसरा दल कहता है—'कला का कार्य उपदेश देना है।' मुझे कला-विशेषज्ञों में पूर्वीय तथा पश्चिमीय, प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही प्रकार के विद्वानों के मत पढ़ने और सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जहाँ मुझे प्राचीन भारतीय विद्वान् मम्मटाचार्य, विश्वनाथ, क्षेमेन्द्र और पंडितराज जगन्नाथ आदि तथा प्राचीन यूनानी विद्वान् अफ़लातूँ (Plato) और अरस्तू (Aristotle) इत्यादि के कला-संबंधी विवेचनों के अध्ययन का अवसर आया है वहीं मुझे आधुनिक पश्चिमी विद्वान् जर्मनी के कैन्ट, शैलिंग, हीगल और शोपेनहर, फ़्राँस के वॉल्टेयर, बफ़ीयर और

टेन तथा इँग्लेंड के हर्बर्ट स्पेन्सर, जॉन रास्किन और क्लाइव बैल आदि के मतों को पढ़ने का भी अवसर मिला है। इन विद्वानों के मतों के अध्ययन और मनन के पश्चात् मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि कला के संबंध में यह विवाद ही निरर्थक है। जो लोग कला को उपदेश देने का एक साधन मात्र मानते हैं अथवा जो कुछ भी ऊट-पटाँग लिखकर कला का उद्देश कला ही है यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वे दोनों ही, कला के साथ अन्याय करते हैं। कला धर्म नहीं है कि जिसके द्वारा पद-पद पर उपदेश दिया जावे और न वह ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य का केवल मनोरंजन हो, क्योंकि केवल मनोरंजन तो ऐसा मनोरंजन भी हो सकता है जिसका परिणाम दुःख-प्रद हो। फ़्राँस के जगविख्यात साहित्यिज्ञ रोमा रोलाँ ने अपने सर्व-श्रेष्ठ उपन्यास 'ज्याँक्रिस्टोफ़ीन' में एक स्थान पर लिखा है—

"कला के लिए कला! क्या ही अच्छा धर्म है। परन्तु यह धर्म तो बलवानों का है। कला! जीवन को वैसे ही जकड़ कर पकड़ना जैसे गरुड़ अपने शिकार को पकड़ता है, उसे लेकर ऊपर उठना, गगन-मण्डल की अखण्ड शान्ति में उसे लेकर उड़ जाना। इसके लिए तुम्हें सुदृढ़ पंजों, महान् पंखों और बलशाली हृदय की आवश्यकता है। परन्तु, तुम हो क्या? तुम हो मकानों में फुदकनेवाली मामूली चिड़िया, जिसे ज्योंही मांस का नन्हाँ-सा टुकड़ा मिल जाता है त्योंही उस पर इधर-उधर चोंच मारकर, अपनी-सी दूसरी चिड़ियों से लड़ते हुए चेंचें करती है। कला के लिए कला! रे तुच्छ मनुष्य! कला वह मार्ग नहीं है जिस पर अपने को पथिक समझनेवाले सभी चल सकें। इस पर कहा जायगा कि क्यों नहीं, जब कि कला में मजा है, जब कि उसमें सबसे अधिक मस्ती है। परन्तु याद रक्खो, यह वह आनन्द है जो लगातार कड़े से कड़ा युद्ध करने पर ही मिलता है—यह वह विजय-माला है जिसके पहनने का सौभाग्य बलशाली के हृदय को ही प्राप्त होता है। कला का अर्थ है—नियंत्रित, संयमित, मर्या-

दित जीवन। कला जीवन का सम्राट् है। सीज़र के समान सम्राट् होने के लिए सीज़र की-सी बलवती आत्मा चाहिए। परन्तु तुम सम्राट् होना तो दूर रहा, साधारण राजाओं की छायामात्र हो। तुम साधारण अभिनेता हो, परन्तु इतने कुशल अभिनेता भी नहीं कि अपने अभिनय में अपने को भी भूल सको। जिस प्रकार ये अभिनेता अपनी शारीरिक त्रुटियों तथा दोषों के द्वारा पैसा पैदा करते हैं उसी प्रकार तुम भी अपनी मानसिक तथा आत्मिक त्रुटियों से लाभ उठाते हो। तुम अपनी तथा जनता की कुरूपता का उपयोग कर साहित्य गढ़ते हो। तुम जान-बूझकर तत्परता से अपने देशवासियों की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बीमारियों, उनकी कायर प्रयत्नहीनता, उनकी शारीरिक सुख की लिप्साओं, उनकी कामुक मनोवृत्तियों, उनकी काल्पनिक मनुष्य-हित-कामनाओं को बढ़ाकर अपना स्वार्थ साधते हो। तुम उन सभी प्रवृत्तियों को, जो इच्छा-शक्ति को कमजोर करती हैं, जो कर्मण्यता को खोखला करती हैं, उत्तेजना देते हो। तुम अपने उपदेशों से अपने राष्ट्र के मन को मुर्दा करते हो। तुम्हारे साहित्य के, तुम्हारे उपदेश के मूल में ही मृत्यु है। तुम जानते हो, परन्तु तुम स्वीकार न करोगे। परन्तु, मैं तुमसे कहूँगा कि जहाँ मृत्यु है, वहाँ कला नहीं है। कला तो जीवन का स्रोत है। परन्तु, तुम्हारे सब से अधिक ईमानदार समझे जानेवाले लेखक तक इतने कायर हैं कि उनकी आँखों की पट्टी खुल जाने पर भी वे न देख सकने का बहाना करते हैं। वे धृष्ठतापूर्वक कहते हैं—'हाँ, कला के लिए कला का सिद्धान्त ख़तरनाक है, जहरीला है, परन्तु उसमें बुद्धि है, प्रतिभा है।' वाह! कितना विचित्र तर्क है—मानों किसी गुण्डे को सजा सुनाते हुए न्यायाधीश कहे कि—'यह पापी अवश्य है, परन्तु इसमें बड़ी बुद्धि है, बड़ी प्रतिभा है'।"

रोमा रोलाँ महोदय के मतानुसार कला के निर्माण में कलाकार को कितना ऊँचा उठना होगा यह लिखने की आवश्यकता नहीं है, तथा इस प्रकार की कला प्रत्यक्ष में उपदेश न देते हुए भी अपने प्रेक्षकों अथवा श्रवण-

कर्ताओं को किस ओर और कितना ऊँचा उठाकर ले जायगी यह भी लिखना निरर्थक है।

इस प्रथम और प्रधान कसौटी पर कसे जाने के पश्चात् कलाजन्य वस्तुओं में कौन महान् है, इसे तौलने के लिए हमें अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। कोई कहेगा कि जिस वस्तु में अत्यधिक मौलिकता हो वही महान् समझी जानी चाहिए, कोई यह भी कह सकता है कि जिसके द्वारा सबसे अधिक मनोरंजन हो वही श्रेष्ठ है और कोई यह भी विचार सकता है कि जिससे सबसे अधिक शिक्षा मिले वही सबसे अच्छी कला है। इस संबंध में इँग्लेंड के जग-विख्यात तत्ववेत्ता जॉन रास्किन ने अपने 'माडर्न पेन्टर्स' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में एक स्थान पर कलाजन्य उत्तम वस्तु की जो व्याख्या की है वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"अब मैं उत्तम कलाजन्य वस्तु की व्याख्या इतने व्यापक रूप से करना चाहता हूँ कि उसके अन्तर्गत उसके समस्त विभाग और उद्देश आ जावें। इसीलिए मैं यह नहीं कहता कि वही कलाजन्य वस्तु सर्वोत्तम है जो सबसे अधिक आनंद देवे, क्योंकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित् शिक्षा देना हो और आनंद देना न हो। मैं यह भी नहीं कहता कि कलाजन्य वही वस्तु सर्वश्रेष्ठ है जो सबसे अधिक शिक्षा देवे, क्योंकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित् आनंद देना ही हो और शिक्षा देना न हो। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि कलाजन्य वही वस्तु सबसे अच्छी है जिसमें सबसे अधिक अनुकरण किया गया हो, क्योंकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश नवीनता का निर्माण करना हो और अनुकरण करना न हो। और मैं यह भी न कहूँगा कि कलाजन्य वही वस्तु सर्वोत्कृष्ट है जिसमें सबसे अधिक नवीनता हो, क्योंकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश अनुकरण करना हो और नवीनता का निर्माण नहीं। मैं तो उस वस्तु को कला की सबसे महान् वस्तु मानता हूँ जो किसी भी मार्ग-द्वारा हृदय में सबसे अधिक और सबसे महान् विचारों को उत्पन्न कर सके।"

इस प्रकार की कला का निर्माण करनेवाला कलाकार अपनी वस्तु के निर्माण करने के पूर्व उसकी कोई निश्चित योजना बनाता है अथवा बिना योजना बनाये ही निर्माण का कार्य आरंभ कर देता है, अथवा योजना बनाने के पश्चात् जैसे-जैसे उसका कार्य आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उस योजना में परिवर्तन होता जाता है। इस संबंध में एक ही बात नहीं कही जा सकती। हमें तीनों प्रकार के कलाकार मिलते हैं, परन्तु बहुधा तीसरे प्रकार के कलाकारों की कृतियाँ ही सर्वश्रेष्ठ होती हैं। बात यह है कि ये कलाकार अपनी वस्तु की पहले से योजना बना लेने पर भी, निर्माण के समय अपने कार्य में इस प्रकार तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें अपने और अपने कार्य के बीच में भिन्नता का भास ही नहीं होता। उनका कार्य उन्हें अपनी बनायी हुई योजना के भीतर बद्ध नहीं रहने देता और उनका कार्य जिस ओर उन्हें ले जाना चाहता है, उस ओर, बिना जाने, मंत्र-मुग्ध की भाँति वे खिंचे हुए चले जाते हैं। फिर भी इतनी बात तो माननी ही होगी कि किसी भी कला-जन्य महान् वस्तु के निर्माण में यदि पूरी योजना न हो तो भी उसके प्रधान उद्देश का निश्चय तो पहले से ही हो जाता है। इस संबंध में रूस के एक प्रसिद्ध नाटककार और कहानी लेखक शिकाव ने लिखा है—

"प्रत्येक कलाजन्य रचना का कोई एक उद्देश अवश्य होना चाहिए और उसे अपने समक्ष रखकर रचना करनी चाहिए। पर, ऐसा न करके, यदि तुम बिना किसी उद्देश को अपने दृष्टिकोण में रखकर, कला के पथ पर अग्रसर होगे तो तुम न केवल अपना व्यक्तित्व, वरन् अपना विशेषत्व भी नष्ट कर दोगे।"

यहाँ अब यह प्रश्न उठता है कि इस उद्देश की महानता का निर्णय किस कसौटी से किया जाय; जब कि अब तक यही निश्चय नहीं हो सका कि मनुष्य-जीवन का क्या उद्देश है तथा मनुष्य का व्यक्तिगत अथवा सामूहिक जीवन किस ओर और किस प्रकार जा रहा है, तब कलाजन्य वस्तु के उद्देश की महानता का निर्णय कैसे हो ? यदि एक काल के तत्ववेत्ताओं ने मनुष्य-

जीवन के सर्वोत्कृष्ट उद्देश के संबंध में एक बात कही है तो दूसरे काल के तत्ववेत्ताओं ने उसके ठीक विपरीत। किसी समय यदि मनुष्य-जीवन का सर्वप्रधान ध्येय ईश्वर-प्राप्ति रहा है तो किसी समय ईश्वर के अस्तित्व पर ही सबसे अधिक कुठाराघात हुआ है। किसी काल में यदि समाज के सामूहिक जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न मनुष्य-जीवन का सर्वश्रेष्ट लक्ष माना गया है तो किसी काल में व्यक्तिगत जीवन की उन्नति ही सबसे प्रधान बात। जिस समय में, जिस प्रकार के विचार की प्रधानता रही है उस समय के कलाकारों की कृति भी उसी विचार के अनुरूप निर्मित हुई है। बात यह है कि जिस काल में मनुष्य उत्पन्न होता है, जिस वायुमण्डल में उसका लालन-पालन और शिक्षण होता है, उसका मस्तिष्क और हृदय उसी काल एवं उसी वायुमण्डल के अनुसार बन जाता है तथा उसकी छाप उसकी कृतियों में रहती है; यहाँ तक कि यदि उससे वह बचना चाहे तो भी बच नहीं सकता। इसीलिए कला को मनुष्य-समाज का चित्र भी कहा जाता है और प्रत्येक कलाकार की कृति में हमें उसके समय के समाज का किसी न किसी प्रकार का चित्र अवश्य ही देखने को मिलता है।

इस प्रकार यद्यपि मनुष्य-जीवन और कला के सर्वोत्कृष्ट उद्देश के संबंध में एक ही बात कहा जाना संभव नहीं है तथापि प्रत्येक कलाकार को अपने मतानुसार मनुष्य-जीवन और उसके साथ ही, अपनी कृति का कोई न कोई उद्देश निश्चित तो करना ही पड़ता है।

संसार में अब तक किये गये समस्त अनुसन्धानों में मेरी दृष्टि से देश, काल और पात्र के परे सबसे बड़ा अनुसन्धान वेदान्त के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' महावाक्य में भरा हुआ है। 'सभी ब्रह्म है' इससे बड़े सत्य का मनुष्य अब तक पता नहीं लगा पाया है। समस्त सृष्टि एक ही तत्व है, यह वैज्ञानिकों की भी सबसे बड़ी खोज है। इसका अनुभव करना ही मैं मनुष्य का सबसे बड़ा ज्ञान मानता हूँ। जब तक यह पंचभूतमय शरीर है तब तक

मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। इस अनुभव के पश्चात् मनुष्य वैसे ही कर्म करेगा जो सबके लिए हितकारी हों, क्योंकि समस्त सृष्टि में एकता का अनुभव होने के पश्चात् अपना-पराया यह भेद-भाव उसके लिए रह ही नहीं जायगा एवं जिस प्रकार अपनी भलाई में दत्तचित्त रहना मनुष्य का स्वभाव है उसी प्रकार समस्त सृष्टि की भलाई में दत्तचित्त रहना उसका स्वभाव हो जायगा। और, आगे बढ़कर यह कर्म जब वह निष्काम होकर करेगा तब उसके लिए दुःख भी न रहेगा और वह सदा आनन्द का उपभोग करता रहेगा। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ज्ञान का अनुभव, इस अनुभव के अनुरूप समस्त के उपकार में दत्तचित्त रहनेवाला कर्म और इस कर्म को निष्काम कर, आनंद का उपभोग ही मैं मनुष्य-जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश मानता हूँ; तथा जो ललित कला मनुष्य को अपने सौंदर्य-द्वारा उसके हृदय में भावों और रसों का प्रादुर्भाव कर उसे आनंद देते हुए इस आदर्श को प्राप्त करने में सहायता पहुँचाती है उसीको सर्व-श्रेष्ठ ललित कला।

इस प्रकार की ललित कला की नींव 'आदर्शवाद' (Idealism) ही रहेगा, परन्तु आदर्शवाद की नींव पर स्थित रहते हुए भी इस कला का बाह्य स्वरूप 'यथार्थवादी' (Realistic) होना आवश्यक है। बात यह है कि आदर्शवाद जब तक यथार्थवाद से ढँका हुआ न हो तब तक वह मनुष्य की पहुँच की वस्तु नहीं रहता और अस्वाभाविक हो जाता है। इस प्रकार के आदर्शवाद से ऊब उठने के कारण ही पश्चिम ने यथार्थवाद की शरण ली। इँग्लेण्ड और फ़्राँस के जगप्रसिद्ध नाटक-कार शेक्सपियर और मोलियर के समय से वहाँ की रचनाओं का यथार्थवादी होना आरंभ हुआ और इँग्लेण्ड के प्रसिद्ध उपन्यासकार डिकिन्स और थैकरे के समय यह यथार्थवाद पराकाष्ठा को पहुँच गया। परन्तु, जिस प्रकार यथार्थवाद से ढँके रहने के बिना, आदर्शवाद मनुष्य की पहुँच के परे की वस्तु होकर अस्वाभाविक हो जाता है, उसी प्रकार आदर्शवाद

की नींव के बिना यथार्थवाद भी पोचा रहता है। नारवे के जगप्रसिद्ध नाटककार इब्सन ने इस यथार्थवादी शैली में परिवर्तन कर 'स्वाभाविक-वाद' (Naturalism) को जन्म दिया, जिसके भीतर यद्यपि आदर्शवाद लहरें लेता रहता है परन्तु उसका बाह्य स्वरूप यथार्थवादी रहता है। इब्सन के पश्चात् पश्चिम के प्रायः सभी प्रसिद्ध लेखक इसी प्रणाली पर चले हैं। स्वीडन के स्ट्रेन्डबर्ग, रूस के टॉलसटाय, फ़्रॉन्स के रोमा रोलाँ, जर्मनी के टामसमैन और इँग्लेण्ड के वर्नार्ड शा आदि सभी इसी प्रणाली के लेखक रहे हैं और हैं।

नाटक

ललित कलाओं में जिस प्रकार काव्य-कला का सर्वोच्च स्थान है उसी प्रकार काव्य-कला में दृश्य-काव्य का। श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य के श्रेष्ठ होने का यह कारण तो है ही कि जहाँ श्रव्य-काव्य केवल कानों द्वारा आनंद देता है वहाँ दृश्य-काव्य कानों और आँखों दोनों मार्गों द्वारा; परन्तु इसीके साथ दृश्य-काव्य का स्थान ऊँचा होने का यह कारण भी है कि उसमें पाँचों ललित कलाओं का इकट्ठा समावेश रहता है। नाटक में जो दृश्य दिखाये जाते हैं उनसे शिल्प, मूर्ति और चित्र-कला के देखने का आनन्द मिलता है, एवं नृत्य, गायन और कथोपकथन से संगीत और काव्य का।

भारतवर्ष में नाट्यशास्त्र पर सबसे पहला ग्रन्थ भरत मुनि का मिलता है। यद्यपि पाणिनि के व्याकरण में नाट्य-शास्त्र के शिलालिन्द और कृशांश्व दो आचार्यों के नाम मिलते हैं, परन्तु उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। भरत मुनि के ग्रन्थ में इस कला का विवेचन इतनी बारीकी से किया गया है कि इसके पूर्व इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये होंगे इसका सहज में अनुमान हो सकता है।

नाटक में अभिनय करनेवाला किसी अन्य व्यक्ति का रूप धारण कर, उसके अनुसार आचरण करता है इसलिए भरत मुनि ने नाटक का उपयुक्त

नाम 'रूपक' रख उसके दो विभाग 'रूपक' और 'उपरूपक' कर, रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद किये हैं और नाटक के तीन प्रधान अंग कहे हैं—वस्तु (कथा), नेता (नाटक का नायक) और रस।

भरत मुनि ने इन तीनों अंगों का बड़ा विशद वर्णन और विश्लेषण किया है। उनके कथन का संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है।

वस्तु के दो प्रकार हैं—'मुख्य' और 'प्रासंगिक'। 'बीज' और 'कार्य' वस्तु की दो सीमाएँ हैं। बीज कथा का आरंभ है और कार्य परिणाम। आरंभ और परिणाम के बीच में संघर्ष की तीन अवस्थाएँ हैं—'विन्दु', 'पताका' और 'प्रकरी।' विन्दु में बीज का अंकुर दिखायी देता है और विन्दु नाटक को क्रमवद्ध रखने के लिए अन्त तक विद्यमान रहता है; पताका और प्रकरी मुख्य कथा के अन्तर्गत बड़ी और छोटी कथाएँ हैं। वस्तु के ये विभाग 'अर्थ-प्रकृति' कहे जाते हैं। इसी प्रकार वस्तु की नाटकीय गति के पाँच विभाग हैं—'आरंभ', 'प्रयत्न', 'प्राप्त्याशा', 'नियताप्ति' और 'फला-गम'। जहाँ एक विभाग की समाप्ति और दूसरे विभाग का आरंभ होता है उस स्थल को 'सन्धि' कहा है। सन्धि पाँच हैं—'मुख', 'प्रतिमुख', 'गर्भ' 'अवमर्श' और 'उपसंहृति' या 'निर्वहण'। मुख-सन्धि के १२ अंग; प्रतिमुख, गर्भ अवमर्श के १३ अंग तथा उपसंहृति अथवा निर्वहण सन्धि के १४ अंग माने गये हैं। इनका प्रयोग छः निमित्तों से किया जाता है—'इष्टार्थ, गोप्य-गोपनार्थ, प्रकाशनार्थ, रागार्थ, आश्चर्यार्थ और वृत्तान्तार्थ।' समस्त वस्तु के दो विभाग हैं; (१) जो बातें अभिनय के समय रंगमंच पर दिखाना चाहिए और (२) जिन बातों की सूचनामात्र कर देनी चाहिए।

नेता के संबंध में भरत मुनि का कथन है कि नेता 'धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीर-ललित और धीर-प्रशान्त', इन चारों में से किसी एक प्रकार का होना चाहिए।

फिर 'वृत्तियों' अर्थात् कार्य करने के ढंग का वर्णन किया गया है।

ये वृत्तियाँ चार प्रकार की मानी गयी हैं---'भारती', 'कौशिकी', 'सात्वती' और 'आरभटी'। प्रत्येक वृत्ति के चार अंग हैं और उन अंगों के अनेक उपांग। यह सारा कार्य नाटक के पात्र 'आंगिक' अर्थात् अभिनय, 'वाचिक' अर्थात् कथोपकथन, 'आहार्य' अर्थात् वेश-भूषा और 'सात्विक' अर्थात् हास्य, रुदन आदि द्वारा करते हैं। कथोपकथन तीन प्रकार से होता है— 'श्राव्य', (जो सब सुन सकते हैं), 'अश्राव्य' (स्वगत्, अँगरेज़ी में इसे सॉलीलॉकी' कहते हैं) और 'नियत श्राव्य' (जिसे कुछ पात्र सुन सकते हैं और कुछ नहीं; अँगरेज़ी में जिसे 'एसाइड' कहते हैं)। नियत श्राव्य के दो भेद हैं—पहला 'अपवारित' और दूसरा 'जनांतिक'। अपवारित छिपी हुई बात का नाम है और जनांतिक दो पात्रों का गुप्त संभाषण।

इसके पश्चात् रसों का वर्णन है। सभी जानते हैं कि भारतीय साहित्यिज्ञों ने ९ रस माने हैं जिनकी उत्पत्ति उनके ९ स्थायी भाव, ३३ संचारी या व्यभिचारी भाव एवं विभाव और अनुभाव के मिश्रण से होती है। काव्य के इस रसास्वादन का आनंद भरत मुनि ने ब्रह्मानंद का सहोदर माना है।

ऊपर मैंने भरत मुनि के नाटक लिखने की पद्धति (technique) का संकेतमात्र किया है। यथार्थ में उनके मतों का विवेचन एक दो पृष्ठों में करने का प्रयत्न हास्यास्पद है। नाटककारों को भरत मुनि के ग्रन्थ का मनन आज भी आवश्यक है। परन्तु मैं एक बात और भी कह देना आवश्यक समझता हूँ कि समय में महान् परिवर्तन हो जाने के कारण यदि आज कोई नाटककार केवल इस प्राचीन भारतीय पद्धति का आश्रय लेकर नाटक रचना करेगा तो वह सफल नहीं हो सकता। इस संबंध में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। बाबू साहब अपने एक निबन्ध में लिखते हैं—

"नाट्य-कला-कौशल दिखाने को देश-काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्व काल में लोकातीत असंभव

कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती। अब नाटकादि दृश्य-काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है। इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इसमें अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशी' प्रभृति नाट्या-लंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोचन', कहीं 'संफेट', कहीं 'पंच संधि' आदि ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करना, या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।"

मैं भारतेन्दुजी से बहुत दूर तक सहमत हूँ, फिर भी मैं इतना अवश्य मानता हूँ कि प्राचीन पद्धति के मनन से आधुनिक काल में भी श्रेष्ठ नाटक के प्रणयन में बहुत सहायता मिलती है।

नाट्य-कला पर पश्चिम का सर्व प्रथम ग्रन्थ यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का लिखा मिलता है। इस ग्रन्थ का नाम 'पोइटिक्स' (Poetics) है। भरत मुनि के काल के संबंध में हम केवल अन्दाज़ लगाते हैं, और विद्वानों का कथन है कि नाट्य-शास्त्र पर भरत मुनि का ग्रन्थ संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ है। परन्तु, विद्वानों ने अरस्तू का काल निश्चित किया है। उनका जन्म ईसा के ३८४ वर्ष पूर्व हुआ और मृत्यु ईसा के ३२२ वर्ष पूर्व। विद्वानों का मत है कि अरस्तू ने इस ग्रन्थ को ईसा के ३३० वर्ष पहले लिखा था। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस प्रकार भरत मुनि ने वस्तु, नेता और रस को प्रधानता दी है उसी प्रकार अरस्तू ने भी 'प्लॉट' (वस्तु), 'हीरो' (नेता) और 'इमोशन' (रस) इन्हीं तीन बातों को प्रधान माना है। अरस्तू ने नाटकों को दो विभागों में बाँटा है—'ट्रेजिडी' और 'कॉमेडी'। आजकल ट्रेजिडी का अर्थ दुःखान्त और कॉमेडी का अर्थ सुखान्त किया जाता है। किन्तु प्राचीन यूनान में इनका इतना ही अर्थ न

था। प्राचीन भारतीय नाट्य-कला में दुःखान्त नाटकों को अवश्य स्थान न था, किन्तु यूनानी ट्रेजिडी में जिस इमोशन या रस का प्रादुर्भाव होता है वह प्राचीन भारतीय नाट्य-कला में भी पूर्ण रूप से विद्यमान है। फिर भी इतना मानना ही होगा कि यूनानी ट्रेजिडी में जिस प्रकार नाटक का अन्त दुःख में होता है उसका प्राचीन भारतीय नाट्य-कला में निषेध किया गया है।

प्लॉट (कथा) के संबंध में अरस्तू ने लिखा है—

"नाटक मनुष्य का नहीं, किन्तु उसके जीवन की कृति का अनुकरण है। जीवन कृतिमय है। जीवन का अन्तिम ध्येय उसकी विशेष प्रकार की कृति है, न कि उसका गुण। मानव-चरित्र उसके गुणों से बनता है, परन्तु मनुष्य का सुख-दुःख उसकी कृति पर निर्भर है। अतः नाटक, चरित्र का अनुकरण करने के लिए कृति का अनुकरण नहीं करता, परन्तु कृति के अनुकरण के अन्तर्गत चरित्र का अनुकरण आ जाता है। इस प्रकार नाटक का अन्तिम ध्येय कृति एवं कथानक है और अन्तिम ध्येय यही महत्व की बात है।"

हीरो (नेता) के संबंध में अरस्तू ने लिखा है—

"वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो अत्यन्त नामांकित तथा समृद्धिशाली हो।"

भरत मुनि का नेता अरस्तू के नेता से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

अरस्तू ने भी नाटक का कार्य इमोशन (रस) का प्रादुर्भाव माना है। यह उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट हो जाता है।—

"ट्रेजिडी से 'emotion of pity and terror' **अर्थात् करुण और भयानक-रस तथा कॉमेडी से** 'emotion of laughter' **अर्थात् हास्य-रस की उत्पत्ति होनी चाहिए।"**

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाट्य-कला के आरंभिक काल में पूर्व के प्रधान सभ्य देश भारत और पश्चिम के प्रधान सभ्य देश यूनान के विद्वानों-

द्वारा निर्धारित व्यापक तत्वों में विशेष मत-भेद नहीं है। परन्तु, भारतेन्दुजी के कथनानुसार जिस प्रकार प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार वर्तमान काल में सफल नाटकों की रचना नहीं हो सकती उसी प्रकार प्राचीन यूनानी पद्धति से भी वर्तमान काल के नाटक नहीं लिखे जा सकते। हाँ, नाटककारों के लिए भारतीय पद्धति के सदृश ही यूनानी पद्धति का ज्ञान भी आवश्यक अवश्य है।

भरत मुनि और अरस्तू के पश्चात् दोनों दिशाओं में नियमबद्धता का काल उपस्थित हुआ। भरत मुनि के पश्चात् भारतीय विद्वानों ने यहाँ की नाट्य-कला को छोटे-छोटे नियमों से बाँधा और रोम के होरेस (Horace) नामक विद्वान् ने अपने ग्रन्थ 'दी एपीसल टु दि पिसास' (The Epistle to the Pioses) द्वारा पश्चिमी नाट्य-कला को कड़े नियमों से जकड़ा। इसका यह फल हुआ कि अनेक शताब्दियों तक दोनों दिशाओं में, मशीन-द्वारा बनायी हुई वस्तुओं के समान, एक सदृश नाटकों की रचना होती रही।

ईसा के पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी में पश्चिम में, शेक्सपियर और मोलियर ने इस नियमबद्धता को तोड़ा और इन दोनों महान् नाटककारों के पश्चात् नाट्य-कला पर इँगलेण्ड में ड्रायडन ने जो महान् ग्रन्थ 'एसे ऑफ़ दी ड्रेमेटिक पोयसी' (Essay of the Dramatic Poesie) लिखा, उससे पश्चिम की इस नियमबद्धता का अन्त हुआ। यह ग्रन्थ प्रत्येक नाटककार के अध्ययन की वस्तु है। भारत में आधुनिक काल में ड्रायडन के ग्रन्थ के सदृश किसी ग्रन्थ का निर्माण नहीं हुआ, परन्तु आधुनिक नाटककारों ने भी प्राचीन नियमों की अवहेलना कर शेक्सपियर और मोलियर का अनुसरण अवश्य किया है।

नारवे के जगप्रसिद्ध नाटककार इब्सन के पश्चात् पश्चिम में नाटक लिखने की पद्धति में पुनः परिवर्तन हुआ। इब्सन ने जिस पद्धति से अपने नाटक लिखे उसी पद्धति का स्वीडिन के स्ट्रेण्डबर्ग, फ़ाँस के ब्रूइक्स, जर्मनी

के हाप्टमेन, रूस के शिकाव, अमेरिका के नील, आयरलेण्ड के सिन्जे और इँग्लेण्ड के बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी, बैरी आदि ने अनुसरण किया है और मेरे मत से भारतीय परिस्थिति के अनुसार उचित परिवर्तन कर उसी पद्धति का अनुसरण भारतवर्ष में भी आवश्यक है। कतिपय लेखकों ने यह अनुसरण अब आरंभ भी कर दिया है।

पूर्वीय तथा पश्चिमीय, प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों के मतों का संमिश्रण कर यदि हम उसका निचोड़ निकालें तो मेरे मतानुसार, उत्तम और सफल नाटक में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

नाटक में सर्वप्रथम किसी 'विचार' (Idea) की आवश्यकता है। विचार का अर्थ यहाँ साधारण विचार न होकर जीवन की कोई समस्या है। विचार की उत्पत्ति के पश्चात् उस विचार के विकास के लिए 'संघर्ष' (Conflict) अनिवार्य है। संघर्ष बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार का आवश्यक है। बाह्य संघर्ष किसी एक व्यक्ति के साथ दूसरे व्यक्ति का अथवा किसी एक व्यक्ति के साथ समाज या राष्ट्र का अथवा पुरुषवर्ग के साथ स्त्रीवर्ग का हो सकता है। आन्तरिक संघर्ष एक ही व्यक्ति के हृदय का संघर्ष है। इसे बाह्य संघर्ष से अधिक महत्व है। यह संघर्ष एक भाव के साथ दूसरे भाव तक का होता है और प्रतिक्षण इसमें परिवर्तन होता है। नाटक में, यहीं, मनोविज्ञान को अपना कार्य करने का अवसर मिलता है। इस विचार और संघर्ष की संबद्धता और मनोरंजकता के लिए 'कथा' (Plot) की सृष्टि होती है। कथा बिना पात्रों के नहीं हो सकती, अतः पात्रों का प्रादुर्भाव तथा उनका चरित्र-चित्रण होता है और चूँकि नाटक की कथा लेखक-द्वारा नहीं कही जा सकती इसलिए पात्रों की कृति और कथोपकथन ही उस कथा के कथन के साधन हैं।

जिस नाटक में जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित एवं मनोरंजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण

होगा और जितनी स्वाभाविक कृति एवं कथोपकथन होंगे, वह उतना ही उत्तम तथा सफल होगा।

इस उत्तमता और सफलता के लिए इन सब अंगों की एक दूसरे के संग में इस प्रकार की संबद्धता आवश्यक है जिससे सारे नाटक पर 'एकता' (universality) के वायुमण्डल की स्थापना हो सके।

पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं के प्राचीन विद्वानों ने इस एकता की स्थापना के लिए अनेक उपाय निकाले थे, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) नेता की प्रधानता।

(२) दैवी पात्रों का समावेश, चाहे वे देवता हों, या भूत-प्रेत।

(३) उपकथा 'पताका' या 'प्रकरी' का संमिश्रण।

(४) प्राकृतिक वर्णन का आश्रय।

प्राचीन काल के सभी नाटक धार्मिक या ऐतिहासिक विषयों पर लिखे जाते थे। उनका नेता या तो कोई अवतारी पुरुष या राजा होता था। उसका व्यक्तित्व नाटक के अन्य पात्रों से इतना ऊँचा रहता था कि उसके कारण समस्त नाटक पर एकता की स्थापना में बहुत अधिक सहायता मिलती थी। अर्वाचीन काल में धार्मिक तथा ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा सामाजिक नाटक अधिक लिखे जाते हैं। धार्मिक और ऐतिहासिक नाटकों में नेता की अत्यधिक प्रधानता रह सकती है, परन्तु सामाजिक नाटकों के सभी पात्र साधारण गृहस्थ होने के कारण तब तक नेता को प्रधानता नहीं मिल सकती जब तक वह किसी विशिष्ट सामाजिक दल का प्रतिनिधि न हो। बिना इसके सामाजिक नाटक में एकता का स्थापित करना बहुत ही कठिन हो जाता है, अतः इस ओर अत्यधिक ध्यान रखना आवश्यक है। प्राचीन काल का अवतारी पुरुष या राजा भी तो उस समय के समाज का प्रतिनिधि ही होता था। यही उसके महत्व का कारण था। उपर्युक्त उपाय से आधुनिक सामाजिक नाटकों के नेता में भी यह महत्व लाया जा सकता है।

दैवी पात्रों का समावेश, उन नाटकों को छोड़कर जिनमें स्वप्न दिखाया जाता है, अब अस्वाभाविक है; परन्तु इसके स्थान पर अब एक नवीन उपाय की सृष्टि हुई है। वह है नाटक के प्रधान विचार, पात्र अथवा घटना से नाटक के सर्वथा बाहर की किसी विशिष्ट वस्तु का सामंजस्य या सादृश्य; जिसे अँगरेज़ी में 'सिंबालिज़िम' (Symbolism) कहते हैं। इब्सन के 'वाइल्ड डक' और 'लेडी फ़्रॉम दि सी' नाटकों में यही किया गया है। इस सामंजस्य या सादृश्य से समस्त नाटक पर एकता की स्थापना में बहुत सहायता मिलती है।

उपकथा और प्राकृतिक वर्णन का इस वायुमण्डल की स्थापना के लिए अभी भी उपयोग किया जा सकता है।

जिस प्रकार सृष्टि में हर वस्तु का आरंभ, विकास और अन्त होता है उसी प्रकार नाटक का भी। नाटक किस स्थान पर आरंभ हो और विकास के पश्चात् उसका कहाँ अन्त हो इस पर बहुत अधिक ध्यान रखना आवश्यक है। उपन्यास या कहानी आदि के सदृश नाटक का आरंभ, विकास और अन्त नहीं हो सकता। इसके दो प्रधान कारण हैं—पहला यह कि उपन्यास या कहानी में लेखक पात्रों के कथोपकथन के अतिरिक्त अपनी ओर से भी बहुत कुछ कह सकता है; दूसरा यह कि पहले हो चुकी बातों का वर्णन उपन्यास या कहानी में पीछे से भी किया जा सकता है। नाटक में ये दोनों बातें सम्भव नहीं हैं। फिर नाटक प्रदर्शन की वस्तु है अतः उसमें क्षणमात्र की शिथिलता को भी स्थान नहीं मिल सकता। अतः संघर्ष से ही नाटक का आरंभ होना सर्वोत्तम है। विकास के अनन्तर अन्त या तो जिस स्थल पर विषय पूर्ण विकास (Climax) पर पहुँचे वहाँ होना चाहिए, या पूर्ण विकास के पश्चात् उपसंहार के लिए यदि कुछ कहना हो तो उपसंहार के अनन्तर। आजकल नाटकों का अन्त किस प्रकार होना है इस संबंध में बर्नार्ड शा का निम्नलिखित वक्तव्य पढ़ने योग्य है—

"सुख में या दुःख में नाटक के अन्त करने की प्रथा अब निरुपयोगी

हो गयी है। ज्यों ही नाटककार अचानक हो जानेवाली घटनाओं को छोड़ कर जीवन में नित्य होनेवाली घटनाओं के आधार पर रचना आरंभ करता है, त्यों ही वह 'अन्त रहित' नाटकों को लिखता है। नेता के विवाह या वध के दृश्य पर यवनिका का पतन नहीं होता; परिणाम समझने के लिए पर्याप्त चरित्र-प्रदर्शन होते ही यवनिका-पतन हो जाता है।"

परन्तु, ध्यान रहे, उपर्युक्त समस्त बातों के होते हुए भी यदि किसी नाटक में 'रस' या 'इमोशन' का प्रादुर्भाव न हो तो वह कला का कोई उत्तम नमूना नहीं कहा जा सकता। यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से युक्त स्थायी भाव के व्यंजित होने से होती है। नाटक पढ़ने और देखने दोनों की वस्तु है और चूँकि नाटक श्रवणेन्द्रिय और दृश्येन्द्रिय दोनों ही मार्गों से हृदय के भावों को उद्दीप्त करता है इसलिए श्रव्य-काव्य की अपेक्षा नाटक में रस का परिपाक कहीं अधिक सफलता से हो सकता है, किन्तु इस सफलता को प्राप्त करना सरल नहीं है। थोड़ी-सी असावधानता से ही नाटक में रस-भंग होने का भय रहता है। यही कारण है कि अनेक नाटक जो पढ़ने में अच्छे जान पड़ते हैं वे रंगमंच पर सफल नहीं होते और जो रंगमंच पर सफल होते हैं उनमें पढ़ते समय तो कोई विशेषता नहीं दिखती। रंगमंच पर घटनाएँ इतनी तीव्रता से घटित होती हैं कि मन को विचार करने का बहुत थोड़ा अवसर मिलता है और पढ़ते समय विचार की मात्रा अधिक रहती है। रंगमंच पर घटना-प्रधान या दूसरे शब्दों में 'वस्तु' या 'प्लॉट' प्रधान नाटक अधिक सफल होते हैं और पढ़ते समय भाव-प्रधान। भावों के समावेश के लिए घटना की गति को यदि कम किया जाता है तो प्रदर्शन में शिथिलता आती है और घटना की यदि तीव्र गति रखी जाती है तो भावों के समावेश को समय नहीं मिलता। इसीलिए बहुत थोड़े नाटक ऐसे पाये जाते हैं जो प्रदर्शन के समय जन-समुदाय को संतुष्ट करें और साथ ही उच्च भावों से भी भरे हों। भावों की उच्चता के बिना साहित्य की

कोई भी वस्तु स्थायी महत्व की नहीं हो सकती। दोनों बातों का उचित मिश्रण कुशल नाटककार ही कर सकता है।

उत्तम नाटक रचने के लिए कला और काव्य-कला की व्यापक बातों पर ध्यान रखने के अतिरिक्त यथार्थ में और कोई नियम उपयोगी नहीं हो सकते। जीवन-संबंधी समस्याओं का मनन, मनोविज्ञान का ज्ञान, संसार का अनुभव और लेखक की प्रतिभा ही नाटक-रचना के प्रधान साधन हैं। हाँ, एक बात के संबंध में नियम अवश्य उपयोगी है, वह है—स्वाभाविकता। नाटकों के प्रदर्शन के कारण उनमें अत्यधिक स्वाभाविकता नितान्त आवश्यक है। पश्चिम ने इस संबंध में महान् उन्नति की है। हमारे यहाँ के अनेक अच्छे नाटक इस पर ध्यान न दिये जाने के कारण सर्वथा भ्रष्ट हो गये हैं, अत; स्वाभाविकता के विषय में, मैं यहाँ कुछ विस्तार से लिखना आवश्यक समझता हूँ।

नाटकों की स्वाभाविकता

यह पहले लिखा जा चुका है कि स्वाभाविकवाद (Naturalism) का आरम्भ पश्चिम में नारवे के जगप्रसिद्ध नाटककार इब्सन से हुआ है। स्वाभाविकता लाने के लिए इब्सन ने अपने पीछे से लिखे हुए नाटकों में दो प्रधान बातें की हैं। पहली यह कि उन्होंने 'अश्राव्य' और 'नियत श्राव्य' दोनों प्रकार के स्वगत्-कथनों का, नाटकों से पूर्णतः बहिष्कार कर दिया; अर्थात् एक तो किसी पात्र का अकेले आकर रंगभूमि में बोलते रहना (Soliloquy) और दूसरा किसी पात्र के खड़े रहने पर एक पात्र का बोलते रहना (Aside), जिसे रंगभूमि में उपस्थित सारा जन-समुदाय तो सुन सकता है, पर उसके निकट खड़ा हुआ पात्र इतना बधिर मान लिया जाता है कि वह नहीं सुन सकता। स्वगत्-कथन से अधिक अस्वाभाविक बात नाटकों में और कोई नहीं हो सकती, जिसमें दूसरी प्रकार का स्वगत्-कथन (Aside) तो सर्वथा

अस्वाभाविक है। प्रथम प्रकार का स्वगत्-कथन साधारणतया स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि मनुष्य, हृदय में जो कुछ सोचता है, उसे सदा बड़बड़ाया नहीं करता; पर हाँ, कभी-कभी हृदय में भावों का अत्यधिक आवेग हो जाने पर, एक दो वाक्य मुख से निकल सकते हैं। इसी प्रकार असीम शोक में विलाप करते हुए, एक लम्बा स्वगत्-कथन हो सकता है, कोई पागल प्रलाप करता हुआ या मादक द्रव्य खाया हुआ व्यक्ति एक लम्बा स्वगत्-भाषण कर सकता है और भावों के बहुत अधिक प्रवाह में चित्र, मूर्ति आदि से भी स्वगत्-वार्तालाप सम्भव है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि ऐसे अवसरों पर स्वगत्-कथन न हो तो वह अस्वाभाविक बात होगी। स्वयं इब्सन तथा उसके अनुयायियों के नाटकों में भी हमें इस प्रकार के स्वगत्-कथन मिलते हैं। स्वगत्-कथन कहाँ स्वाभाविक होता है इसके अनेक दृष्टान्त पश्चिमी नाटकों में मिलते हैं। यहाँ मैं बर्नार्ड शा के नाटक 'प्रेस कटिंग' से एक उद्धरण देता हूँ। इस नाटक में जेनरल मिचरन जब अपने घर के नीचे की सड़क पर 'वोट फ़ॉर वीमेन', 'वोट फ़ॉर वीमेन' की चिल्लाहट सुनता है, तब चूँकि वह वर्तमान शासन-सुधारों के सर्वथा विरुद्ध है, क्रोध से अपनी बन्दूक उठा लेता है और अपने-आप कहता है—'वोट फ़ॉर वीमेन, वोट फ़ॉर वीमेन, वोट फ़ॉर वीमेन, वोट फ़ॉर चिल्ड्रेन, वोट फ़ॉर बेबीज़।' जेनरल के उस समय के इस स्वगत्-भाषण से स्वाभाविकता उल्टी बढ़ गयी है; पर इस प्रकार के स्थलों को छोड़कर पात्रों का रंगभूमि पर लम्बे-लम्बे स्वगत्-भाषण करना सर्वथा अस्वाभाविक है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि कालिदास, शेक्सपियर आदि सभी प्राचीन, पूर्वीय और पश्चिमी सफल नाटककारों के नाटकों में इस प्रकार के कथन हैं और इतने पर भी ये नाटक जैसे उच्चकोटि के हैं वैसे आजकल के नाटक नहीं लिखे जाते। परन्तु, संसार में कोई वस्तु पूर्णता को न पहुँची है न कभी पहुँच ही सकेगी। कालिदास और शेक्सपियर

के पश्चात् नाट्य-कला का और भी विकास हुआ है। यदि उनके समान नाटकों की अब सृष्टि नहीं होती तो इसका कारण यह है कि वैसे प्रतिभाशाली नाटककारों का इस समय जन्म नहीं हुआ। स्वगत्-कथन यदि उनके नाटकों में न होता तो इसमें सन्देह नहीं कि नाट्य-कला की दृष्टि से वे नाटक और भी अच्छे होते। स्वगत्-भाषणों को हटाने के लिए पश्चिम के नाटककारों ने कई उपाय निकाले हैं। नाटकों में वे कुछ ऐसे पात्र जोड़ देते हैं जिनका काम केवल मुख्य पात्रों से बातचीत करना ही होता है। टेलीफ़ोन द्वारा बातचीत से भी स्वगत्-कथन का कार्य चल जाता है और किसी-किसी नाटक में अपने पालतू कुत्ते, बिल्ली, बन्दर या पक्षियों के सामने कुछ पात्र अपने मन की बातें कह डालते हैं। स्वगत्-कथन का काम इनमें से किसी भी साधन का सावधानतापूर्वक उपयोग करने से चल सकता है।

नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए जो दूसरी बात इब्सन ने की है वह है नाटकों से पद्य, कविता और नृत्य का बहिष्कार। पश्चिम के सभी आधुनिक नाटककारों ने भी इब्सन का अनुसरण किया है। हमारे यहाँ नाटकों में पद्य, कविताओं और नृत्य की भरमार रहती है, यहाँ तक कि पात्र गद्य में बोलता-बोलता उसी विषय को कविता में बोलने लगता है। गानों की तो इतनी भरमार रहती है कि युद्ध में जानेवाला वीर खड्ग निकालकर उसे घुमाता हुआ गाता है; कोई बीमार मर रहा है, तो उसके सिरहाने गाना होता है; कोई मर जाता है तो उसके शव पर गाया जाता है; यहाँ तक कि मरनेवाला पात्र स्वयं गाता-गाता मरता है। हमारे यहाँ के नाटक का एक पात्र गाता हो तो कहा जाय, राजा, रानी, राजकुमार, राजकुमारी, मंत्री, सेनापति, विदूषक और साधारण नागरिक सभी गाते हैं और सब अवसरों पर। यह नाटकों में बन्द करना चाहिए। पर, योरुप के नाटककारों के सदृश गायन, नृत्य और कविता का नाटक से सर्वथा बहिष्कार करने की भी मेरे मत से आवश्यकता नहीं है। संसार

में गाने से कई व्यक्तियों को प्रेम होता है, अतः नाटक के भी कुछ पात्र गा सकते हैं। गायन अधिकतर प्राकृतिक सौन्दर्य आदि ऐसे विषयों पर हों जिससे यह भावना उठे कि पात्र गद्य में बोलते-बोलते तत्काल उन्हीं भावों का पद्य बनाकर गाने लगा है। साथ ही, ऐसे पात्र ऐसे अवसरों पर गावें जो स्वाभाविक जान पड़ें। हाँ, कोई कवि पात्र जिस विषय पर कथोपकथन करता है उसी विषय पर तत्काल गा भी सकता है, परन्तु सब पात्र नहीं। अकेला पात्र भी रंगभूमि में गा सकता है, क्योंकि अकेले में प्रायः मनुष्य गाने लगता है। कविता भी उद्धरण आदि के स्वरूप में बोली जा सकती है और नृत्य भी सभाओं, प्रीति-भोज आदि के अवसरों पर हो सकता है। बिना गायन, कविता या नृत्य के गद्य नाटक भी हो सकते हैं। जहाँ यह आवश्यक नहीं है कि गायन, कविता और नृत्य का नाटक से पूर्ण बहिष्कार किया जाय वहाँ यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक नाटक में गायन, कविता और नृत्य रखे ही जावें। उर्दू नाटकों में एक बात और होती है जो कुछ हिन्दी-नाटककारों ने भी अपनायी है। कुछ पात्र इस प्रकार की भाषा में बोलते हैं जिसके अन्तिम शब्द तुक के रूप में मिल जाते हैं, अर्थात् गद्य में ही एक प्रकार की तुकबन्दी हो जाती है। यह अस्वाभाविकता की पराकाष्ठा है; क्योंकि बातचीत में कभी ऐसा नहीं होता; अतः इसका प्रयोग भी बन्द होना आवश्यक है।

नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए प्राचीन काल में, यूनान में, एक और निश्चय हुआ था कि आदि से अन्त तक सारा नाटक इस प्रकार रचा जाना चाहिए कि जिससे वह किसी एक ही स्थान में हो रहा है, ऐसा मालूम हो, साथ ही उसकी अवधि भी एक ही दिन की घटना तक परिमित रहे और वह एक ही कृत्य के सम्बन्ध में भी हो। इसे साहित्यिज्ञों ने 'संकलन-त्रय' या 'समक' नाम दिया है। अब यह बात कहीं प्रचलित नहीं रही और विद्वानों ने यह मान भी लिया है कि नाट्य-कला के विकास की दृष्टि से यह अत्यन्त दूषित है; हाँ, फ़ॉन्स में कुछ नाटक अभी भी इस सिद्धान्त

के अनुसार लिखे जाते हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में अभी कुछ भ्रम रह गया है। हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने अपने 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में लिखा है—"साधारणतः नाटकों में दो-चार वर्ष की घटनाएँ सहज में खप सकती हैं, पर इससे अधिक समय की घटनाएँ एक ही नाटक में दिखलाने के लिए रचना-सम्बन्धी विशेष कौशल और चातुर्य की आवश्यकता है। वह कौशल इसी बात में है कि बीच में बीतनेवाले समय पर दर्शकों का कभी ध्यान न जाने पाये और न उनको यह बतलाने की आवश्यकता पड़े कि बीच में कितना समय बीता है।" बाबू श्यामसुन्दरदासजी के इस मत से मैं सहमत नहीं हूँ। पहले तो यदि चार या पाँच घण्टों में होनेवाले नाटक में दो-चार वर्ष की घटनाओं का समावेश हो सकता है तो कितने ही दीर्घ काल की घटनाओं का भी हो सकता है। शेक्सपियर का 'विन्टर्स टेल' नाटक एक स्थल पर पूरे चौदह वर्ष के पश्चात् से आरम्भ होता है और बर्नार्ड शा के नाटक 'बैक टु मैथ्यूसुला' में तो मनुष्य की उत्पत्ति से लेकर उसके अन्त तक की काल्पनिक कथा का वर्णन है। फिर इस सम्बन्ध में जिस प्रकार के कौशल के प्रयोग का संकेत बाबू श्यामसुन्दरदासजी करते हैं, मेरा मत उसके ठीक विपरीत है। मेरा तो मत है कि यदि एक ही नाटक में एक घटना के पश्चात् की दूसरी घटना यथेष्ट समय के पश्चात् आरम्भ होती है, तो उस घटना के आरम्भ में ही दर्शकों को नाटक के पात्रों द्वारा ही यह बात मालूम हो जानी चाहिए कि इतने समय के पश्चात् से नाटक का आरम्भ होता है; साथ ही यह बात इस कौशल से बतायी जानी चाहिए कि दर्शकों को यह भी न जान पड़े कि यह पात्र, यह भाषण इसीलिए कर रहा है कि दर्शकों को यह मालूम हो जाय कि नाटक की घटनाएँ अब इतने समय के पश्चात् आरम्भ होती हैं।

नाटक की स्वाभाविकता की रक्षा के लिए योरुप में एक बात का और प्रचार हो चला था कि पात्रों के भाषण लम्बे न हों, पर इब्सन और

उसके कुछ अनुयायियों ने अपनी कृतियों से यह सिद्ध कर दिया है कि स्वाभाविकता के लिए यह आवश्यक नहीं है। कई स्थानों पर तो लम्बे भाषण स्वाभाविकता लाने के लिए आवश्यक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए किसी सार्वजनिक सभा के दृश्य में यदि वक्ता दो-चार वाक्य कहकर ही अपना भाषण समाप्त कर दे तो वह स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक बात हो जायगी; इसी प्रकार कथोपकथन में भी कई स्थानों पर लम्बे भाषण आवश्यक और उपयुक्त होते हैं। यदि हम पश्चिम के आधुनिक श्रेष्ठ नाटककारों के नाटकों में से उनके पात्रों के कुछ लम्बे भाषणों को निकाल डालें तो उनके नाटकों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही नहीं हो सकेगा। हाँ, कहाँ किस प्रकार का कथन हो इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि कोई एक पात्र मर रहा है तो इस अवस्था में यदि वह लम्बा भाषण देगा तो वह सर्वथा अस्वाभाविक होगा।

हिन्दी-नाटकों में अब तीन ही अंक रखने की प्रथा चल पड़ी है और फिर प्रत्येक अंक को बराबर रखने का प्रयत्न किया जाता है। यह भी एक ऐसी बात है जिससे कई नाटक बहुत ही अस्वाभाविक दिख पड़ते हैं। अंकों की संख्या, व्यवस्था तथा उनकी बड़ाई-छुटाई कथानक पर निर्भर है। यदि अधिक अंक होंगे तो उन्हें छोटा रखना होगा। अधिक अंकों से अधिक बार यवनिका-पतन कराने के अतिरिक्त और कोई कठिनाई नहीं होती। यह हो सकता है कि अधिक अंकों के नाटक में एक अंक के पश्चात् दूसरा अंक आरम्भ करने में बहुत अधिक समय न लिया जाय, क्योंकि दर्शक, अनेक बार, यदि बहुत समय तक प्रतीक्षा की अवस्था में बैठें तो ऊब उठेंगे।

बहुत अधिक पात्र रखना यह हमारे नाटकों को और अस्वाभाविक बना देता है। कई नाटकों का तो यह हाल है कि हम आरम्भ से अन्त तक अनेक पात्रों को पहचान तक नहीं पाते और इसी कारण चरित्र-चित्रण का पूर्ण विकास नहीं होने पाता। यह कहना तो कठिन है कि पात्रों

की संख्या अधिक से अधिक कितनी हो, पर वह जितनी कम से कम रह सके उतना ही अच्छा है। मुख्य पात्रों के सहायक-स्वरूप हम नगर-निवासी इत्यादि उपपात्र रख सकते हैं।

जहाँ हमें नाटकों को अत्यधिक स्वाभाविक बनाने का पूर्ण उद्योग करना चाहिए वहाँ हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इस स्वाभाविकता के पीछे हम इतने पागल न हो जायँ कि काव्य के मुख्य प्रयोजन की ओर, जिसका विवेचन मैंने इस कथन के आरम्भ में ही किया है, हमारा ध्यान ही न रह जाय। इस सम्बन्ध में, नाट्य-कला में दक्ष इँगलेण्ड के एक अनुभवी नट मि० फिलिप वी० वैरी जिन्होंने बीस वर्ष तक नट का कार्य किया है, अपनी 'हाउ टु सक्सीड एज़ ए प्लेराइट' नामक पुस्तक में लिखा है—

"......नाटककार की दृष्टि अत्यन्त व्यापक होनी चाहिए। उसे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चाहे वह कितना ही यथार्थवादी क्यों न हो, नाटक में पूर्ण यथार्थवाद कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। जीवन की जो घटनाएँ दिनों, सप्ताहों, मासों या वर्षों की हैं उनका कुछ घंटों में प्रदर्शन ही यथार्थवाद के लिए सबसे बड़ी आपत्ति है और जब इस उद्देश की पूर्ति पूर्ण रीति से सम्भव नहीं है, तब उसे अपनी रचना को कल्पनाओं के रंग और वैचित्र्यपूर्ण उड़ान से वंचित क्यों रखना चाहिए? ....यदि कोई लेखक मुझसे पूछे कि आजकल के पश्चिमी नाटकों में किस बात की कमी है तो मैं यही कहूँगा कि उनमें 'उड़ान' की सहायता नहीं है।"

इस सम्बन्ध में बर्नार्ड शा ने अपने 'क्वेनी सैन्स ऑफ़ इब्सनइज़िम' नामक ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है वह भी ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"नाटकघर का अनुभवी मैनेजर यह वृथा ही कहता है कि दर्शक नाटकघर में केवल मनोरंजन चाहते हैं, शिक्षण नहीं; वे बड़े-बड़े भाषणों

को सहन नहीं करेंगे; कोई नाटक १८००० शब्दों से अधिक का नहीं होना चाहिए; वह ठीक ९ बजे आरम्भ हो कर ११ बजे समाप्त हो जाना चाहिए; उसमें राजनीति और धर्म का विवाद नहीं होना चाहिए; इन स्वर्ण नियमों की अवहेलना दर्शकों को बुरे नाटकघरों को ले जायगी; नाटक में एक बुरे चरित्र की स्त्री अवश्य होनी चाहिए; इत्यादि, इत्यादि। ये सब सम्मतियाँ उन नाटकों के लिए उपयुक्त हो सकती हैं जिनमें कोई महान् विषय चर्चा के लिए न हो। इन बातों की वह नाटककार अवहेलना कर सकता है जो नैतिक सिद्धान्तों पर चर्चा करता है और जो इस प्रकार के कथोपकथन को सुन्दरता से कराने की शक्ति रखता है तथा अच्छा नाटक-कार भी है। ऐसे नाटककार की बातों को दर्शक, बिना घड़ी की ओर देखे, अथवा अपनी शारीरिक सुविधाओं की ओर दृष्टि दिये, सुनेंगे। हाँ, इसके लिए दर्शकों को आरम्भ में उस काल को समझ सकने योग्य अभ्यास की आवश्यकता होगी।"

इब्सन और उसके अनुयायियों के नाटकों का योरुप में पहले तो बड़ा तिरस्कार हुआ, पर पीछे से उन्हें पश्चिम के लोगों ने जिस चाव से देखा है उससे यह सिद्ध हो गया है कि सन् १८९५ में जो भविष्य-वाणी बर्नार्ड शा ने की थी वह सत्य निकली।

आयरलेण्ड के प्रसिद्ध नाटककार सिन्जे अपने 'दि टिन्कर्स वेडिंग' नामक नाटक की भूमिका में इसी विषय पर लिखते हैं——

"हमें नाटकघर उस प्रकार नहीं जाना चाहिए जिस प्रकार हम किसी दूकान पर जाते हैं, वरन् इस प्रकार जाना चाहिए जिस प्रकार हम भोजन करने के लिए जाते हैं, जिसकी हमें आवश्यकता होती है और जो हम आनन्द एवं भावपूर्ण हृदय से खाते हैं। ....जिन वस्तुओं से कल्पनाओं और विचारों का पोषण होता है वे अत्यन्त आवश्यक हैं और उनका सीमित करना अथवा नाश बड़ी भयानक बात है।"

सफल नाटक का साहित्य में स्थान

सफल नाटक साहित्य में कितना उच्च स्थान रखता है इस विषय में लन्दन-यूनिवर्सिटी के अँगरेजी भाषा के अध्यापक डॉक्टर ए० निकोल ने अपने 'एन इन्ट्रोडक्शन टु ड्रेमेटिक थियोरी' नामक ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"साहित्य के समस्त विभागों में नाटक उसका सबसे अधिक विलक्षण, सबसे अधिक रोमांचकारी और घटनाओं को सबसे अधिक पटुता से प्रदर्शित करनेवाला विभाग है। जिस समाज में उसका प्रादुर्भाव होता है उस समाज की आन्तरिक भावनाओं के वह इतने निकट रहता है, अनेक युगों तक भिन्न-भिन्न देश-देशान्तरों के निवासियों को विविध प्रकार से वह इतना प्रभावित करता है, मानव समाज के समस्त वर्ग जहाँ एकत्रित होते हैं, उस रंगमंच से वह इतना घनिष्ठ संबंध रखता है, उसका दृष्टिकोण एवं ध्येय सामाजिक दृष्टि से इतना व्यापक रहता है और हास्य रस तथा विदूषकता के गहरे से गहरे गर्त में उतर कर भी वह कवि-कल्पना के उच्चतम शिखर पर पहुँचने की इतनी क्षमता रखता है कि मानव-बुद्धि-द्वारा उपार्जित साहित्य में मनोरंजन की दृष्टि से उसका निश्चयपूर्वक ही सर्वश्रेष्ठ स्थान सिद्ध हो जाता है।"

नाटक का कार्य मनोरंजन के अतिरिक्त और क्या है इस सम्बन्ध में भी उपर्युक्त लेखक अपनी इसी पुस्तक में कहते हैं—

"यह स्पष्ट है कि अपने उच्चतम रूप में नाटक केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। जिस काल में नाटक का केवल इतना ही उपयोग होता है... उस काल की नाट्य-रचना निम्न-कोटि की एवं विचारशून्य रहती है। उत्तम नाटक का प्रादुर्भाव केवल उसी समय होता है जब नाटक मनोरंजन के साथ-साथ किसी विचार विशेष अर्थात् सामाजिक, धार्मिक अथवा राष्ट्रीय सिद्धान्त का प्रदर्शन करता है।"

उत्तम और सफल नाटक के आवश्यक गुणों और स्वाभाविकता का यह विवेचन हो चुकने के पश्चात् हमें नाटकों की कुछ अन्य बातों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

नाटक में हास्य-रस

हास्य-रस नाटक का एक आवश्यक गुण है, किन्तु सभी नाटकों में यह नहीं रखा जा सकता। किसी-किसी नाटक में हास्य-रस रखने से उसके रस-परिपाक में बड़ी बाधा पहुँचती है; यहाँ तक कि कभी-कभी तो बड़ी बुरी तरह रस-भंग हो जाता है। परन्तु, यहाँ यह न समझ लिया जाय कि दुःखान्त (tragedy) नाटकों में हास्य-रस नहीं रखा जा सकता। अनेक दुःखान्त नाटकों में भी यह सफलतापूर्वक रखा जा सकता है। हास्य की उत्पत्ति किन कारणों से होती है इसकी चर्चा पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों साहित्यकारों एवं मनोविज्ञान के ज्ञाताओं ने खूब की है, जिसका अध्ययन प्रत्येक नाटककार के लिए आवश्यक है। मैं यहाँ इस विषय का कोई विस्तृत विवेचन नहीं करना चाहता, फिर भी नाटकों में किस प्रकार के हास्य-रस रखने का मैं पक्षपाती हूँ और कौनसा हास्य-रस मैं सर्वथा निषिद्ध समझता हूँ इस पर संक्षेप से कुछ लिख देना चाहता हूँ।

हास्य की उत्पत्ति किसी असाधारण या विकृत वस्तु के देखने अथवा सुनने से होती है, यद्यपि सभी असाधारण या विकृत वस्तुओं के देखने या सुनने से हास्य का प्रादुर्भाव नहीं होता। स्थूल दृष्टि से जिन बातों से हास्य की उत्पत्ति होती है वे निम्नलिखित हैं—

(१) असाधारण या विकृत रूप
(२) " " वेश
(३) " " संकेत
(४) " " चरित्र

(५) असाधारण या विकृत परिस्थिति
(६) " " शब्द और वाक्य

इनमें से १, २, ३ और ४ से जिस हास्य की उत्पत्ति होती है वह साधारण कोटि का है। मन पर उसका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। पाँचवें और छठवें प्रकार का हास्य उच्चकोटि का है और मन पर, इसका गहरा प्रभाव पड़ता है।

सबसे अधिक ध्यान हमें अन्तिम प्रकार के हास्य पर देना चाहिए। जिन शब्दों या वाक्यों से इस हास्य की उत्पत्ति होती है उन्हें हमारे यहाँ 'व्यंग' कहते हैं। पश्चिमी साहित्यकारों ने इस व्यंग के भेद कर इसे तीन स्थूल विभागों में बाँटा है—'सेटायर', 'विट' और 'ह्यूमर'। हास्य-रस में तीनों का बड़ी सुन्दरता के साथ उपयोग किया जा सकता है। अनेक बार उपर्युक्त छहों प्रकार के हास्य का इकट्ठा उपयोग कर एक विलक्षण परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है।

पारसी रंगमंच पर जिस प्रकार के हास्य-रस का प्रदर्शन होता है वह अत्यन्त निम्नकोटि का और अश्लील होता है। मैं इस प्रकार के हास्य-रस का प्रयोग निषिद्ध मानता हूँ। हास्य-रस का लेखन और प्रदर्शन, दोनों ही, बड़े कठिन कार्य हैं। इसके लिए असाधारण प्रतिभाशाली लेखक और नट की आवश्यकता है। यदि उच्च-कोटि के हास्य-रस की रचना और प्रदर्शन संभव नहीं है तो जिस प्रकार का हास्य-रस आजकल लिखा और दिखाया जाता है उसकी अपेक्षा तो न लिखा और न दिखाया जाना ही अच्छा है।

पात्रों की भाषा

जिस भाषा में नाटक लिखे जाते हैं अधिकांश पात्रों की वही भाषा होनी चाहिए इसमें मत-भेद नहीं हो सकता, पर किसी-किसी पात्र की उपभाषा (Dialect) भी रह सकती है या नहीं यह एक मत-भेद का

विषय है। प्राचीन संस्कृत नाटक के अनेक पात्र प्राकृत भाषा में बोलते थे। आज अँगरेज़ी नाटकों में भी कुछ पात्र उपभाषा में बोलते हैं। बर्नार्ड शा के 'पैग मिलियान' नाटक में फूल बेचनेवाली एक लड़की उपभाषा में बोलती है। इसी प्रकार उनके 'प्रेस कटिंग' आदि दूसरे नाटकों के भी कुछ पात्र उपभाषाओं में बोलते हैं। मेरे मतानुसार हिन्दी नाटकों में भी कोई-कोई पात्र उपभाषा में बोल सकते हैं। आजकल के अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की बातचीत में कुछ अँगरेज़ी शब्दों का प्रयोग भी होता है। इनमें से कुछ शब्द तो इतने प्रचलित हो गये हैं कि साधारण जनता भी उन्हें समझ सकती है। अतः कुछ पात्रों की भाषा में यदि इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग भी हो तो कथोपकथन की स्वाभाविकता में वृद्धि ही होगी। बंगाली, महाराष्ट्र, सिख, गुजराती आदि समाजों के व्यक्ति जिस प्रकार की हिन्दी बोलते हैं यदि उसी प्रकार की हिन्दी रंगमंच पर भी बोलें तो नाटकों की स्वाभाविकता बढ़ेगी। हिन्दी नाटकों में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि मुसलमान पात्र किस भाषा में बोलें? मराठी, बँगला, गुजराती और दक्षिण भारत की भाषाओं से उर्दू का इतना सम्बन्ध नहीं जितना हिन्दी से है; अतः उन भाषाओं के मुसलमान पात्र भी उन भाषाओं में बोल सकते हैं, पर हिन्दी और उर्दू का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि किसी मुसलमान पात्र का संस्कृत मिली हिन्दी में भाषण करना विलक्षणसा प्रतीत होता है। जहाँगीर, नूरजहाँ, शाहजहाँ आदि ऐसे ही मुस्लिम पात्र अपने बादशाही वस्त्रों में रंगभूमि में आकर संस्कृत-मिश्रित हिन्दी बोलें, यह मुझे तो असंगत मालूम होता है। पर, उर्दू भाषा ऐसी होनी चाहिए जो हिन्दी दर्शकों की समझ में सहज में आ सके। मैंने जहाँ मुसलमान पात्रों को संस्कृत-मिली हिन्दी बोलते सुना है वहाँ हिन्दी नाटकों में ऐसी उर्दू भी सुनी है जिसको समझना हिन्दी भाषियों के लिए बहुत ही कठिन है। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है कि यदि मुसलमान पात्र उर्दू भाषा में बोलें तो मुसलमान और हिन्दू पात्रों में आपस के संभाषण में किस भाषा का उपयोग

किया जाना चाहिए ? हमारे कई लेखक, जो मुसलमानों के, उर्दू में बोलने के पक्ष में हैं, मुसलमानों और हिन्दुओं के संभाषण में हिन्दुओं से भी उर्दू भाषा का उपयोग कराते हैं, पर मेरे मतानुसार यह ठीक नहीं है। यदि मुसलमानों और हिन्दुओं की परस्पर बातचीत में हिन्दुओं को उर्दू बोलनी चाहिए तो मुसलमानों को ही हिन्दी क्यों न बोलनी चाहिए ? नित्यप्रति के व्यवहारों में क्या होता है ? जब मुसलमानों और हिन्दुओं में परस्पर संभाषण होता है तब हिन्दू अधिकतर हिन्दी शब्दों और मुसलमान उर्दू शब्दों का उपयोग करते हैं। जैसा मैंने ऊपर लिखा है, हिन्दी और उर्दू के घनिष्ट सम्बन्ध के कारण ही मुसलमान पात्रों का हिन्दी-नाटकों में उर्दू बोलने का प्रश्न उठता है, अतः हिन्दू-मुसलमान पात्रों के परस्पर संभाषण में हिन्दू पात्रों का सरल हिन्दी और मुसलमान पात्रों का सरल उर्दू में ही बोलना उचित प्रतीत होता है।

रंगमंच

यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि ऐसे नाटक भी, जो खेले नहीं जा सकते, पर साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के और पढ़ने के लिए उपयोगी हैं, नाटक की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं; फिर भी जो नाटक पढ़ने योग्य होते हुए खेले जा सकें और साथ ही साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के हों, वे अधिक अच्छे हैं, इसमें मत-भेद नहीं हो सकता। ऐसे नाटक लिखने के लिए नाटककार को लिखने की विधि के साथ ही रंगमंच-संबंधी विधि की ओर भी लक्ष रखना आवश्यक है। रंगमंच-संबंधी बातों में नाटककार को दृश्यों की व्यवस्था, पात्रों की वेश-भूषा तथा पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान आदि बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

प्राचीन संस्कृत नाटकों में एक अंक में, एक ही दृश्य रहता है। हाँ, विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अकास्य और अंकावतार, अंकों के अतिरिक्त अवश्य रहते थे, पर ये दृश्य किसी अंक के आरंभ या अन्त में ही आते थे,

बीच में नहीं। इसका प्रधान कारण यह है कि उस समय रंगमंच में परदों की इस प्रकार व्यवस्था न थी। पश्चिमी नाटकों में आजकल भी अधिकतर एक अंक में एक दृश्य रखने की रीति चल पड़ी है। यद्यपि मैंने भी अपने कुछ नाटकों में एक अंक में एक ही दृश्य रखा है तथापि एक अंक में एक ही दृश्य रखने की प्रथा मुझे बहुत रुचिकर नहीं जान पड़ती। इसके तीन कारण हैं—एक तो पूरे अंक में एक ही दृश्य रखने से दृश्यों के परिवर्तन में जो एक बहुत बड़ा आकर्षण है, वह नाटकों में नहीं रह जाता; दूसरे उसी एक दृश्य में कई बार ऐसे पात्रों का प्रवेश, प्रस्थान और संभाषण होता है जो नहीं होना चाहिए; तीसरे एक ही दृश्य रखने से समय के एकीकरण की बड़ी भारी कठिनाई से सामना करना पड़ता है। एक दृश्य में एक ही समय की घटना का प्रदर्शन हो सकता है, पर दृश्य-परिवर्तन होने से यह कठिनाई नहीं रह जाती और नाटक की गति में शीघ्रता आ जाती है।

दृश्यों की संख्या कितनी रहे इस संबंध में भी कोई नियम नहीं हो सकता, क्योंकि यह नाटक के कथानक आदि पर निर्भर है, पर यदि किसी अंक में अधिक दृश्य रहें तो उन्हें छोटे रखना आवश्यक है; साथ ही, उनकी व्यवस्था ऐसी रहनी चाहिए कि उनके परिवर्तन में कठिनाई न हो। पर, हाँ, उनकी संख्या इतनी अधिक भी न हो जानी चाहिए कि उनका प्रबंध ही रंगमंच पर असम्भव हो जावे। इस संबंध में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। नाटकों में दृश्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) जो लकड़ी के तख़्तों आदि ऐसी वस्तुओं पर चित्रित रहते हैं अर्थात् जो पर्दे की भाँति उठाये या गिराये नहीं जा सकते, कुर्सी इत्यादि पर बैठने का प्रबंध इन्हीं दृश्यों में हो सकता है। क़िला, महल, सभा-भवन, बैठकख़ाने, भोजनालय, उद्यान आदि इस प्रकार के दृश्यों में दिखाये जाते हैं, (२) कपड़े पर चित्रित दृश्य जो उठाये-गिराये जा सकते हैं या फटकर अलग होते हैं। मकान के बाहरी भाग, दालान, मार्ग आदि इनमें दिखाये जाते हैं और (३) वे दृश्य

जो लकड़ी के तख्तों आदि के दोनों ओर चित्रित रहते हैं तथा जिनके एकदम-से परिवर्तित करने की व्यवस्था होती है। दोनों बगलों में, बगली-परदे (wings) और ऊपर झालर (pliers) का प्रबंध तीनों प्रकार के दृश्यों में आवश्यक होता है। इनमें से तीसरे प्रकार के दृश्यों की व्यवस्था बहुत कठिन है, पर पहले दो प्रकार के दृश्यों की नहीं। जब तक हमारे यहाँ कलों द्वारा दृश्य-परिवर्तन की व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक ध्यान रखने की बात यह है कि पहले प्रकार के दो दृश्य, एक के पश्चात् दूसरा न आ जावे। इस प्रकार के दो दृश्यों के बीच में या तो दूसरे प्रकार के दृश्य आवश्यक होते हैं या यवनिका-पतन। रंगमंच के संकुचित स्थान में एक ही साथ दो से अधिक पहले प्रकार के दृश्यों की व्यवस्था नहीं रह सकती। फिर एक के पश्चात् दूसरा पहले प्रकार का दृश्य तैयार रहते हुए भी उसके प्रदर्शन के पूर्व, बीच में, कम से कम एक दूसरे प्रकार का दृश्य आवश्यक है, जिससे, जिस पहले प्रकार के दृश्य का प्रदर्शन हो चुका है वह हटाया जा सके; दूसरे, पहले प्रकार के दृश्यों के बीच में दूसरे प्रकार के दृश्यों के रहने से नेपथ्य में पहले प्रकार के दृश्यों की तैयारी के लिए समय मिल जाता है जो अनिवार्य है। हाँ, पहले प्रकार के दृश्य ऐसे स्थलों पर साथ-साथ रह सकते हैं जहाँ एक के बाद ही दूसरा दृश्य चित्रित हो और वह परिवर्तित किया जा सके। दूसरे प्रकार के दृश्यों के गिराने और उठाने की व्यवस्था की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

दृश्यों की व्यवस्था के संबंध में, मैंने यहाँ जो कुछ लिखा है वह भारतीय रंगमंचों की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए है। यहाँ यदि पश्चिमी रंगमंचों के समान दृश्य-परिवर्तन के लिए कलों की व्यवस्था हो जावे तो उपर्युक्त कथन का बहुत-सा अंश निरर्थक हो जायगा। पश्चिमी रंगमंचों पर गिराये और उठाये जानेवाले परदों का सर्वथा बहिष्कार हो गया है, क्योंकि वहाँ स्टीम और बिजली की कलों के द्वारा क्षण भर में दृश्यों का परिवर्तन हो जाता है। विविध प्रकार के भारी-भारी सामानों

से सजे हुए कमरे, बग़ीचे, बाज़ार आदि के दृश्य नीचे बैठ जाते या ऊपर खींच लिये जाते हैं और उनके स्थान पर दूसरे इसी प्रकार के दृश्य लाये जा सकते हैं। मैंने जब बेल्जियम के प्रसिद्ध नाटककार मैटरलिंक के 'ब्लू बर्ड' नाटक का, जिसपर नाटककार को नोबल प्राइज़ मिल चुका है, अँगरेज़ी अनुवाद पढ़ा और उसकी भूमिका में यह पढ़ा कि अमुक-अमुक नाट्य-परिषदों-द्वारा यह नाटक खेला भी जा चुका है, तब मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि अनेक स्थलों पर उसके दृश्यों में एक दृश्य के पश्चात् दूसरा दृश्य इस प्रकार का है कि भारतवर्ष में तो इस प्रकार का नाटक सिनेमा को छोड़कर, नाटकीय रंगमंच पर दिखाया जाना असम्भव है।

पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान की ओर भी नाटककार को लक्ष रखना चाहिए। उदाहरण के लिए एक पात्र यदि एक दृश्य में किसीसे बात कर रहा है या मूर्च्छित होकर गिरता है तो वह उसीके पश्चात् के दृश्य में कहीं बैठा हुआ नहीं दिख सकता। अधिक से अधिक वह दूसरे दृश्य में प्रवेश कर सकता है; पर, यदि वह पहले दृश्य में मूर्च्छित होता है तब तो उसीके पश्चात् के दूसरे दृश्य में उसका प्रवेश भी संभव नहीं है। फिर पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान में वे किस प्रयोजन से प्रवेश और प्रस्थान कर रहे हैं इसकी ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है। पश्चिमी नाट्य-शास्त्र के आलोचकों ने इस संबंध में बहुत ज़ोर दिया है। उनका तो कथन है कि जो भी पात्र रंग-भूमि में प्रवेश या वहाँ से प्रस्थान करे उसके प्रवेश या प्रस्थान का स्पष्ट कारण होना ही चाहिए। अकस्मात अमुक पात्र रंगभूमि में अमुक अवसर पर आ गया, या वहाँ से चला गया, इसे वहाँ के लोग सर्वथा अनुचित समझते हैं। इस सम्बन्ध में मैं पश्चिमी विद्वानों से इतनी दूर तक सहमत नहीं हूँ। इसके दो कारण हैं, पहला तो यह कि नाटक में यह बात पूर्णतया सध नहीं सकती। पहले-पहल जब यवनिका उठती है तभी कुछ पात्र बैठे हुए दिखते हैं, अतः यदि प्रत्येक पात्र के प्रवेश और प्रस्थान का कारण होना आवश्यक है तो यवनिका खुलने के समय उन पात्रों के

रंगभूमि में बैठे रहने का भी कारण होना चाहिए। दूसरे, यदि नाटक से अकस्मात प्रवेश और प्रस्थान को पूर्णतया निकाल दिया जाय तो नाटक का सौंदर्य भी कुछ कम हो जायगा। कभी-कभी तो किसी पात्र का अकस्मात प्रवेश या प्रस्थान दृश्य के सौंदर्य को कई गुना बढ़ा देता है एवं अनेक कठिनाइयों को भी हल कर देता है और ऐसे अवसरों पर आनंद एवं आश्चर्य से प्रेक्षकों के मुख से 'नाटकीय' या 'ड्रेमेटिक' शब्द निकल पड़ता है। इस संबन्ध में यहाँ मैं एक उदाहरण दूँगा।

गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण यद्यपि दृश्यकाव्य नहीं है तथापि उसके अनेक स्थल 'नाटकीय' कहे जा सकते हैं। अयोध्याकाण्ड में उस स्थल पर जहाँ चित्रकूट में राम को अयोध्या लौटाने के लिए राम और भरत का संवाद चल रहा था, जब राम के अन्तिम उत्तर का अवसर आया तब उस समय तुलसीदासजी कितनी सुन्दरता से लिखते हैं—'जनक-दूत तेहि अवसर आवा।' इस स्थल पर पाठकों के मुख से 'नाटकीय' शब्द निकले बिना नहीं रह सकता। अकस्मात जनक-दूत का आगमन न केवल सुन्दरता को बढ़ाता वरन् तत्काल, राम के उत्तर देने की कठिनाई को भी हल कर देता है। इतने पर भी मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि रंगभूमि में पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान सदा अकस्मात ही होना चाहिए। यदि सदा ऐसा होगा तो नाटक में बड़ा भद्दापन आ जायगा और ऐसा जान पड़ेगा कि दर्शकों को भाषण सुनाकर चले जाने के लिए ही पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान हो रहा है। इस संबंध में क्या करना चाहिए इसका नाटककार को बारीकी से ध्यान रखना आवश्यक है।

पश्चिमी नाटककारों ने रंगमंच में भोजन आदि की व्यवस्था कर कथोपकथन में स्वाभाविकता की वृद्धि की है। मेरे मत से नाटकों में यह व्यवस्था कथोपकथन की स्वाभाविकता को बढ़ा सकती है।

दृश्य, पात्र और पात्रों की वेश-भूषा

नाटककार का जितना सम्बन्ध रंगमंच से है उतना ही नाटक के दृश्यों, उसके पात्रों, पात्रों की अवस्था, मुखाकृति, शरीर और वेश-भूषा से है। ये सब बातें देश, काल और पात्र के अनुसार ही होनी चाहिए। पश्चिम के नाटककार इस ओर बराबर ध्यान रखते हैं और वे इन बातों का अपने नाटकों में सांगोपांग वर्णन कर देते हैं। पारसी कम्पनियों के 'रामायण' और 'महाभारत' नाटकों को जिन्होंने देखा है एवं उनके दृश्य और उनमें राम और कृष्ण के जिन्होंने दर्शन किये हैं वे जानते होंगे कि ये दृश्य और पात्र, कम से कम हमारे प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित दृश्य और पात्रों के समान नहीं हैं। यही बात अनेक ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इँग्लेण्ड के एक प्रसिद्ध नाटककार ऑस्करवाइल्ड ने अपनी 'इन्टेंशन्स' नामक पुस्तक में 'दी ट्रुथ ऑफ़ दी मास्क्स' लेख में नाटक के पात्रों की वेश-भूषा के विषय में सुन्दर विवेचन किया है। यह पूरा लेख नाटककारों के अध्ययन की वस्तु है। जिस काल की कथा पर नाटक लिखा जावे उस काल के दृश्यों और वेश-भूषा पर एवं जिस प्रकार के पात्र हों उन पात्रों पर विचार कर नाटककार को अपने नाटकों में उसके दृश्यों, पात्रों और वेश-भूषा का पूरा वर्णन कर देना आवश्यक है, जिससे अभिनय के समय भी नाटक का अभिनय भ्रष्ट न हो और पढ़ते समय भी चित्र के समान ये सारी बातें नेत्रों के सम्मुख चित्रित हो जावें।

अभिनय

अभिनय नाटक का कितना आवश्यक अंग है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं। अच्छे से अच्छा नाटक, खेलते समय अभिनय बुरा होने से, सर्वथा भ्रष्ट हो सकता है और कभी-कभी बुरे से बुरा नाटक अच्छा अभिनय होने से देखने के समय बहुत अच्छा दिखायी देता है।

जो नाटक सिनेमा में परिणत किये जाते हैं उनमें तो अभिनय ही सब कुछ होता है। अभिनय का अधिकतर भार नटों की योग्यता पर निर्भर है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु नाटककार भी, नाटक में, इस सम्बन्ध में संकेत कर सकता है और करना आवश्यक भी है क्योंकि जिस मस्तिष्क से वस्तु, पात्रों और रस की सृष्टि हुई है वही यदि अभिनय के लिए संकेत कर देवे तो वह और भी उपयुक्त होगा। इँग्लेण्ड के प्रसिद्ध नाटककार गाल्सवर्दी और जर्मनी के प्रसिद्ध नाटककार हाप्टमैन ने यह कार्य अपने नाटकों में बड़ी सफलता से किया है। उनके किसी-किसी नाटक के कोई-कोई दृश्य तो पूरे के पूरे मूक अभिनय से ही भरे हैं। इन्हें पढ़ने और देखने, दोनों से, मन पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना उन दृश्यों में यदि उन पात्रों के मुख से कुछ कहलाया जाता तो कदाचित् न पड़ता। इस सम्बन्ध में गाल्सवर्दी के 'जस्टिस' नाटक के तीसरे अंक का तीसरा दृश्य नाटककारों के ध्यान से पढ़ने योग्य है।

नाटक और सिनेमा

सिनेमा और विशेषकर बोलनेवाले सिनेमा (talkies) के इस युग में नाटकों पर जनसाधारण का ध्यान बहुत कम हो चला है। ये दोनों वस्तुएँ यदि कुछ बातों में एक दूसरे के अत्यधिक समान हैं तो कुछ बातों में एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न। मेरा तो यह मत है कि न तो सिनेमा नाटक का पूरा स्थान ले सकता है और न नाटक सिनेमा का। सिनेमा में जिस प्रकार के दृश्यों और घटनाओं का प्रदर्शन हो सकता है उस प्रकार का अच्छे से अच्छा रंगमंच होने पर भी नाटकों में नहीं; इसी प्रकार कथोपकथन-द्वारा किसी महान् विषय का जैसा नाटक में प्रतिपादन हो सकता है वैसा सिनेमा में नहीं। फिर पात्रों के प्रत्यक्ष कथोपकथन और अभिनय से तथा चित्रों के कथोपकथन और अभिनय से मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसमें अन्तर रहता ही है। जब पहले-पहल, चलते-फिरते चित्र निकले थे तभी

लोग यह समझने लगे थे कि नाटक का युग समाप्त हो गया, पर नवीनता का कौतूहल दूर होते ही फिर नाटकों की आवश्यकता जान पड़ने लगी। यही बात बोलनेवाले चित्रों के लिए भी होगी। अमेरिका में जहाँ बोलनेवाला सिनेमा उन्नति की चरम सीमा को पहुँच चुका है, वहाँ पुनः नाटकों का खेलना आरंभ हो गया है और जनता फिर से नाटकों को चाव से देखने लगी है। एक बात और है—नाटक और सिनेमा का कहीं-कहीं सुन्दर मिश्रण भी हो सकता है। जैसे युद्ध, चुनाव, मेले इत्यादि के दृश्य यदि नाटकों में भी सिनेमा के द्वारा दिखाये जावें तो कहीं अधिक स्वाभाविक दिख पड़ेंगे और उनसे मन पर प्रभाव भी अधिक पड़ेगा। युद्ध की सेनाएँ और लड़ाई, चुनाव, मेले आदि की सवारियाँ और चहल-पहल रंगभूमि में उतनी अच्छी तरह नहीं दिखायी जा सकती जितनी सिनेमा में। यदि कुछ पात्रों के मुख से इनका वर्णन कराया जाय, जो बहुधा किया भी जाता है, तो मन पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता; अतः नाटक के साथ ही सिनेमा-मशीन की योजना एवं ऐसे अवसरों पर नाटक के बीच-बीच में परदे के स्थान पर श्वेत चादर गिरा १०–१०, २०–२०, मिनटों तक ये दृश्य फ़िल्मों द्वारा दिखाने का प्रबंध अवश्य ही सफल हो सकता है। किसी-किसी नाटक-कंपनी ने यह प्रयत्न किया भी था और यह सफल भी हुआ था, परन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है, जितनी व्यापकता से यह प्रयत्न होना चाहिए उतना अब तक नहीं हुआ।

अन्तिम निवेदन

इस प्राक्कथन में मुझे अब और कुछ नहीं कहना है। इसे लिखने में मेरा उद्देश कला, काव्य-कला और नाटकों का शास्त्रीय विवेचन अथवा इस क्षेत्र की आलोचना नहीं है। इस कथन से मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कला, काव्य-कला और नाटकों के जिन आदर्शों पर मैंने अपनी ये टूटी-फूटी रचनाएँ की हैं, एवं इन्हें लिखने में जिस विधि (technique)

का मैंने आश्रय लिया है उन्हें मैं अपने पाठकों के सम्मुख रख दूँ। जो थोड़ा-बहुत साहित्य मैंने इस सम्बन्ध में देखा, पढ़ा और मनन किया है उसके आधार पर ही, मैंने इन नाटकों को लिखा है। मैं यह भी कहने का साहस नहीं कर सकता कि ये नाटक मौलिक हैं या इनमें कोई नवीनता है। यह विश्व और मानव-समाज दोनों ही बहुत पुराने हो गये हैं। आकाश और पृथ्वी दोनों की वस्तुओं में, जिनका पता लग चुका है, उनमें से, कोई भी अछूती नहीं है। संसार में अनेक महान् तत्ववेत्ता और कवि उत्पन्न हो चुके हैं। उनकी पैनी दृष्टि सभी वस्तुओं में घुस चुकी है और वे अपने मस्तिष्क एवं हृदय के द्वारा सभी का वर्णन भी कर चुके हैं; फिर भला मैं यह कहने का साहस कैसे कर सकता हूँ कि मेरी कृतियों में कोई मौलिकता या नवीनता है। मैं यह भी जानता हूँ कि मेरी ये कृतियाँ दोषों से भरी हुई हैं और जैसा मैंने ऊपर एक स्थान पर लिखा है कि मेरे ही द्वारा प्रतिपादित आदर्शों एवं पद्धति की कसौटी पर कसने से ये खरी न उतरेंगी, पर फिर भी, इन तुच्छ कृतियों को मैं हिन्दी-संसार को भेंट करने का साहस करने की धृष्टता कर रहा हूँ।

दीपावली
संवत् १९९२

गोविन्ददास

कर्तव्य

निवेदन

प्रस्तुत नाटक का लिखना, मैंने तारीख़ १६ जनवरी सन् १९३० की रात को दमोह-जेल में आरंभ किया और इसके लिखने में इतना अधिक मन लगा कि केवल चार दिनों में अर्थात् तारीख़ २१ जनवरी की दोपहर को यह समाप्त हो गया। एक आस्तिक वैष्णव-कुटुम्ब में जन्म लेने तथा बारह वर्ष की अवस्था तक अपने पितामह परमभगवदीय पूज्य राजा गोकुल-दासजी के निरंतर संग रहने के कारण, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्र और लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचंद्र के चरणों में बाल्यावस्था से ही मेरी भक्ति रही है। पंडितों द्वारा श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण को मैंने दो बार सुना है और श्रीमद्भागवत् को सुनने का तो न जाने कितने बार सौभाग्य प्राप्त हुआ है, क्योंकि ऐसा कोई वर्ष ही नहीं जाता जब श्रीमद्भागवत् का अर्थ-सहित साप्ताहिक पाठ हमारे घर में न होता हो। हरिवंश, स्कन्द, विष्णु, पद्म तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण-खण्ड एवं गर्ग-संहिता में भी मैं कृष्ण के लीलामृत का पान कर चुका हूँ। महाभारत का भी बहुत-सा अंश देखा है। तुलसीकृत रामायण तथा भगवत्गीता का तो नित्य पाठ ही करता हूँ। रघुवंश, उत्तर रामचरित-नाटक और सूर-सागर को मैं भारत के काव्य-जगत् के ज्वाज्वल्यमान रत्न मानता हूँ। अतः यद्यपि इस नाटक के लिखने में मुझे केवल चार दिन लगे, परन्तु इसके वर्णित विषय पर मैं बाल्यावस्था से ही विचार करता आ रहा हूँ।

हमारे यहाँ अवतारों में राम और कृष्ण ये ही दो सबसे बड़े अवतार । भगवान् कृष्ण को तो पूर्णावतार माना गया है। भगवान रामचंद्र

से भी उनमें दो कलाएँ अधिक मानी जाती हैं। बहुत काल तक मैं इसका रहस्य न समझ सका था। इस सम्बन्ध में हमारे देश के धर्माचार्यों आदि ने जो युक्तियाँ दी हैं उनसे भी मेरा पूरा समाधान न होता था। बहुत सोचने-विचारने के पश्चात् मैंने इसका जो रहस्य समझा है उसी विचार (Idea) पर इस नाटक की रचना हुई है। इतने पर भी मैंने यह नाटक भगवान् रामचंद्र और भगवान् कृष्णचंद्र को मनुष्य मानकर ही लिखा है। यदि इन दोनों को मनुष्य मानकर भी कुछ लिखा जावे तो भी मैं कह सकता हूँ कि पूर्व अथवा पश्चिम, किसी भी दिशा के, किसी भी देश में, किसी भी साहित्यकार को ऐसे नायक नहीं मिले हैं, जैसे भारत के साहित्यकारों को राम और कृष्ण के रूप में मिले हैं। इसी प्रकार सीता के पति-प्रेम और राधा तथा गोपियों के विशुद्ध एवं अनन्य प्रेम के सदृश, प्रेम का वर्णन भी मुझे तो अंगरेज़ी-द्वारा, विदेशी साहित्य का निरन्तर अध्ययन करते रहने पर भी, किसी भी विदेशी साहित्य में पढ़ने को नहीं मिला। यूनान देश के महाकाव्य 'ईलियड' और 'ऑडेसी' के नायक-नायिकाओं से रामायण और महाभारत के नायक-नायिकाओं की तुलना मुझे तो हास्यास्पद जान पड़ती है।

इस देश में राम और कृष्ण पर आज तक न जाने कितने साहित्य-सेवियों ने लिखा है। जिन्होंने अन्य नायकों को अपनी कृतियों का नायक बनाकर लिखा भी है उनमें कोई भी नायक इतने ऊँचे न तो अब तक उठ सके हैं और न भविष्य में इसकी सम्भावना ही है। जिन नायकों पर सहस्रों वर्षों से इस देश के तत्ववेत्ता और महाकवि लिखते आये हैं और जिन पर लाखों पृष्ठ लिखे जा चुके हैं, उन पर मैं कोई नवीन, स्वतंत्र या मौलिक रचना कर सकूँगा यह मैं कभी भी नहीं मान सकता; अतः जिस कवि की जो युक्ति मुझे रुचिकर हुई, मैंने उसे निस्संकोच इस रचना में ले लिया है। इसमें कुछ पद्य भी हैं, पर मैंने उन्हें प्राचीन कवियों की कृतियों में से ही लेना

उचित समझा। कुछ पद्य ऐसे हैं जिनमें दो-दो कवियों की कविता का मैंने मिश्रण कर दिया है। एक बात मुझे अवश्य करनी पड़ी है कि पद्यों के अन्त की, इन कवियों के नाम की, छाप निकाल देनी पड़ी है, क्योंकि ये पद्य इस नाटक में सीता, राधा, गोपियों आदि के द्वारा गाये गये हैं और इन पात्रों का, इन गानों को रंगभूमि में, कवियों के नामों के साथ गाना सम्भव नहीं था। साथ ही प्रसंगवश इनमें से कुछ पद्यों के दो-चार शब्दों में परिवर्तन भी करना पड़ा है।

पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक, उपन्यास अथवा कहानी लिखने में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि जिस समय की कथा का वर्णन हो, उस समय का पूरा चित्र उस नाटक, उपन्यास या कहानी में आ जावे तथा समय-विपर्यय-दोष (Anachronism) न आने पावे। इस दृष्टि से इस नाटक में, मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ, इस सम्बन्ध में यद्यपि मुझे कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है तथापि इस विषय में, मेरे सामने जो कठिनाइयाँ आयी हैं और उन कठिनाइयों के हल करने का मैंने जो प्रयत्न किया है उस सम्बन्ध में, मैं दो शब्द अवश्य कह देना चाहता हूँ।

सबसे पहली कठिनाई मेरे सम्मुख समय के विभाजन की उपस्थित हुई। अमुक व्यक्ति की इतने हज़ार वर्ष की आयु हुई, अमुक व्यक्ति ने इतने हज़ार वर्ष राज्य अथवा तपस्या की, आदि बातों से, पुराण आरम्भ से अन्त तक भरे हुए हैं। ऐसे स्थानों पर, वर्ष के लिए अधिकतर सम्वत्सर शब्द का उपयोग हुआ है। सम्वत्सर शब्द का अर्थ, बारह महीने, अथवा ३६५ दिन का वर्ष माना जाय या नहीं, इस सम्बन्ध में प्राचीन विद्वानों में भी मतभेद है। जैमिनी की मीमांसा में सम्वत्सर का अर्थ केवल एक दिन लिया गया है। महाभारत के वन-पर्व के, तीसरे अध्याय में एक स्थान पर, भीमसेन ने सम्वत्सर का अर्थ केवल एक महीना किया

है। महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार पण्डित नीलकण्ठ ने सम्वत्सर का अर्थ छै मास माना है। यह बात नीलकण्ठ ने , विराट्-पर्व में, उस समय कही है जब विराट् अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह बृहन्नला (अर्जुन) के साथ करना चाहता था और अर्जुन ने उत्तरा का विवाह अपने पुत्र अभिमन्यु से करने को कहा। नीलकण्ठ ने अपने कथन के प्रमाण में अन्य अनेक विद्वानों के मत भी उद्धृत किये हैं। वेदोक्त प्रार्थनाओं तक में, जब शत अर्थात् १०० वर्षों तक सुख-पूर्वक जीवित रहने की कामना की जाती है, तब हमें सम्वत्सर का अर्थ प्रसंग के अनुसार ही करना पड़ता है। नाटक की कथा को सम्पूर्ण-रूप से संगठित रखने के लिए समय का विभाजन तथा दर्शकों को उसका ज्ञान करा देना मैं आवश्यक समझता हूँ। पौराणिक कथा अपने काल के अनुरूप होते हुए अस्वाभाविक भी न हो, इस बात पर ध्यान रखने के लिए मुझे इस नाटक में, समय के विभाजन में, स्वतंत्रता लेनी पड़ी है। परन्तु इस स्वतंत्रता को लेते हुए भी मैंने इस बात का ध्यान रखने का प्रयत्न किया है कि रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणों में राम और कृष्ण-कथा के जिन प्रसंगों का समय निश्चित रूप से कह दिया गया है उसमें, जहाँ तक सम्भव हो, कोई परिवर्तन न करूँ। दृष्टान्त के लिए, राम के १४ वर्ष के वन-गमन अथवा कृष्ण के ११ वर्ष की अवस्था तक व्रज में निवास या पाण्डवों के १२ वर्ष तक देश-निर्वासन एवं एक वर्ष के अज्ञात-वास के समय में, मैंने कोई परिवर्तन नहीं किया; परन्तु राम के ग्यारह हज़ार वर्ष तक राज्य करने और कृष्ण के सवा-सौ वर्ष तक जीवित रहने के समय में मुझे परिवर्तन करना पड़ा है। कृष्ण का सवा-सौ वर्ष तक जीवित रहना मैं अस्वाभाविक नहीं मानता, क्योंकि आज भी अनेक व्यक्ति इससे अधिक अवस्था के जीवित हैं; तथापि यदि उनका सवा-सौ वर्ष तक जीना मान लिया जाय तो उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य घटनाओं से उनकी अवस्था का मेल नहीं खाता। एक

ही दृष्टान्त से मेरा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। महाभारत अथवा पुराणों में, जहाँ-जहाँ कृष्ण और पाण्डवों की भेंट का वर्णन आया है वहाँ-वहाँ, कृष्ण ने युधिष्ठिर और भीम को, अवस्था में अपने से बड़ा होने के कारण, प्रणाम, अर्जुन को समवयस्क होने के कारण आलिङ्गन किया है और नकुल तथा सहदेव को, छोटे होने के कारण, आशीर्वाद दिया है। मृत्यु के समय यदि कृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष की मान ली जाय तो युधिष्ठिर तथा भीम की इससे अधिक माननी पड़ती है, धृतराष्ट्र की उनसे अधिक और भीष्म की उनसे भी अधिक। भारत-युद्ध के १८ वर्ष पश्चात्, धृतराष्ट्र की मृत्यु हुई और धृतराष्ट्र की मृत्यु के १५ वर्ष पश्चात् कृष्ण की मृत्यु, यह महाभारत में स्पष्ट लिखा है। मृत्यु के समय यदि कृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष मानी जाय तो महाभारत के समय ९२ वर्ष माननी पड़ती है। भीम की इससे अधिक, युधिष्ठिर की इससे अधिक तथा धृतराष्ट्र और भीष्म की तो कहीं अधिक। भीष्म ने भारत-युद्ध में जिस वीरता के साथ युद्ध किया उससे उन्हें इतना अधिक वृद्ध नहीं माना जा सकता। फिर युद्ध के समय अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की अवस्था केवल १६ वर्ष की थी; द्रौपदी के पाँचों पुत्रों की तो इससे भी कम। पाण्डवों की इतनी वृद्धावस्था में सभी पुत्रों का उत्पन्न होना भी नहीं माना जा सकता। और फिर पाण्डवों का, युद्ध में, जिस प्रकार का वर्णन है उससे वे इतने वृद्ध प्रतीत भी नहीं होते। अतः मैंने मृत्यु के समय कृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष की न मानकर ८० वर्ष के लगभग मान ली है। कृष्ण की इतनी अवस्था मानने से, उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली समस्त घटनाओं से, उनकी अवस्था का मेल खा जाता है। नाटक में ऐसे स्थल भी आये हैं जहाँ मुझे उन समयों का उल्लेख करना पड़ा है, जिन समयों का रामायण, महाभारत और पुराणों में स्पष्ट-रूप से कोई उल्लेख नहीं है। अयोध्या के सिंहासन पर बैठने के पश्चात् सीता का त्याग कितने समय के बाद हुआ इसका रामायण में

कोई वर्णन नहीं है। हाँ, रामायण के वर्णन से यह भासित अवश्य होता है कि सिंहासन पर बैठने के कई वर्ष पश्चात् उनका त्याग हुआ होगा। परन्तु मुझे दूसरी बात ही स्वाभाविक जान पड़ती है। सीता का त्याग प्रजा में अपवाद होने के कारण हुआ था। एक तो अपवाद सदा नयी बात का ही अधिक हुआ करता है, दूसरे, सीता का त्याग गर्भावस्था में किया गया, अतः उनका गर्भवती होना अपवाद को और अधिक तीव्र बना देने का कारण हो सकता है। इसीलिए मैंने राम के सिंहासन पर बैठने के केवल ८ मास के पश्चात् सीता का त्याग माना है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के व्रज में ११ वर्ष की अवस्था तक रहने का, हरिवंश, भागवत तथा अन्य पुराणों में वर्णन है। उन्होंने द्वारका जाने के पश्चात् रुक्मिणी के साथ विवाह किया यह भी उल्लेख है, परन्तु मथुरा में उन्होंने किस अवस्था तक निवास किया यह कहीं नहीं लिखा। हाँ, जरासिन्ध ने मथुरा पर १८ बार आक्रमण किया यह अवश्य लिखा है। यहाँ मैंने यह मान लिया है कि जरासिन्ध ने हर वर्ष शरद् ऋतु में आक्रमण किया, क्योंकि उस समय शरद् ऋतु में ही युद्ध होने के वर्णन पाये जाते हैं। इस प्रकार मैंने ११ वर्ष की अवस्था से २९ वर्ष की अवस्था तक कृष्ण का मथुरा में निवास तथा ३० वर्ष की अवस्था में रुक्मिणी से विवाह करना माना है।

दूसरी जो कठिनाई मेरे सामने उपस्थित हुई वह कथा का एक निश्चित रूप बनाना था। राम और कृष्ण की कथा प्राचीन ग्रन्थों में हर स्थान पर, एक-सी नहीं है। छोटे-मोटे पाठान्तर हों इतना ही नहीं, पर कई स्थल ऐसे हैं जहाँ मुख्य-मुख्य बातों में ही अन्तर है। दृष्टान्त के लिए कहीं शत्रुघ्न को कैकेयी का पुत्र माना गया है तो कहीं सुमित्रा का। इसी प्रकार जहाँ महाभारत, हरिवंश और भागवत् में राधा का नाम तक नहीं है वहाँ ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा ही सब कुछ हैं। कथा का निश्चित रूप देने में मुझे स्वतंत्रता लेनी पड़ी है, परन्तु मैंने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि

अपनी कथा का कोई न कोई प्राचीन आधार अवश्य रखूँ। इस सम्बन्ध में मेरा मत है कि किसी भी आधुनिक लेखक को यह अधिकार नहीं है कि पौराणिक कथा की छायामात्र लेकर, उसे तोड़-मरोड़कर, वह एक नयी कथा की ही रचना कर डाले। हाँ, किसी कथा के अर्थ (Interpretation) के सम्बन्ध में लेखक को स्वतंत्रता अवश्य रहती है। इस स्वतंत्रता का उपयोग मैंने भी किया है। राम तथा कृष्ण के अनेक कार्यों का जो अर्थ आजकल लगाया जाता है उससे मेरा मत-भेद होने के कारण, मेरे मतानुसार जो अर्थ युक्ति-संगत है, वही मैंने लगाया है। साथ ही, चूँकि मैंने राम और कृष्ण को इस नाटक में मनुष्य माना है, ईश्वर नहीं, इसलिए ऐसे स्थलों पर जहाँ राम और कृष्ण के कार्य ईश्वरीय कार्य जान पड़ते हैं मैंने उन कार्यों को ऐसा रूप देने का प्रयत्न किया है कि जिसमें वे मनुष्य के लिए असम्भव न जान पड़ें। फलतः मुझे राम-कथा में सीता की अग्नि-परीक्षा, सीता का पृथ्वी-प्रवेश, राम के साथ अवध की प्रजा का स्वर्गारोहण आदि, तथा कृष्ण-कथा में भी कृष्ण का गोवर्द्धन-धारण तथा रास-मण्डल में अनेक रूप लेने इत्यादि का वर्णन दूसरे ही प्रकार से करना पड़ा है। मैंने इस बात का भी उद्योग किया है कि दोनों चरित्रों की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का, किसी न किसी प्रकार, इस नाटक में समावेश हो जावे; पर, इस नाटक के दोनों भाग एक ही रात में खेले जा सकें इसलिए मैंने दोनों चरित्रों को बहुत संक्षेप से लिखा है। यह हो सकता है कि किसी पाठक को किसी चरित्र का कोई अंश आवश्यकता से अधिक विस्तृत तथा किसी को कोई अंश अत्यधिक संक्षिप्त जान पड़े, पर यह रुचि-विभिन्नता सदा ही रहती है और इस विषय में लेखक को अपनी रुचि के अनुसार ही चलना पड़ता है।

तीसरी कठिनाई मेरे सामने रामायण में वर्णित वानर-भालुओं के विषय में आयी। स्वाभाविकता के नाते वानर-भालुओं को वानर-भालुओं के समान-रूप में रंगमञ्च पर लाकर उनसे मनुष्य के सदृश बातचीत

नहीं करायी जा सकती और प्राचीन वर्णनों की सर्वथा अवहेलना कर उन्हें साधारण मनुष्यों के समान भी नहीं दिखाया जा सकता। रामायण में वर्णित वानर-भालु कौन थे इस सम्बन्ध में अब तक विद्वानों ने न जाने कितनी चर्चा की है। इनमें दो मत के लोगों की प्रधानता है—एक वे, जो यह मानते हैं कि ये मनुष्यों की जंगली जातियाँ थीं और वानर-भालु नाम से प्रसिद्ध थीं; दूसरे वे, जो यह मानते हैं कि ये मनुष्यों की जंगली जातियाँ थीं, पर, विशेष-विशेष अवसरों पर वानर-भालुओं का पूजन कर, उनके चेहरे और मूँछें लगाकर नृत्य आदि किया करती थीं। मैंने पहले प्रकार के विद्वानों के मत को मानकर वानर-भालुओं को मनुष्यों की जंगली जातियाँ माना है और उनके वर्ण तथा मुखाकृति को वानर-भालुओं से मिलता हुआ मान लिया है। हाँ, पूँछ को मैं कोई स्थान नहीं दे सका हूँ।

चौथी कठिनाई जो मेरे सम्मुख उपस्थित हुई वह वेश-भूषा की थी। यद्यपि रामायण और महाभारत-काल की वेश-भूषा के सम्बन्ध में, अब बहुत-कुछ लिखा जा चुका है तथापि अभी भी एक विषय विवाद-ग्रस्त है ही कि उस समय सिले हुए कपड़े पहने जाते थे या नहीं। अधिकांश विद्वानों की यही राय है कि भारतवर्ष में सुई नहीं थी अतः कपड़े सीने का प्रश्न ही नहीं था। परन्तु, यदि सुई नहीं थी तो चमड़े के जूते और युद्ध के समय हाथ में पहनने के दस्ताने किस वस्तु से सिंये जाते थे? चर्म के पद-त्राण और हाथ में पहनने के गोधांगुलिस्त्राण का वर्णन रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में, एक नहीं अनेक स्थलों पर, आया है। यह हो सकता है कि सिलाई की सुविधा होते हुए, आज भी, जिस प्रकार स्त्रियाँ बिना सिली हुई साड़ियाँ तथा पुरुष बिना सिली हुई धोतियाँ पहनते हैं, उसी प्रकार उस काल में स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ऊपर के अंग में भी बिना सिला कपड़ा पहनते हों। बहुत-कुछ सोचने-विचारने के पश्चात् मैंने इसी मत

को मानकर स्त्री-पुरुष दोनों की वेश-भूषा बिना सिले कपड़ों की ही रखी है। आभूषण पहनने की उस समय बहुत अधिक प्रथा थी, इसे सभी मानते हैं, अतः आभूषणों की मैंने भी प्रचुरता रखी है।

प्राचीन काल का दिग्दर्शन और भी अच्छा हो सके इसलिए सम्बोधन के अवसर पर मैंने प्राचीन सम्बोधनों का ही उपयोग किया है और भाषा में भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों से बचकर अधिकतर संस्कृत के शब्दों का ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार भावों में भी इस बात का ध्यान रखने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक काल का उनपर कम से कम प्रभाव पड़े। दृश्यों के वर्णन में भी इस बात पर लक्ष्य रखा है कि दृश्य प्राचीन काल के अनुरूप ही हों। इतने यत्नों के पश्चात् भी मैं इसे स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि जिस काल को मनुष्य ने देखा नहीं, जिस काल में वह रहा नहीं, उसका दिग्दर्शन कराना बहुत कठिन बात है। अत्यधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति ही यह कर सकते और समय-विपर्यय-दोष से बच सकते हैं। मेरे सदृश व्यक्ति का इस दिशा में पूर्णरीति से सफल होना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

बाल्यावस्था से जिन पाद-पद्मों की इस हृदय ने वन्दना की है, जो दो महान् जीवन, इस तुच्छ जीवन के आदर्श रहे हैं, उनके सम्बन्ध में, यह टूटी-फूटी रचना लिखने के कारण, मैं अपने को तथा अपनी समस्त रचनाओं को कृत-कृत्य मानता हूँ।

गोविन्ददास

नाटक के पात्र, स्थान



पूर्वार्द्ध—

पुरुष—

(१) **राम**—प्रसिद्ध मर्यादा-पुरुषोत्तम

(२) **लक्ष्मण**—राम के छोटे भाई

(३) **वसिष्ठ**—सूर्यवंश के कुल-गुरु

(४) **वाल्मीकि**—प्रसिद्ध ऋषि

(५) **शम्बूक**—शूद्र तपस्वी

स्त्री—

(१) **सीता**—राम की पत्नी

(२) **सरमा**—विभीषण की पत्नी

(३) **बासन्ती**—वाल्मीकि की पाली हुई कन्या

अन्य पात्र—

अयोध्या के पुरवासी, किष्किन्धा के वानर, भालु, लंका के राक्षस, प्रतिहारी

स्थान—अयोध्या, पंचवटी, किष्किन्धा, लंका, दण्डकारण्य, वाल्मीकि का आश्रम

उत्तरार्द्ध—

पुरुष—

(१) कृष्ण—प्रसिद्ध लीला-पुरुषोत्तम

(२) बलराम—कृष्ण के बड़े भाई

(३) उद्धव—कृष्ण के मित्र

(४) अर्जुन—प्रसिद्ध पाण्डव

स्त्री—

(१) राधा—कृष्ण की सखी

(२) रुक्मिणी—कृष्ण की पत्नी

(३) द्रौपदी—पाण्डवों की पत्नी

अन्य पात्र—

व्रजवासी गोप-गोपी, मथुरा तथा द्वारका के पुरवासी और भौमासुर के यहाँ की कन्याएँ

स्थान—गोकुल, मथुरा, द्वारका, कुण्डनपुर, प्राग्ज्योतिषपुर, इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, प्रभास-क्षेत्र

पूर्वार्द्ध

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—अयोध्या में राम के प्रासाद का एक कक्ष

समय—उषःकाल

[कक्ष पुराने ढंग का बना हुआ है। कक्ष की छत विशाल पाषाण स्तंभों पर स्थित है। प्रत्येक स्तंभ के नीचे गोल कमलाकार कुंभी (चौकी) और ऊपर गजशुण्ड के समान भरणी (टोड़ी) है। कुंभियों और भरणियों पर खुदाव है, जिसपर सुवर्ण का काम है और यत्र-तत्र रत्न जड़े हैं। तीन ओर भित्ति हैं, जो सुन्दर रंगों से रँगी हैं और चित्रकारी से भी विभूषित हैं। तीनों ओर की भित्ति में दो-दो द्वार हैं, जिनकी चौखटें और कपाट चन्दन के बने हैं। इन चौखटों और कपाटों में खुदाव का काम है और यत्र-तत्र हाथीदाँत लगा है। द्वार खुले हैं और इनसे बाहर के उद्यान का थोड़ा-थोड़ा भाग दिखायी देता है, जो उषःकाल के प्रकाश से प्रकाशित है। कक्ष की पृथ्वी पर केशरी रंग का बिछावन बिछा है। इसपर स्वर्ण की चौकियाँ रखी हैं, जिनपर गद्दे बिछे हैं और तकिये लगे हैं। चार चाँदी की दीवटों पर सुगन्धित तैल के दीप जल रहे हैं। राम

खड़े हुए आभूषण पहन रहे हैं। सीता पास में एक सुवर्ण के थाल में आभूषण लिए हुए खड़ी हैं। राम लगभग २५ वर्ष के अत्यन्त सुन्दर युवक हैं। वर्ण साँवला है। कटि से नीचे पीले रंग का रेशमी अधोवस्त्र धारण किये हैं। कटि के ऊपर का भाग खुला हुआ है। हाथों में सुवर्ण के रत्न-जटित वलय, भुजाओं पर केयूर और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ धारण किये हैं। ललाट पर केशर का तिलक है। सिर के लम्बे केश लहरा रहे हैं, पर मूँछें-दाढ़ी नहीं हैं। सीता लगभग १८ वर्ष की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर युवती हैं। नीली रेशमी साड़ी पहने हैं, और उसी रंग का वस्त्र वक्षस्थल पर बँधा है। रत्न-जटित आभूषण पहने हैं। ललाट पर इंगुर की टिकली और माँग में सेंदुर है। लम्बे बालों का जूड़ा पीछे बँधा है, जो साड़ी के वस्त्र से ढँका है। पैरों में महावर लगा है। दोनों के मुख पर हर्ष-युक्त शांति विराज रही है। सीता के नेत्र लज्जा से कुछ नीचे को झुके हुए हैं, जो उनकी स्वाभाविक मुद्रा जान पड़ती है।]

राम—(**हार पहन चुकने पर कुण्डल पहनते हुए**) देखना है, प्रिये, इस भारी उत्तरदायित्व को सँभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने में मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ। दायित्व ग्रहण करने के लिए एक पहर ही तो शेष है, मैथिली।

सीता—हाँ, नाथ, केवल एक पहर। सफलता के सम्बन्ध में प्रश्न ही निरर्थक है, आर्यपुत्र। यदि संसार में आपको ही अपने कर्तव्य में सफलता न मिली तो अन्य को मिलना तो असम्भव है।

राम—(**किरीट लगाते हुए**) परन्तु, वैदेही, किसी कार्य का उत्तर-दायित्व सँभालने के पूर्व वह कार्य जितना सरल जान पड़ता है उतना दायित्व ग्रहण करने के पश्चात् नहीं। महर्षि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा

के निमित्त जब मैं लक्ष्मण-सहित उनके संग गया था, उस समय मुझे वह कार्य जितना सरल भासता था, उतना सरल वह न निकला । फिर किसी कार्य को करने के पश्चात् उसके फल का शुभाशुभ प्रभाव हृदय पर पड़े बिना नहीं रहता । ताड़का की स्त्री-हत्या की ग्लानि को, यद्यपि वह पुण्य कार्य के लिए की गयी थी, मैं अब तक हृदय से दूर नहीं कर सका हूँ ।

सीता––परन्तु, आर्यपुत्र, प्रजा के पालन और रंजन के लिए तो इस प्रकार के न जाने कितने कार्यों को करना पड़ेगा ।

राम––(**पीत रेशमी उत्तरीय गले में डालते हुए**) हाँ, प्रिये, तभी तो कहता हूँ कि देखना है इस भारी उत्तरदायित्व को सँभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने में मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ । इस सूर्यवंश में महाराज इक्ष्वाकु, भगीरथ, दिलीप, रघु आदि अनेक प्रतापी, वीर, कर्तव्य-परायण और प्रजा-पालक राजा तथा सम्राट् हुए हैं । इस वंश का राज-भार सँभालने के लिए जैसे पुष्ट कन्धों, दीर्घ भुजाओं, दृढ़ और साथ ही साथ कोमल हृदय एवं स्पष्ट तथा विशद् मस्तिष्क की आवश्यकता है, ज्ञात नहीं, मेरे ये अवयव वैसे हैं या नहीं ।

सीता––मेरा इस संबंध में कुछ भी कहना पक्षपात ही होगा, नाथ ।

राम––(**चौकी पर बैठते हुए**) नहीं, मैथिली, यह बात नहीं है । सर्व-साधारण प्रत्येक वस्तु को प्रायः तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं; साधारण वस्तुओं के बीच कुछ भी विशेषता रखनेवाली वस्तु का आदर हो जाता है, पर मेरी परख तो सूर्यवंश के इन महा तेजस्वी रत्नों के बीच में मुझे रखकर की जायगी ।

सीता––(**दूसरी चौकी पर बैठकर**) और, नाथ, मुझे विश्वास है कि आप उनमें अद्वितीय निकलेंगे ।

राम—इसका क्या प्रमाण है, वैदेही ? सुबाहु और ताड़का का मैं वध कर सका एवं मारीच को मेरा वाण उठाकर कुछ दूर तक ले जा सका, जिससे महर्षि विश्वामित्र का यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ, क्या यही इसके लिए यथेष्ट प्रमाण हैं ? मैं धनुष-भंग कर तुम्हारा पाणि-ग्रहण कर सका, क्या इतने से ही यह बात मानी जा सकती है ? ये तो मेरे पाशविक बल के प्रमाण हैं। इससे मैं प्रजा का सुशासन कर सकूँगा यह तो सिद्ध नहीं होता।

सीता—क्यों, आर्यपुत्र, इतना ही क्यों ? पापिष्ठा अहल्या का आपने उद्धार किया; भगवत्-अवतार परशुराम पर आपने आत्मिक विजय पायी।

राम—इसमें केवल मेरी विशेषता ही नहीं है, मैथिली, इन बातों के अन्य कारण भी थे।

सीता—और, नाथ, आज सारी प्रजा आपको प्राणों से अधिक चाहती है, क्या आपके बिना किसी गुण के ही ?

राम—इसका कारण मुझसे की जानेवाली भविष्य की आशा ही है। न जाने प्रजा ने मुझसे अगणित आशाएँ क्यों बाँध रखी हैं।

सीता—इसका कारण आप नहीं जान सकते, आर्यपुत्र, पर आपके आत्मीय जानते हैं; आपकी प्रजा, गुरु, माता-पिता, भ्राता जानते हैं, और मैं जानती हूँ, नाथ। निसर्ग ने आपको जैसा हृदय, मस्तिष्क और पराक्रम दिया है वैसा यदि अन्य को मिलता तो वह फूला न समाता, गर्व से उसका मस्तिष्क सातवें लोक को पहुँच जाता, परन्तु आपकी तो दृष्टि तक अपने गुणों की ओर नहीं जाती। अन्य को अपने राई-समान सुगुण भी पर्वताकार दिखते हैं, परन्तु आपको तो अपने पर्वताकार

सुगुण राई-तुल्य भी नहीं दिखते। अपने प्रति यह विराग ही तो इस सुगुण रूपी स्वर्ण-मन्दिर का रत्न-जटित कलश है। लोकोपकार में आपका सारा समय व्यतीत होता है, आर्यपुत्र। कर्तव्य ही आपके दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न है।

राम—तुम सबों का मुझमें इस प्रकार के गुणों का अवलोकन और इसके आधार पर मुझसे महान् आशाएँ ही तो मुझे अधिक शंकित बनाये रहती हैं। प्रिये, जिससे जितने अधिक ऊँचे उठने की आशा की जाती है, उसका मार्ग उतना ही अधिक कठिन और दुस्तर हो जाता है। जब वह अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर दृष्टि फेंकता है तब उसकी अत्यधिक उँचाई देख उसे अनेक बार शंका हो उठती है कि वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकेगा या नहीं।

सीता—यह शंका उन्हीं के हृदय में अधिक उठती है जो उस स्थान तक पहुँचने की क्षमता रखते हैं। समर्थ ही सदा शंकित रहता है, असमर्थ को तो कोई भी वस्तु सामर्थ्य के बाहर दृष्टिगोचर नहीं होती।

राम—पर, मैथिली, आदर्श ऊँचा, बहुत ऊँचा है। प्रजा में कोई भी मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से दुखी न रहे; अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए राजा को अपने सर्वस्व की आहुति देनी पड़े तो भी वह पीछे न हटे; राजा के लिए कहीं भी, किसी प्रकार की भी, बुरी आलोचना और अपवाद न सुन पड़े। वैदेही, यह महान् उच्च आदर्श है।

सीता—जो स्वयं जितना उच्च होता है उसका आदर्श भी उतना ही ऊँचा रहता है।

राम—देखना है, प्रिये, कितना कर पाता हूँ। पिताजी आज अभिषेक के उत्तरदायित्व के अनुष्ठान का भी आरम्भ कर देंगे। सन्तोष

इतना ही है कि फिर भी पिताजी और गुरुजी की अनुभव-शील सम्मति पथ-प्रदर्शक रहेगी; भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न सदृश भ्राता सहायता करेंगे; तीन तीन पूजनीय माताओं का आशीर्वाद और तुम्हारा प्रेम साथ में होगा। वैदेही, पूज्यपाद दिलीप महाराज को उनकी सन्तान-कामना के अनुष्ठान में जितनी सहायता महारानी सुदक्षिणा से मिली थी, मुझे तुमसे, मेरी कर्तव्य-पूर्ति में, उससे कहीं अधिक मिलनी चाहिए।

[नेपथ्य में वाद्य बजता है।]

राम—(खड़े होकर) यह लो, उषःकाल की प्रार्थना का समय भी हो गया।

[सीता भी खड़ी हो जाती हैं। नेपथ्य में गान होता है।]

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते।
धुर्यां लक्ष्मीमिह मयि भृशं धेहि देव प्रसीद॥
यद् यद् पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे।
भद्रं भद्रं वितर भगवन् भूयसे मंगलाय॥

[प्रतिहारी का प्रवेश। प्रतिहारी ऊँचा और मोटा वृद्ध व्यक्ति है। केश श्वेत हो गये हैं। सिर के बाल लम्बे हैं, और दाढ़ी लंबी है। शरीर के ऊपर के भाग में कंचुक (एक प्रकार का लंबा वस्त्र) और नीचे के भाग में अधोवस्त्र धारण किये है। सिर पर श्वेत पाग है। सुवर्ण के भूषण पहने है। दाहने हाथ में ऊँची सुवर्ण की छड़ी है।]

प्रतिहारी—(सिर झुकाकर अभिवादन कर) श्रीमन्, महामंत्री सुमन्त्र पधारे हैं। श्रीमान् महाराजाधिराज स्वस्थ नहीं हैं, अतः आपका स्मरण किया है।

राम—(चौंककर) अच्छा! मैं अभी उपस्थित होता हूँ।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर प्रस्थान ।]

सीता—(घबड़ाकर) शुभ अवसर पर यह अशुभ संवाद !

राम—इस संवाद को सुन, ज्ञात नहीं, क्यों मेरे हृदय में अनेक बुरी-बुरी कल्पनाएँ उठती हैं। (कुछ ठहरकर खड़े होते हुए) अच्छा, प्रिये, मैं चलता हूँ।

सीता—(खड़ी होती हुई) प्राणनाथ, मुझे सारा संवाद किस प्रकार विदित होगा ?

राम—या तो किसी विश्वासपात्र जन के द्वारा सूचना दूँगा अथवा मैं ही लौटूँगा या तुम्हें बुलवाऊँगा।

[राम का प्रस्थान। परदा गिरता है ।]

दूसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[दूरी पर अनेक खण्डों के भवन दीख पड़ते हैं। एक ओर से दौड़ते हुए एक, और दूसरी ओर से आते हुए दो पुरवासियों का प्रवेश। पुरवासी श्वेत अधोवस्त्र और उत्तरीय पहने हैं। सिर नंगा है, जिसपर बड़े बड़े केश लहरा रहे हैं। मस्तक पर तिलक लगा है। कानों में स्वर्ण के कुण्डल, गले में हार, भुजाओं पर केयूर, हाथों में वलय और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ हैं।]

एक—(दूसरी ओर से आनेवाले दोनों से) तुमने सुना, क्या अघटित घटना घटी ?

दूसरा—आज आनन्द के दिन रामाभिषेक के सम्बन्ध में ही और कोई आनन्ददायक घटना घटित हुई होगी।

पहला—(लम्बी साँस लेकर) वही होता तो क्या पूछना था, बन्धु, पर दैव बड़ा दुष्ट है।

तीसरा—(घबड़ाकर) क्यों, क्यों, क्या हुआ ? राजवंश में तो सब कुशल है ?

पहला—(लम्बी साँस लेकर) नहीं।

दूसरा—(घबड़ाकर) नहीं! इसका क्या अर्थ? तुरंत कहो, तुरंत।

तीसरा—(घबड़ाये हुए) महाराज तो प्रसन्न हैं? रानियाँ तो प्रसन्न हैं? जिन अनुपमेय राम और सीता के दर्शन कर हम लोग नित्य कृतार्थ होते हैं, जो निशिदिन हमारे कल्याण की चिन्ता में मग्न और हमारे हित के लिए भटकते रहते हैं, वे तो आनन्द-पूर्वक हैं न ?

दूसरा—वीरवर लक्ष्मण तो कुशल से हैं? पुण्यात्मा भरत और शत्रुघ्न के तो ननिहाल से कोई अशुभ समाचार नहीं आये?

पहला—(लम्बी साँस लेकर) अब सब अशुभ ही अशुभ है। न जाने कितनी प्रतीक्षा के पश्चात् जो शुभ घड़ी आज दृष्टिगोचर होती, वही जब न होगी, तो फिर शुभ क्या है?

दूसरा—(अत्यन्त घबड़ाकर) पर हुआ क्या? तुम लम्बी साँसें ले रहे हो, पर बतलाते कुछ नहीं।

तीसरा—(**घबड़ाहट के मारे जल्दी-जल्दी**) मेरे प्राण मुँह को आ रहे हैं। तुरन्त कहो, बन्धु, तुरन्त, शीघ्रातिशीघ्र कहो।

पहला—(**नेत्रों में आँसू भरकर**) युवराज-पद के स्थान पर महाराज ने········। (**उसका गला भर आता है।**)

दूसरा—(**टहलते हुए**) हाँ, महाराज ने, क्या? शीघ्र कहो, नहीं तो हम ही दौड़ते हुए डचोढ़ी को जाते हैं।

पहला—(**भर्राये हुए स्वर में**) नहीं कहा जाता, बन्धु, नहीं कहा जाता। क्या कहूँ! हा! सुनने के पूर्व ही प्राण क्यों न निकल गये।

[जिधर से एक पुरवासी आया था उसी ओर से दौड़ते हुए एक का और प्रवेश। इसकी वेश-भूषा भी पहले पुरवासियों की-सी है।]

पहला—(**आगन्तुक से**) क्यों पूछ आये?

आगन्तुक—हाँ, सच है।

दूसरा—क्या, कुछ हमें भी तो बताओ?

तीसरा—(**पहले की ओर संकेत कर**) ये भी नहीं बता रहे हैं।

आगन्तुक—क्या बताऊँ, अनर्थ हो गया; घोर अनर्थ। अवध की प्रजा के भाग्य फूट गये। राज्याभिषेक के स्थान पर महाराज ने राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया और भरत को राज्य!

दूसरा—क्या कहा? राम को वनवास! (**सिर पकड़कर बैठ जाता है।**)

तीसरा—और भरत को राज्य!

आगन्तुक—(**लम्बी साँस लेकर**) हाँ, वन्धु, यही। (**पहले की ओर

संकेत कर) जब इन्होंने मुझसे यह वृत्त कहा तब मैंने भी इस संवाद पर विश्वास न किया था, मैं स्वयं ड्योढ़ी पर गया और सुन आया कि यह सत्य है।

दूसरा—कारण क्या? महाराज तो राम से अत्यन्त प्रसन्न थे।

पहला—महाराज का दोष नहीं है; भरत का षड्यन्त्र सफल हो गया।

आगन्तुक—नहीं, नहीं, भरत को क्यों दोष देते हो? उनकी माता के अपराध के कारण उनको दोष देना अन्याय है।

तीसरा—अच्छा, तो कैकेयी महारानी दोषी हैं?

पहला—कैकेयी का तो नाम है; मेरा तो विश्वास है कि सारी विष-बेलि भरत की बोयी हुई है।

दूसरा—अच्छा तो सारा वृत्त तो कहो कि क्या हुआ?

आगन्तुक—सारे वृत्तान्त के कहने का तो मुझमें भी साहस नहीं है और न अभी ज्ञात ही है। संक्षेप में यही है कि कैकेयी महारानी को महाराज ने कभी दो वर देने का वचन दिया था, रात्रि को जब महाराज शयनागार में गये तब महारानी ने राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राज्य देने के दो वर माँगे। महाराज की सत्यवादिता तो विख्यात ही है; महाराज को अपना वचन पूर्ण करना पड़ा। राम अभी महाराज के निकट गये थे, उन्होंने वन जाने की प्रतिज्ञा की है और वे जाने को प्रस्तुत होने के लिए अपने········। **(इतना कहते-कहते उसका गला भर आता है, कुछ ठहरकर वह फिर कहता है)** पतिव्रता सीता देवी और भ्रातृवत्सल लक्ष्मण भी उनके साथ जायँगे।

पहला—(**आश्चर्य से**) अच्छा ! यह मुझे भी ज्ञात नहीं था। उन्हें भी वनवास दिया गया है ?

आगन्तुक—नहीं, और राम ने बहुत चाहा कि वे संग न जावें, पर दोनों ने नहीं माना; अन्त में राम ने स्वीकृति दे दी। राम माता से भी आज्ञा ले आये हैं और लक्ष्मण भी।

दूसरा—आह ! सीता देवी चौदह वर्ष वन में !

तीसरा—महान् अनर्थ है ! (**क्रोध से**) मैं भी मानता हूँ कि यह सब भरत, शत्रुघ्न और कैकेयी के षड्यन्त्र से हुआ है; वे दोनों ननिहाल चल दिये और माँ को आगे कर दिया।

दूसरा—यदि यह सत्य हुआ तो हम लोग विप्लव करेंगे।

आगन्तुक—बन्धु, उत्तेजना में मनुष्य सत्य बात का निर्णय कभी नहीं कर सकता। मुझे विश्वास है कि पुण्यात्मा भरत से यह होना सम्भव नहीं है; फिर सच बात तो प्रकट होकर ही रहेगी; और हमारे लिए तो राम और भरत दोनों समान हैं, परन्तु············।

पहला—(**क्रोध से**) कभी नहीं, राम और भरत कभी समान नहीं हो सकते।

दूसरा—(**और भी क्रोध से**) असम्भव है।

तीसरा—(**अत्यन्त क्रोध से**) नितान्त।

आगन्तुक—पर इसके निर्णय का तो यह समय नहीं है। जब भरत सिंहासनासीन होने लगेंगे, उस समय प्रजा अपने कर्तव्य का निर्णय करेगी। मैं तो यह कह रहा था कि यदि कैकेयी भरत को राजा ही बनाना चाहती थीं, तो वे बनवातीं, पर राम को वनवास क्यों ? राम का स्वभाव तो

ऐसा है कि वे भरत को सहर्ष राज्य दे देते। प्रजा से राम का यह वियोग क्यों कराया जा रहा है?

पहला—(**शोक से**) हाँ, वन्धु, क्या वृद्ध, क्या युवा, क्या बालक, क्या नर, क्या नारी सभी को राम एक-से प्रिय हैं।

तीसरा—(**शोक से**) इसमें कोई सन्देह नहीं। जहाँ वे जाते हैं, घड़ियों तक नर-नारियाँ उसी मार्ग को देखा करते हैं, उन्हीं की चर्चा होती है। कौन वैसी प्रजा-सेवा करेगा?

पहला—(**आँसू भरकर**) ओह! चौदह वर्ष उनके दर्शन न होंगे। महाराज, महारानी कौशल्या और सुमित्रा तथा उर्मिला देवी कैसे जीवित रहेंगी?

दूसरा—पर देखें, वे कैसे जाते हैं? सारे अयोध्या-निवासी उनके रथ को रोक लेंगे; घोड़ों को पकड़ लेंगे; रथ के चकों को नहीं छोड़ेंगे; देखें, उनका रथ कैसे चलता है?

तीसरा—हाँ, हाँ, वे यदि पैरों जाने का उद्योग करेंगे तो वह भी न करने देंगे; उनके सम्मुख लेट जायँगे। राम ऐसे निर्दयी नहीं हैं कि मनुष्यों को कुचल कर जावें।

पहला—चलो, चलो, सारे पुर में सूचना करें; सारे पुरवासी ड्योढ़ी को चलेंगे।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या में राजप्रासाद के बाहर का राज-मार्ग

समय—प्रातःकाल

[सामने दूरी पर अनेक खण्डों का ऊँचा राजप्रासाद दिखता है। मार्ग के दोनों ओर अनेक खण्डों के भवन बने हैं। मार्ग जन-समुदाय से भरा है। वृद्ध, युवा, बालक, स्त्रियाँ सभी दृष्टिगोचर होते हैं। पुरुष और बालक उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हैं। स्त्रियाँ और बालिकाएँ साड़ी पहने और वक्षस्थल पर वस्त्र बाँधे हैं। सभी आभूषण धारण किये हैं। किसी के आँसू बह रहे हैं, कोई इधर-उधर दौड़ रहा है। बड़ा हल्ला हो रहा है। कभी-कभी हल्ला कम होता है और तरह-तरह के शब्द सुनायी देते हैं।]

एक—राज्याभिषेक के स्थान पर वन-गमन हुआ।

दूसरा—दैवी माया सचमुच बड़ी अद्‌भुत है।

पहला—हा! आज अवध का राज्य अनाथ हो जायगा।

दूसरा—न जाने, राजा को क्या सूझा है?

एक वृद्धा—फिर हमें उनके मुख न दिखेंगे, क्यों?

[कुछ देर तक हल्ले में कुछ सुनायी नहीं देता, फिर कुछ शान्ति होती है।]

एक—अब उनका जा सकना असम्भव है।

दूसरा—यदि वे चाहें तो उनका रथ या उनके पैर अगणित प्रजा को रौंदकर अवश्य जा सकते हैं।

तीसरा—यह भी सम्भव नहीं है, जहाँ तक वे जायँगे, हम पीछा करेंगे।

एक स्त्री—अरे, स्त्रियाँ तक दौडेंगी।

एक बालक—और बालक भी।

[राजप्रासाद के महाद्वार से एक रथ निकलता है। छतरीदार रथ है। रथ में चार घोड़े जुते हैं। सामने सारथी बैठा है जो श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है तथा सुवर्ण के आभूषण पहने है। रथ पर चमड़ा मढ़ा है और चमड़े पर सोना-चाँदी लगा है। रथ की छतरी पर रंगीन चित्रित ध्वजा उड़ रही है। फिर हल्ला होता है। रथ पर भूषणों से रहित, वल्कल-वस्त्र पहने राम और लक्ष्मण बैठे हैं। सीता अपनी साधारण वेश-भूषा में बैठी हैं और महर्षि वसिष्ठ भी हैं। लक्ष्मण का स्वरूप राम से मिलता हुआ है, पर वे गौर वर्ण हैं। वसिष्ठ वृद्ध हैं, फिर भी केशों की श्वेतता के अतिरिक्त वृद्धावस्था का कोई प्रभाव शरीर और मुख पर नहीं है। उनका शरीर गौर वर्ण का सुडौल है। सिर पर जटा बँधी है और लम्बी श्वेत दाढ़ी है। वस्त्र वल्कल के हैं। रथ को सारथी धीरे-धीरे आगे बढ़ाता है। कुछ देर पश्चात् सुन पड़ता है।]

वसिष्ठ—(राम से) इस अपार जन-समुदाय के बीच से कैसे निकल सकोगे, राम?

राम—(लम्बी साँस लेकर) आपके प्रयत्न से, प्रभो। अपने पर प्रजा का यह अत्यधिक प्रेम देख, इनके वियोग से क्या मुझे दुःख न होगा? परन्तु पूज्यपाद पिताजी की आज्ञा का तो अक्षरशः पालन करूँगा, भगवन।

[जैसे ही रथ आगे बढ़ता है कुछ लोग कहते हैं।]

एक—अब रथ आगे नहीं बढ़ सकता।

दूसरा—असम्भव है।

तीसरा—सर्वथा असम्भव है।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् सुनायी देता है।]

एक—क्या आप इतने जन-समुदाय की इच्छा के विरुद्ध कार्य करेंगे, स्वामिन्?

दूसरा—प्रजा-रंजन सूर्य-वंशियों का प्रथम कर्तव्य है।

तीसरा—धर्म है, धर्म।

[फिर भी रथ कुछ और आगे बढ़ता है। फिर हल्ला होता है। कई पुरवासी आगे बढ़, घोड़ों की रास और रथ के चके पकड़, रथ को रोक लेते हैं। एक अत्यन्त वृद्ध पुरवासी आगे बढ़ता है।]

वृद्ध—(नेत्रों में आँसू भर) कहाँ, कहाँ जाते हो, राम? इन वस्त्रों को पहनकर कहाँ जाते हो? सूर्य-वंशी राजाओं और सम्राटों को चौथेपन में मैंने ये वस्त्र पहने, वन जाते, रानियों को वन में संग ले जाते, देखा है, पर इस अवस्था में नहीं, राम, इस अवस्था में नहीं।

एक वृद्धा—(आगे बढ़ रोती हुई सीता से) पुत्री, तू कहाँ जायगी? तू वन को जायगी! वृद्ध सास-ससुर को, हम सबको छोड़ तू वन को जायगी! यह नहीं होगा, कभी नहीं होगा। हम अवध-निवासी वृद्धाओं के प्राण रहते कभी नहीं होगा।

[फिर हल्ला होता है, थोड़ी देर कुछ सुनायी नहीं देता, फिर सुन पड़ता है।]

एक ब्राह्मण—(आगे बढ़ वसिष्ठ से) भगवन्, यह कहाँ की नीति है? कहाँ का धर्म है? आपके कुल-गुरु होते हुए यह अनीति, यह अधर्म!

एक युवक—(आगे बढ़) और प्रजा की इस आज्ञा के सम्मुख अकेले

महाराज दशरथ की आज्ञा कौनसी वस्तु है ? **(वसिष्ठ से)** प्रभो, इस सूर्यवंश के राजाओं ने, जो प्रजा को प्रिय रहा है, वही किया है। महाराज दशरथ हमारे नरेश हैं, पूज्य हैं, परन्तु उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे हमारी इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार का कार्य करें।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् फिर सुनायी देता है।]

एक स्त्री—जिस वैदेही ने पिता और ससुर के घर में पृथ्वी पर पैर नहीं रखा, वह वन की पथरीली, कँकरीली और काँटों की भूमि में भटकेगी !

दूसरी स्त्री—वन की शीत, ताप और वर्षा सहन करेगी !

तीसरी स्त्री—सीता देवी के कष्टों की ओर ही देखकर न जाओ, युवराज !

एक बालक—(आगे बढ़ सीता से) मैं तो राजभवन में बहुत आता था, आप तो मेरे साथी बालकों को और मुझे विविध प्रकार के मिष्टान्न देती थीं, क्या हम बालकों को छोड़कर आप चली जायँगी ? आप ही **(राम की ओर संकेत कर)** इन्हें रोकिए, देवि।

एक युवक—(आगे बढ़ लक्ष्मण से) वीरवर, आपके अग्रज ने आपका कहना कभी नहीं टाला। आप ही हम लोगों की ओर से इन्हें समझाइए।

दूसरा युवक—(लक्ष्मण से) पिता की आज्ञा मानना यदि धर्म मान लिया जाय तो एक ओर पिता की आज्ञा है और दूसरी ओर इस अपार जन-समुदाय का सन्तोष।

एक वृद्ध—नहीं, नहीं, इस जन-समुदाय की प्राण-रक्षा। अवध में बिना तुम लोगों के दर्शन के कोई जीवित न बचेगा।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् सुनायी देता है।]

राम—(दुःखित हो वसिष्ठ से) भगवन्, सचमुच यह तो बड़ी कठिन समस्या है; आप ही इससे उद्धार कीजिए। इस अपार जन-समुदाय का यह करुण-क्रन्दन तो असह्य है।

[वसिष्ठ बोलने के लिए रथ पर खड़े होते हैं। उन्हें खड़े देख प्रजा चुप हो जाती है।]

वसिष्ठ—पुरवासी नर-नारियो, राम के प्रति तुम्हारा यह अगाध प्रेम केवल सराहनीय न होकर अभूतपूर्व है; परन्तु, बन्धुओ, यदि प्रेम मोह में परिणत हो जावे तो वह दुःखप्रद हो जाता है। राम के प्रति तुम्हारा प्रेम सराहनीय है, पर मोह सराहनीय नहीं है। यदि मोह के वशीभूत होकर तुम कर्तव्य-च्युत हो जाओ, या तुम्हारे कारण राम को कर्तव्य-च्युत होना पड़े, तो वह न तुम्हारे लिए सराहनीय बात होगी और न राम के। पिता की आज्ञा मानना राम का धर्म है।

एक व्यक्ति—पर, यह आज्ञा अनुचित है।

बहुत से व्यक्ति—नितान्त अनुचित।

वसिष्ठ—क्या अनुचित और क्या उचित है, इसकी मीमांसा, इस वृहत् जन-समुदाय में, ऐसे समय होना जब कि किसी की भी बुद्धि ठिकाने नहीं है, सम्भव नहीं। विषय क्या है, उसे थोड़ा सोचो। महाराज दशरथ ने महारानी कैकेयी को दो वर देने का वचन दिया; वे अपने वचन से बद्ध हैं। महाराज के वचन की सिद्धि राम की कृति पर अवलम्बित है, और राम का पुत्र के नाते कर्तव्य है कि वे अपने पिता के वचन को सत्य कर दें। यह तुम्हारे सहयोग पर निर्भर है, अतः इस समय राम का वन जाना और तुम्हारा इनके मार्ग में आड़े न आना ही धर्म है। **(वसिष्ठ बैठ जाते हैं।)**

एक युवक—(आगे बढ़ जोर से) यदि यह मान भी लिया जाय कि इस समय राम का धर्म वन जाना है, तो लक्ष्मण और सीता का तो नहीं है ?

दूसरा युवक—कदापि नहीं।

पहला युवक—वे तो राम के संग जा रहे हैं।

तीसरा युवक—साथी की दृष्टि से ?

पहला—हाँ, साथी की दृष्टि से। तो बस हम सब भी वन जायँगे। अवध के निवासी वहीं बसेंगे, जहाँ राम होंगे।

कुछ व्यक्ति—बस, यही ठीक है। राम अपने धर्म का पालन करें और हम अपने धर्म का करेंगे।

[फिर हल्ला होता है।]

पहला युवक—**(आगे बढ़ जोर से)** अच्छा, बन्धुओ, घोड़ों को छोड़ दो; रथ चले, हम सब पीछे-पीछे चलेंगे।

[लोग घोड़ों और रथ को छोड़ देते हैं। रथ धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। जन-समुदाय कोलाहल करता हुआ पीछे-पीछे चलता है। राम, सीता, लक्ष्मण और वसिष्ठ दुःखित दृष्टि से सबकी ओर देखते हैं।]

यवनिका—पतन

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान---पंचवटी

समय---सन्ध्या

[गोदावरी के किनारे राम की पर्णकुटी है । गोदावरी का श्वेत नीर डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों में चमक रहा है। चारों ओर सघन वन दृष्टि-गोचर होता है। वृक्षों के ऊपरी भाग भी सूर्य की किरणों से पीले हो रहे हैं। अनेक प्रकार के पुष्पों के वृक्ष कुटी के चारों ओर लगे हैं। कुटी के बाहर, चट्टानों पर मृगचर्मों को बिछा, राम, लक्ष्मण और सीता बैठे हुए हैं। राम और लक्ष्मण की जटाएँ बहुत बढ़ गयी हैं, जिनका मुकुट के सदृश जूड़ा सामने बँधा है। दोनों के वस्त्र वल्कल के हैं और सीता के नील रेशमी। सीता आभूषण भी धारण किये हैं। राम और लक्ष्मण के निकट ही उनके धनुष रखे हैं, तथा बाणों के तरकस। इनके निकट ही, हाथ में पहनने के, गोह के चमड़े के बने हुए, गोधांगुलिस्त्राण भी रखे हैं।

बीच में एक छोटासा लता-मंडप है। मंडप के चारों ओर पत्रों तथा पुष्पों का बन्दनवार बँधा है। मंडप के बीच अग्निहोत्र की वेदी में से थोड़ा-थोड़ा धूम उठ रहा है। आश्रम के चारों ओर वृक्षों पर तोते आदि पक्षी दिखाई देते हैं। एक पालतू मृगी सीता के पास बैठी है, जिसका सिर सीता सुहला रही हैं। तीनों सन्ध्या की प्रार्थना में गायन गा रहे हैं।]

रविभा विशते सतां क्रियायै।
सुधया तर्पयते पितृन्सुरांश्च॥
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे।
हरचूड़ानिहितात्मने नमस्ते॥

राम—(**गायन पूर्ण होने पर**) सन्ध्या की प्रार्थना के संग ही आज वनवास की तेरहवीं वर्ष गाँठ का उत्सव भी समाप्त होता है, वैदेही, अब कहो, इस उत्सव के उपलक्ष में तुम्हें क्या भेंट दी जाय?

सीता—नाथ, इस तेरह वर्षों के आपके संग और इन वनों के नित-नये विहारों की स्मृति क्या छोटी भेंट है? फिर भेंट तो आपके चरणों में आज मुझे अर्पित करनी चाहिए।

राम—तुम तो मुझे सभी भेंट कर चुकी हो, प्रिये। क्या और कुछ भेंट करने को शेष है? अयोध्या के राजप्रासाद में तुम आनन्द-पूर्वक निवास कर सकती थीं, या अपने पिता के राजभवन को जा सकती थीं, दोनों ही स्थानों पर सभी प्रकार के आहार-विहार थे, परन्तु कहाँ? तुम तो तेरह वर्षों से, प्रति वर्ष कपकपानेवाली शीत, झुलसानेवाली लू और पचासों जगह टपकनेवाली इस पर्णकुटी में वृष्टि को सहन कर रही हो। चार पग भी चलने से जो पैर दुखने लगते थे वे पथरीली और काँटोंवाली भूमि में योजनों चल चुके हैं। वन की पवन से सारा शरीर रूखा हो गया है और मुख क्या वैसा है, जैसा अयोध्या छोड़ने के पूर्व था? क्या कहूँ?

सीता—परन्तु आपके बिना अयोध्या अथवा मिथिला के वे राज्य-वैभव मुझे क्या सुख देते, आर्यपुत्र ? मैं सत्य कहती हूँ, इन तेरह वर्षों का, वन का, यह सुख मैं जीवन भर न भूलूँगी।

राम—**(लक्ष्मण से)** लक्ष्मण, वधू उर्मिला क्या सोचती होगी ? तुम तो हठ कर मेरे संग आ ही गये, पर वह मुझे अवश्य शाप देती होगी। वधू उर्मिला और पूज्यपाद सुमित्रा का जब स्मरण आता है तब मैं उद्विग्न हो उठता हूँ।

लक्ष्मण—मुझे विश्वास है, तात, आपके संग मेरे आने से उन्हें दुःख नहीं, आनन्द, असीम आनन्द होगा।

राम—**(लम्बी साँस लेकर)** इन तेरह वर्षों के पूर्व का, आज का दिवस फिर दृष्टि के सम्मुख घूम रहा है। पिताजी की वह आतुरता, प्रजा का वह करुण-क्रन्दन ! आह ! यदि दूसरे दिन रात्रि को ही सबके सोते हुए हम लोगों ने रथ न चला दिया होता तो क्या लोग अयोध्या लौटते ? न जाने क्या होता ? उसके पश्चात् भी क्या न हुआ। मेरे वियोग में पिताजी का स्वर्गारोहण, भरत का नन्दीग्राम में तप करना। कुछ ही दिन नहीं हुए, सुना था कि तेरह वर्ष बीत जाने पर भी अब तक अवध में कोई उत्साह-पूर्ण कार्य नहीं होता; न जन्म में उत्सव होता है, न विवाह में। एक मनुष्य के लिए करोड़ों का यह क्लेश !

लक्ष्मण—पर किस एक मनुष्य के लिए, आर्य ? उसके लिए जिसने बिना उत्तरदायित्व के ही प्रजा की सेवा में अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया था; उसके लिए जिसने अपने कर्तव्य के सम्मुख राज-पाट, धन-वैभव, आनन्द-विहार सबको तुच्छ माना; सबको ठुकरा दिया। प्रजा के आप प्राण हैं, तात, प्रजा आपके बिना निर्जीव है।

सीता—मुझे तो जब आपने चित्रकूट से भरत आदि कुटुम्बीजनों

एवं प्रजा को लौटाया था, उस समय की उनकी मुख-मुद्रा विस्मृत नहीं होती। जान पड़ता था, मानों हमने उनका सर्वस्व हरण कर उन्हें लौटाया हो।

लक्ष्मण—और, आर्य, मुझे वह दृश्य अब तक खटक रहा है जब आपने पूज्यपाद कौशल्या के भी पूर्व कैकेयी के चरणों का स्पर्श किया था।

राम—(**मुस्कराकर**) लक्ष्मण, अनेक बार तुम इस बात को कह चुके हो और मैं तुम्हें समझा भी चुका, पर पूज्यपाद कैकेयी के प्रति क्रोध तुम्हारे हृदय से नहीं जा रहा है। क्या कहूँ? वत्स, इसमें उनका दोष नहीं था। दैवी प्रेरणाओं से अनेक बार मनुष्य कुछ का कुछ कर डालते हैं। देखा नहीं, उन्हें कितना पश्चात्ताप था?

लक्ष्मण—एक वर्ष और शेष है, तात। एक वर्ष में सबके पश्चात्ताप और दुःख दूर हो जायँगे।

राम—परन्तु न जाने, लक्ष्मण, बार-बार क्यों मेरे हृदय में उठता है कि अभी और अनर्थ होना है। जब अभिषेक को एक पहर ही था तब चौदह वर्ष के लिए वन को आना पड़ा, अब बनवास का एक वर्ष शेष है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है इस एक अंक में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य है। मुझे बार-बार भासता है कि यह एक वर्ष उस प्रकार न बीतेगा जैसे ये तेरह वर्ष व्यतीत हुए हैं।

[दूरी पर सुनहरे चर्म का एक मृग दिखता है।]

सीता—(**मृग देखकर**) नाथ, आप पूछते थे कि वनवास की तेरहवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष में मुझे आप क्या देवें? यह लीजिए, दण्डकारण्य के इस विचित्र मृग को देखिए। इसका चर्म मुझे ला दीजिए। आर्यपुत्र, इसके चर्म पर विराजमान आपके दर्शन कर मुझे विशेष आनन्द होगा।

राम——(**मृग को देख, गोधांगुलिस्त्राण हाथ में पहिन, धनुष उठाते और तरकस बाँधते हुए**) हाँ, प्रिये, मृग अवश्य अद्‌भुत है। मैं अभी इसे मार लाता हूँ। (**लक्ष्मण से**) लक्ष्मण, जब से शूर्पनखा के नाक-कान काटे गये हैं और जनस्थान के खर, दूषण आदि का वध हुआ है तब से राक्षस चारों ओर बहुत घूम रहे हैं, यहाँ से न हटना और सावधान रहना।

[**राम का प्रस्थान। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। अँधेरा होने लगता है।**]

सीता——(**चारों ओर देखकर**) अँधेरा हो चला है; मैंने अच्छा नहीं किया जो आर्यपुत्र को इस समय उस मृग के पीछे भेजा।

लक्ष्मण——आप चिन्तित न हों, अंब। तात के लिए मैं कहीं और किसी परिस्थिति में भी भय का कोई कारण नहीं देखता।

[**कुछ देर निस्तब्धता रहती है। और अँधेरा हो जाता है।**]

सीता——बहुत देर हो गयी, वे अब तक नहीं लौटे।

लक्ष्मण——आते ही होंगे, आप तनिक भी चिन्ता न करें।

[**फिर कुछ देर निस्तब्धता रहती है। कुछ देर पश्चात् नेपथ्य में शब्द होते हैं——'लक्ष्मण! हा! लक्ष्मण!' 'लक्ष्मण! मैं मरा, दौड़ो!' 'मुझे बचाओ, बचाओ!'**]

सीता——(**घबड़ाकर**) यह कैसा शब्द! यह कैसा शब्द, लक्ष्मण?

लक्ष्मण——(**प्रथम चौंक, फिर शान्त हो**) कोई राक्षसी माया है। आर्ये, तात के लिए कोई भय सम्भव नहीं।

सीता——(**बहुत ही घबड़ाकर खड़ी हो**) नहीं, नहीं, लक्ष्मण, तुम जाओ, तत्काल जाओ। वह आर्यपुत्र का, ठीक उन्हीं का स्वर था। उन-पर कोई भारी आपत्ति है।

लक्ष्मण—मैं कहता हूँ उनपर ऐसी आपत्ति आना असम्भव है। देवि, मैं आपको अकेला छोड़कर कैसे जा सकता हूँ? स्मरण नहीं है, वे जाते समय मुझे क्या कह गये थे?

सीता—(उत्तेजित होकर) मैं आज्ञा देती हूँ तुम जाओ, तत्काल जाओ। एक पल का विलम्ब न करो, एक पल का भी नहीं।

लक्ष्मण—किन्तु........।

सीता—(अत्यन्त उत्तेजित तथा क्रोधित होकर) गुरुजनों की आज्ञा में 'किन्तु,' 'परन्तु' की क्या आवश्यकता है? यदि ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा पालन करना तुम अपना कर्तव्य समझते हो तो मेरी आज्ञा मानना भी तो तुम्हारा कर्तव्य है। मैं अन्तिम बार तुम्हें आज्ञा देती हूँ कि तुम जाओ, तत्काल जाओ, नहीं तो मैं जाऊँगी।

लक्ष्मण—(खड़े होकर) आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर मैं जाता हूँ, पर आप कुटी के बाहर पैर न रखें।

सीता—हाँ, हाँ, मैं कुटी के बाहर न जाऊँगी, तुम तो जाओ, तत्काल जाओ। ओह! तुमने बहुत विलम्ब कर दिया!

[लक्ष्मण का प्रस्थान। सीता घबड़ाहट से इधर-उधर टहलती हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वन का मार्ग

समय—सन्ध्या

[एक ओर से राम और दूसरी ओर से लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—(**लक्ष्मण को देख आश्चर्य से**) हैं! तुम वैदेही को अकेली छोड़कर!

लक्ष्मण—(**सिर नीचा किये**) क्या करूँ, आर्य, कई बार मुझे पुकारा गया, आपका-सा स्वर था, फिर भी मुझे सन्देह नहीं हुआ, पर सीता देवी की ऐसी आज्ञा हुई कि मुझे आपको ढूँढ़ने आना ही पड़ा।

राम—आह! मैं सब समझ गया। वह मृग नहीं था, राक्षस था। मृग-रूप से आया और मरते समय उसने मेरा-सा स्वर बना तुम्हें पुकारा। जब उसने तुम्हें पुकारा था तभी से मेरे हृदय में शंका हो गयी थी कि मैथिली तुम्हें भेजे विना न रहेंगी; वही हुआ। वैदेही की कुशलता नहीं है। (**लम्बी साँस लेकर**) चलो, शीघ्र कुटी चलें। मैंने कहा ही था कि मेरे हृदय में शंकाएँ उठती हैं।

[दोनों का शीघ्रता से प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—राम की कुटी

समय—सन्ध्या

[कुटी सूनी पड़ी है। सन्ध्या का बहुत थोड़ा प्रकाश रह गया है। राम और लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—(**सूनी कुटी देख, इधर-उधर घूमकर, जोर से**) जानकी!

वैदेही ! मैथिली ! (कोई उत्तर न पा लक्ष्मण से) देखा, लक्ष्मण, देखा, वैदेही नहीं हैं।

लक्ष्मण—(सिर नीचा किये हुए दुःखित स्वर से) हाँ, तात, यह मेरे दोष से हुआ।

राम—(लक्ष्मण को दुखी देख) नहीं, नहीं, लक्ष्मण, तुम ऐसा क्यों समझ रहे हो ? मैं तुम्हें दोष नहीं दे रहा हूँ, यह सब मेरे भाग्य का दोष है।

लक्ष्मण—पर आप धैर्य रखें, आर्य, हम उनकी खोज करेंगे। वे मिलेंगी, अवश्य मिलेंगी; मेरा हृदय कहता है मिलेंगी; अन्तरात्मा कहती है मिलेंगी। यह भी कोई राक्षसी माया है।

राम—हाँ, खोज अवश्य करेंगे, लक्ष्मण, पर यदि कोई वन-पशु ही उसे खा गया होगा, अथवा राक्षस हर ले गया होगा तो ? वह जीवित होगी तभी तो मिलेगी न ? यदि कोई राक्षस उसे ले गया होगा तो मेरे बिना वह प्राण कब तक रखेगी ? यदि उसका पता लग जाय तब तो, उसे ले जानेवाला चाहे कितना ही पराक्रमी क्यों न हो, मैं पलों में उसे परास्त कर सकता हूँ। पापी की शक्ति ही कितनी रहती है ? पर पता लगे तब तो; फिर पता लगने तक वह जीवित रहे तब न !

लक्ष्मण—पता भी लगेगा, तात, और वैदेही हमें मिलेंगी भी, जीवित मिलेंगी। मुझे ऐसा भासता है मानों मेरे कान में चुपचाप कोई यही कह रहा है।

राम—तुम्हारा ही अनुमान सत्य हो। पर, इस घोर वन में, जहाँ दिन को ही किसी का पता लगना कठिन है वहाँ, रात्रि के अन्धकार में तो हाथ को हाथ न सूझेगा; और यदि किसीने उसको हरा है तो प्रातःकाल तक तो वह न जाने कितनी दूर तक जा चुकेगा।

लक्ष्मण—अभी चन्द्रोदय होगा, आर्य, हम चन्द्र का प्रकाश होते ही उन्हें ढूँढ़ने चलेंगे।

राम—**(कुछ ठहरकर)** लक्ष्मण, जानकी कहीं छिपकर हमसे हँसी तो नहीं कर रही है? **(ज़ोर से)** मैथिली! मैथिली! वैदेही! वैदेही!

[कोई उत्तर नहीं मिलता।]

लक्ष्मण—नहीं, तात, यह नहीं हो सकता। यदि उन्होंने हँसी की होती तो क्या आपका यह करुण स्वर सुनकर भी वे चुपचाप छिपी रह सकती थीं?

राम—हाँ, वत्स, ठीक कहते हो। मेरा इतना दुःख देखना तो दूर रहा, वह पलमात्र भी मुझे उदास नहीं देख सकती थी। यदि कभी मैं पिता, माता, भरत अथवा अयोध्या-निवासियों का स्मरण कर थोड़ा भी खिन्न होता तो वह अपनी कोकिल-कण्ठी वाणी द्वारा मेरा हृदय उस ओर से हटाने का उद्योग करती थी। कभी मैं उसके इस कौशल को समझ जाता और हँस देता तो लज्जा से वह सिर झुका लेती; उसका उस समय के, ज्योत्स्ना पड़ते हुए कमल के सदृश अवनत, मुख का मुझे इस समय जितना स्मरण आ रहा है उतना कभी नहीं आया, लक्ष्मण। मैंने तो उसे विदेह महाराज तक का स्मरण करते नहीं देखा। मैं यदि उसे उनका स्मरण दिलवाता तो वह इस भय से, कि कहीं उसके मुख पर कोई खिन्नता न दिख जावे और उससे मुझे क्लेश न पहुँचे, उस बात को ही टाल देती; उस समय के, सरला मृगी के-से उसके नेत्र मुझे इस समय जितने स्मरण आते हैं उतने कभी भी नहीं आये, वत्स। मुझे वन में कभी कष्ट न पहुँचे इसकी उसे कितनी चिन्ता थी? मेरे नित्य कर्मों की व्यवस्था के लिए वह उषःकाल में उठती और पहर रात गये सोती थी। मेरे भोजन का

उसे कितना ध्यान रहता था। मैं ही उसके लिए सर्वस्व था। उसके प्रेम, उसके वात्सल्य, उसके सुख, उसके आनंद का मैं ही आश्रय था। तुम ठीक कहते हो, क्या वह मुझे कभी दुखी देख सकती है? तभी कहता हूँ, लक्ष्मण, वह मेरे बिना कैसे जीवित रहेगी?

लक्ष्मण—मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तात। जब तक कोई दुःख नहीं पड़ता, मनुष्य सोचता है, वह कैसे सहन होगा, पर जब सहने का समय आता है तब उसे सह सकने की शक्ति मिल जाती है। आपके दर्शन की आशा पर ही वे सब कुछ सहन कर लेंगी।

राम—हाँ, ठीक कहते हो, वत्स, मैं ही उससे कहता था कि यदि मैं वन को अकेला आ जाता तो उसका वियोग मैं कदाचित् ही सहन कर सकता। पर देखो, आज वह कहाँ है यह भी ज्ञात न होने पर मैं प्राण धारण किये हूँ। (**चन्द्रोदय होता हुआ देखकर**) यह लो, यह लो, लक्ष्मण, चन्द्रोदय हो रहा है। (**कुटी को देख**) देखो तो, वत्स, यह कुटी कैसी शून्य दिखती है। इसपर छाये हुए पत्रों को तो देखो। इन्हें, तुमने और जानकी ने मिलकर, छाया था। (**चाँदनी में चमकते हुए उनके किनारों को देखकर**) वैदेही के वियोग से इनके नेत्रों में आँसू भर आये हैं? (**आँगन के पाटल के पुष्पों और लतामंडप की चमेली पर पड़ी हुई ओस को चाँदनी में चमकती हुई देख**) देखो, देखो, लक्ष्मण, इन पुष्पों के नेत्रों में भी आँसू भर आये हैं। (**गोदावरी को देख**) यह देखो, अपनी लहरों द्वारा गोदावरी किस प्रकार रुदन कर रही है; यह जानती है कि अब उषःकाल में मैथिली इसमें स्नान न करेगी। (**कुछ ठहरकर**) उसके कोई पालतू पक्षी भी नहीं बोलते, सब शोक से मौन हो गये हैं। कहाँ हैं उसकी परिपालित हरिणी? जानकी मेरे लिए इस समय मरुस्थल का कुसुम, सूखे नद का नीर और सर्प की खोयी हुई मणि के समान हो गयी है। क्यों, वत्स, कभी मिलेगी या नहीं? सूर्योदय होते ही पद्म का दुःख दूर हो जायगा, क्योंकि उसे रवि की किरण

मिल जायगी, कोक का क्लेश चला जायगा, क्योंकि उसे कोकी मिल जायगी। देखना है, मेरे कष्ट का क्या होता है। आह ! अब नहीं, लक्ष्मण, अब नहीं, यहाँ अब एक क्षण भी रहना असम्भव है।

लक्ष्मण—हाँ, आर्य, चलिए; हम उन्हें ढूँढ़ेंगे। मुझे विश्वास है कि वे मिलेंगी, अवश्य मिलेंगी।

[दोनों का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—किष्किन्धा का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[एक-एक खण्ड के साधारण गृह हैं। सकरा-सा मार्ग है। दोनों ओर से दो वानरों का प्रवेश। इनका सारा शरीर मनुष्यों के सदृश है, मुँह कुछ बन्दर से मिलता है। सिर और आँखों के बीच में बहुत थोड़ा अन्तर है, अर्थात् सकरा ललाट है। आँखें गोल और नाक चपटी है। गालों की हड्डियाँ उठी हुई और जबड़े की हड्डियाँ चौड़ी हैं। रंग कुछ लाल है। कपड़े उस समय के मनुष्यों के सदृश, अर्थात् अधोवस्त्र और उत्तरीय, धारण किये हैं।]

एक वानर—कहो, बन्धु, सुना? आज मृग सिंह से, मूषक बिलाव से, सर्प मयूर से, कपोत बाज से और मत्स्य ग्राह से युद्ध करने आ रहे हैं।

दूसरा वानर—यही न कि सुग्रीव बालि से युद्ध करने जा रहे हैं?

पहला—हाँ, पर, क्या यह युद्ध जैसा मैंने कहा वैसा ही नहीं है!

दूसरा—वैसा तो नहीं कहा जा सकता, पर हाँ, गज सिंह से, बिलाव श्वान से, सर्प नकुल से, मुर्ग बाज से युद्ध करने जा रहे हैं यह कह सकते हो; ग्राह से इस प्रकार का युद्ध किससे हो सकता है सो मुझे नहीं सूझता।

पहला—ऐसा सही। पर गज को सिंह, बिलाव को श्वान, सर्प को नकुल और मुर्ग को बाज भी सदा पछाड़ ही देते हैं।

दूसरा—प्रायः, पर सदा यह नहीं होता। गज की पीठ पर यदि व्याघ्र हो, या ऐसे ही दूसरे जीव सिखाये हुए हों, तो कभी-कभी विपरीत फल भी हो जाता है।

पहला—तो क्या कोई ऐसी बात है?

दूसरा—अवश्य। नहीं तो तुम समझते हो कि सुग्रीव बालि को इस प्रकार युद्ध के लिए ललकार सकते थे?

पहला—**(उत्सुकता से)** क्या, बन्धु, वह क्या है? मुझे ज्ञात नहीं।

दूसरा—**(कुछ धीरे से)** देखो, अपने तक ही रखना।

पहला—मैं किसीसे क्यों कहने लगा? मैं तो चाहता ही हूँ कि क्रूर बालि के राज्य का जितने शीघ्र अन्त हो, उतना ही अच्छा है।

दूसरा—**(और धीरे)** सुग्रीव की एक बड़े पराक्रमी मनुष्य से मित्रता हुई है।

पहला—किससे?

दूसरा—उत्तर में अवध एक राज्य है। वहाँ के राजकुमार राम को उनके पिता ने चौदह वर्ष का वनवास दिया है।

पहला—**(जल्दी से)** यह तो मैं जानता हूँ, पर उनसे सुग्रीव का सम्बन्ध कैसे हुआ?

दूसरा—वही तो कहता हूँ, सुनो न। वे अपने भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता के साथ पंचवटी में रहते थे। वहाँ से उनकी पत्नी को कोई हरण कर ले गया है। वे उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ऋष्यमूक पर्वत के नीचे पहुँचे। वहाँ सुग्रीव ने उन्हें देखा और हनुमान को भेज अपने निकट बुलवाया। सुग्रीव ने सीता के खोजने, और यदि उनका पता लग गया तो जिसने उनका हरण किया है उससे अपनी वानर और भालु-सेना सहित युद्ध कर राम को पुनः प्राप्त करा देने, का वचन दिया है और राम ने सुग्रीव को बालि का वध कर उसके कष्ट-निवारण का ।

पहला—यह सब तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ ?

दूसरा—मैं उस दिन ऋष्यमूक को गया था

पहला—पर बालि से तो सुग्रीव युद्ध करेंगे, रामचन्द्र उन्हें युद्ध में कैसे सहायता करेंगे ?

दूसरा—यह भी बताता हूँ। जब सुग्रीव बालि से युद्ध करेंगे तब राम छिपे हुए बैठे रहेंगे और बालि को एक ही बाण में समाप्त कर देंगे। वे बड़े पराक्रमी हैं, उन्होंने एक ही बाण से सात ताल वृक्षों को वेध दिया था।

पहला—पर यह तो अधर्म होगा; राम तो बड़े धर्मात्मा सुने गये हैं।

दूसरा—क्या किया जाय, कोई उपाय नहीं है। सुग्रीव ने जब उन्हें बालि के अत्याचारों का वर्णन सुनाया और बतलाया कि उसकी पत्नी को बालि ने किस प्रकार हरा है, उसकी सम्पत्ति को लेकर उसे राज्य से किस प्रकार निकाल दिया है, तथा वह किस प्रकार मारे-मारे घूमने के पश्चात् अन्त में इस पर्वत पर, यह देख कि बालि शाप के कारण वहाँ नहीं आ सकता, किस प्रकार कष्ट से अपने दिन व्यतीत कर रहा है, तब राम ने बालि को मारने की प्रतिज्ञा कर ली। उसके पश्चात् उन्हें विदित हुआ कि बालि को वर प्राप्त है कि जो उसके सम्मुख युद्ध करने जाता है उसका आधा बल

बालि को मिल जाता है। तथापि अब तो बालि को किसी प्रकार मारना ही होगा। (कुछ रुककर) फिर राम को यह भी ज्ञात हुआ है कि बालि अपनी प्रजा पर भी बड़ी क्रूरता से राज्य करता है।

पहला—तो अब बालि गया, पर सुग्रीव अपनी स्वाभाविक अत्यधिक दयालुता के कारण राज-काज चला सकेंगे ?

दूसरा—आदर्श राज्य तो तभी था जब इन दोनों भ्राताओं में परस्पर स्नेह था; एक की वीरता और दूसरे की दया से प्रजा महान् सुख भोग रही थी, पर वह तो बालि ने ही निर्दोष सुग्रीव को कष्ट दे-देकर असम्भव कर दिया।

पहला—(कुछ ठहरकर) तुम कहाँ जा रहे थे ?

दूसरा—उसी युद्ध को देखने।

पहला—मैं भी वहीं जा रहा था।

दूसरा—तो चलो, चलें।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—एक वन

समय—सन्ध्या

[घना जंगल है, जो डूबते हुए सूर्य की किरणों से रँग रहा है। एक वृक्ष की ओट में खड़े हुए राम और लक्ष्मण दूर पर कुछ देख रहे हैं। राम के धनुष पर बाण चढ़ा हुआ है।]

राम—वह देखो, वह देखो, लक्ष्मण, इस समय सुग्रीव बड़ी वीरता दिखा रहे हैं। उनके मल्ल-युद्ध के प्रकर्षण, आकर्षण, विकर्षण और अनुकर्षण कौशल देखने ही योग्य हैं।

लक्ष्मण—यह प्रथम उत्साह की वीरता है, तात, वे कहीं बालि के सामने ठहर सकते हैं।

[कुछ देर तक दोनों चुप रहते हैं।]

राम—हाँ, हाँ, ठीक कहते हो, यह देखो उन्हें बालि ने पटक दिया। अब मेरा बाण ही उनकी रक्षा कर सकता है, अन्य कुछ नहीं।

लक्ष्मण—तो चलाइए बाण, आर्य, विलंब क्यों ?

राम—पर लक्ष्मण, ताड़का को मारते समय जैसे भाव उठे थे आज फिर वैसे ही मेरे हृदय में उठ रहे हैं। वह स्त्री-हत्या थी, यह युद्ध में अधर्म है।

लक्ष्मण—पर, इससे बड़े अधर्मों का नाश करना और मित्र के प्रति मित्र के कर्तव्य की पूर्ति है।

राम—**(बाण सँभालकर, पर फिर हाथ ढीलाकर)** नहीं, नहीं, लक्ष्मण, इस प्रकार छिपकर मुझसे कोई न मारा जायगा। बिना यह अधर्म किये यदि जानकी की खोज नहीं हो सकती, यदि उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, तो न हो, पर युद्ध में यह अधर्म करना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

लक्ष्मण—**(जल्दी से)** इस समय यह सोचने का समय नहीं है, तात, और न सीता देवी की खोज एवं उनकी प्राप्ति का ही प्रश्न है; अब यह प्रश्न है जिसे आपने मित्र बनाया है, उसकी प्राण-रक्षा का। शीघ्रता कीजिए, शीघ्रता कीजिए, नहीं तो वह बालि सुग्रीव के प्राण ही ले लेगा।

यह मित्र के प्रति विश्वासघात होगा; धर्मात्मा के प्राण अधर्मी के लिए जायँगे; रघुवंशियों से ऐसा विश्वासघात कभी नहीं हुआ।

राम—(घबड़ाकर) पर, यह तो एक ओर कूप और दूसरी ओर खाई है, वत्स। जिस समय यह प्रतिज्ञा हुई थी उस समय ये भाव इतने उत्कट रूप से मेरे हृदय में नहीं उठे थे।

लक्ष्मण—(बहुत जल्दी) पर, आपके इस विचार ही विचार में उसके प्राण जा रहे हैं, आर्य। आपने अग्नि को साक्षी देकर मित्रता की है; प्रतिज्ञा की है। चलाइए, चलाइए बाण, तात, नहीं तो मुझे ही आज्ञा दीजिए मैं ही बालि का वध कर दूँ। (धनुष पर बाण चढ़ाते हैं।)

राम—नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है कि मैं अपना कर्तव्य न कर पाप तुमपर डालूँ। (कुछ ठहरकर, उस ओर देखते हुए) सचमुच ही अब तो उसके प्राण कण्ठगत ही हैं। अच्छी बात है, लक्ष्मण, यही हो, अपने कर्तव्य की ओर इतना लक्ष्य रखते हुए भी यदि राम के हाथ से पाप ही होना है तो वही हो, लक्ष्मण, वही हो। (बाण छोड़ते हैं।)

यवनिका-पतन

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—लंका में अशोक-वाटिका

समय—सन्ध्या

[सुन्दर वाटिका है। अशोक के वृक्ष अधिक दिखायी देते हैं। वाटिका के बाहर, दूरी पर लंका के अनेक खण्डों के विशाल भवनों के ऊपरी खण्ड दिखायी देते हैं। भवन पीत रंग के होने के कारण सुवर्ण के-से दिखते हैं। डूबते हुए सूर्य के पीले प्रकाश से इनकी दीप्ति और बढ़ गयी है। एक अशोक वृक्ष के नीचे, पृथ्वी पर शोक से ग्रसित सीता बैठी हैं। चूड़ियों को छोड़ और कोई भूषण सीता के शरीर पर नहीं है। शरीर क्षीण और मलीन हो गया है। सीता धीरे-धीरे गा रही हैं।]

कबहूँ हा! राघव आवहिंगे?
मेरे नयन-चकोर-प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे॥
मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे।
अंग-अंग छबि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि जहँ-तहँ छावहिंगे॥

विरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपा-दृष्टि-जल पलुहावहिंगे।
निज-वियोग-दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिंगे॥

[सरमा का प्रवेश। सरमा की अवस्था सीता से चार-पाँच वर्ष अधिक है। वर्ण साँवला है, पर मुख और शरीर सुन्दर है। वस्त्र सीता के-से हैं। आभूषण भी पहने है।]

सरमा—'आवहिंगे', नहीं सखि, आ गये। अभी-अभी मैं देखकर आ रही हूँ। रघुनाथजी अनुज सहित समुद्र के इस पार उतर आये। नौकाओं द्वारा आने के लिए नौकाएँ बनानी पड़तीं, उनके बनाने में बहुत विलम्ब होता, अतः सेतु बाँधकर आ गये, सखि।

सीता—(प्रसन्न होकर उठते हुए) ये सब बातें तुम मुझे धैर्य बँधाने को कहती हो, सरमा, या ये सब सच्चे संवाद हैं ?

सरमा—सच्चे, सर्वथा सच्चे, सखि। इस उद्यान का कोट इतना ऊँचा है कि यहाँ से समुद्र नहीं दिख सकता, अन्यथा मैंने तुम्हें स्वयं दिखा दिया होता कि समुद्र पर कैसा सेतु बँधा है और बिना नौकाओं की सहायता के ही किस प्रकार उनकी वानर-भालु-सेना इस पार आ रही है। रघुनाथजी और सौमित्र के संग वानर और भालुओं की आधी सेना तो इस ओर आ ही गयी और शेष आधी भी आज रात्रि तक आ जानेवाली है।

सीता—पर, सरमा, समुद्र पर सेतु बँधते आज तक नहीं सुना !

[दोनों बैठ जाती हैं।]

सरमा—इसमें तो आश्चर्य की बात नहीं है। जिस स्थान पर सेतु बाँधा गया है वहाँ समुद्र गहरा नहीं है। वहाँ की पथरीली भूमि इतनी ऊँची उठी

हुई है कि सहज में ही सेतु बँध गया। उसी ओर से तो हनुमान भी कहीं तैरते और कहीं चट्टानों पर विश्राम करते हुए आये थे।

सीता—(आँसू भरकर) तब तो आर्यपुत्र के दर्शन कदाचित् इस जीवन में सम्भव हो जायँगे, सखि।

सरमा—अब इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सीता—(कुछ ठहरकर) युद्ध भी अनिवार्य है, क्यों? राक्षसराज रावण, अगणित राक्षस और इस सोने की लंका के नाश का कारण मैं ही होऊँगी, सरमा?

सरमा—तुम काहे को होगी, सखि? राक्षसराज का पाप इसका कारण होगा।

सीता—बिना युद्ध के वे मुझे आर्यपुत्र को न सौंपेंगे?

सरमा—उनके भ्राता ने उन्हें समझाया तो लात खायी और अन्त में उन्हें रघुनाथजी के पास जाना पड़ा, महारानी मन्दोदरी ने उन्हें समझाया सो महारानी को झिड़की मिली। जब नाश का समय उपस्थित होता है तब बुद्धि ठिकाने पर नहीं रहती।

सीता—सचमुच मैं बड़ी मन्दभागिनी हूँ। विवाह के समय कठिनाई से पिता की प्रतिज्ञा रही; ससुर के घर में पैर पड़ते ही पति को वनवास हुआ, ससुर की मृत्यु हुई, एवं सासुओं को वैधव्य; वन में पति के संग आयी तो वे भी सुखपूर्वक न रह सके तथा यह विग्रह खड़ा हुआ और लंका में पैर पड़ते ही लंका जली तथा राक्षस-कुल के नाश की सम्भावना दिख रही है।

सरमा—इसमें तुम्हारा क्या दोष है, देवि! तुम्हारे सुख के लिए,

तुम्हारे उद्योग से, यह सब होता तो तुम दोषी थीं। तुम तो नारी-कुल की शोभा और पातिव्रत की मूर्ति हो। रक्षोराज रावण से कौन स्त्री अपना सतीत्व बचा सकी है? जिस-जिस पर उसने दृष्टि डाली—किसीने वैभव के लोभ और किसीने प्राणों के भय से अपना आत्म-समर्पण किया। तुम्हीं हो, मैथिली, कि तुमने उसकी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं, इस स्वर्ग-तुल्य वैभव और इस कुन्दन से अपने शरीर को तुच्छ समझा, वह भी उस समय, वैदेही, जब रघुनाथजी के लंका में आ सकने की कोई सम्भावना न थी, इस दुख-समुद्र का कोई पार दृष्टिगोचर न होता था।

सीता—कोई नारी कैसे इस प्रकार आत्म-समर्पण कर सकती है, यह मेरी तो समझ में ही नहीं आता, सरमा। मुझे तो अपने पर उल्टा इस बात का आश्चर्य हो रहा है कि बिना आर्यपुत्र के अबतक मैं प्राण कैसे रख सकी! कदाचित् उन्हींका स्मरण मुझे जीवित रखे हुए है, वे विस्मृत हो जावें तो कदाचित् यह शरीर क्षणमात्र भी नहीं रह सकता।

सरमा—किस-किस नारी के प्राण इस प्रकार केवल पति-दर्शन की अभिलाषा पर अवलम्बित रहते हैं!

सीता—न जाने कैसे आरम्भ से ही मुझे यह आशा रही कि आर्य-पुत्र मुझे मिलेंगे। निराशा का कुहरा बार-बार हृदय पर छा जाता है, पर यह आशारूपी सूर्य इतना प्रखर है कि उस कुहरे को बहुत देर नहीं ठहरने देता। आर्यपुत्र, आर्यपुत्र का क्या-क्या वृत्त कहूँ, सरमा? वह रूप, वह हृदय, वे चरित्र! आह! मिथिलापुरी की पुष्पवाटिका में सर्व-प्रथम उनके दर्शन हुए थे, फिर धनुषयज्ञ के समय धनुपभंग के अवसर पर; इसके पश्चात विवाह में और परशुराम के पराभव के समय और फिर तो गत ग्यारह मास के पूर्व नित्य ही। उषःकाल से शयन-पर्यन्त उनकी कैसी दिनचर्या है! आठों पहर और चौसठों घड़ी कैसे भाव उनके हृदय में उठते हैं! न उन्हें

राज्याभिषेक का हर्ष था और न वनगमन का दुःख। हाँ, दूसरों के दुःख से वे अवश्य विचलित हो जाते हैं। मेरी जिन कैकेयी सास ने उन्हें वनवास दिलाया उनके पश्चात्ताप तक ने जब आर्यपुत्र के कोमल हृदय पर ठेस पहुँचायी तब दूसरों के दुःखों से उनके हृदय की क्या दशा होती होगी इसकी तो तुम भी कल्पना कर सकती हो, सखि। उनके अयोध्या के और इन तेरह वर्ष के वन के सारे चरित्रों का मैं क्या-क्या वर्णन करूँ, कहाँ तक करूँ, सरमा? अबतक न जाने तुम्हारे सम्मुख कितना वर्णन किया है। एक-एक चरित्र को वर्षों तक मैं नये-नये राग और नवीन-नवीन भावों में गान कर सकती हूँ। प्रातःकाल से ले दूसरे प्रातःकाल तक हृदय यही करता है। हृदय के इसी गान से जीवित हूँ, इसीसे, सखि।

सरमा—तुम धन्य हो, जानकी, धन्य, जिसे ऐसे पति प्राप्त हुए और धन्य हैं वे रघुनाथजी जिन्हें ऐसी पत्नी मिली। धन्य है तुम्हारा यह हृदय जिसमें पति के प्रति ऐसी श्रद्धा, ऐसी भक्ति और ऐसा अनन्य प्रेम है।

सीता—मैं उनके योग्य हूँ, सरमा? नहीं, मैं तो अपने को ऐसा नहीं समझती; वे अवश्य कहा करते हैं कि मैं उत्तम हूँ, सर्वोत्तम हूँ, मेरा हृदय उच्च है, सर्वोच्च है। रही उनके प्रति मेरी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम, सो यह तो अवश्य है। मैंने आजतक पिता-तुल्य पुरुषों और बालकों के अतिरिक्त समवस्यक किसी अन्य पुरुष का पूर्णरूप से मुख भी नहीं देखा, सखि। मनसा, वाचा और कर्मणा वे ही मेरे सर्वस्व हैं। उन्हींको मैं अपना धर्म, कर्म, तप, व्रत और ज्ञान मानती हूँ और मैं ही क्यों, सरमा, क्या वे मुझपर कम प्रेम करते हैं? जबतक मैं अयोध्या में रही, या, गत तेरह वर्षों तक वन में उनके साथ रही, उन्होंने मुझे सदा अपने हृदय और नेत्रों पर प्रतिष्ठित रखा। उनके संग के दिन! आह! उनके संग वन में भी तेरह वर्ष पल के सदृश निकल गये और ये वियोग के एक-एक मुहूर्त्त, एक-एक कला, एक-एक काष्ठा, एक-एक त्रुटि और एक-एक लव क्षण भी एक-एक युग

के समान जा रहे हैं। ज्ञात नहीं, मेरे विना वन में उनकी क्या दशा होगी? सन्तोष इतना ही है कि मेरे देवर उनके संग हैं। सरमा, प्यारी सरमा, तुम्हें आशा तो है न कि कभी मैं आर्यपुत्र के दर्शन करूँगी?

[सरमा के गले से लिपट, सीता फूट-फूटकर रोने लगती है। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—लंकापुरी का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[दूरी पर अनेक खण्डों के पीत रंग के गृह हैं। मार्ग साधारण रूप से चौड़ा है। दो राक्षस-सैनिकों का प्रवेश। दोनों मनुष्यों के समान ही हैं, पर वर्ण साँवला है। शरीर पर लोहे के कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये हैं, आयुधों से भी सुसज्जित हैं।]

एक राक्षस—भयंकर योद्धा है, बन्धु, भयंकर योद्धा! दस दिनों के युद्ध में ही सारे राक्षस खेत रह गये। महावीर सुबाहु, शूर-शिरोमणि कुंभकर्ण और वीरता का प्रत्यक्षरूप इन्द्रजीत सभी का संहार हो गया। अब मुट्ठी भर सैनिकों के संग स्वयं रक्षोराज युद्ध करने निकले हैं। मुझे तो उनका निधन भी निश्चित दिखता है।

दूसरा राक्षस—इसमें संदेह नहीं। जब राम और लक्ष्मण के धनुष से बाण चलते हैं, चाहे वे दूर से चलाये जानेवाले बड़े बाण हों अथवा निकट से चलाये जानेवाले एक बीते लंबे, तब कब धनुष नवाया गया,

कब ज्या चढ़ायी गयी और कब बाण छूटे, इसका पता ही नहीं लगता; बाण चढ़ाते हुए उनके हाथ कभी कन्धे से छूटते हुए नहीं दिखते। इसी प्रकार जब उनकी सेना, अयःकणप यन्त्र से लोहे के गोले और चक्राश्म और भुशुण्डी यन्त्रों से पाषाण-खण्ड हमारी सेना पर चलाती है तब जान पड़ता है मानों हमारी सेना पर लोहे के गोलों और पाषाण की, आकाश से, वृष्टि हो रही है।

पहला—यह रक्षोराज के पाप ने राक्षस-कुल का नाश कराया है; कदाचित् लंका में एक राक्षस भी न बचेगा।

दूसरा—वानरों और भालुओं का उतना संहार नहीं हुआ जितना राक्षसों का हुआ है।

पहला—क्यों होवे ? हमारी सेना का हृदय युद्ध में नहीं है। क्या हम हृदय से इस युद्ध को चाहते हैं ? हमारी अन्तरात्मा कहती है कि हमारा पक्ष अन्यायपूर्ण है। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि कुंभकर्ण तक ने हृदय से युद्ध नहीं किया, वरन् उन्हें राम से उल्टी सहानुभूति थी।

दूसरा—हाँ, बन्धु, जब कोई कार्य इच्छा के विरुद्ध करना पड़ता है तब यही दशा होती है। तभी तो अन्याय की हार और न्याय की जीत होती है। पर, फिर भी युद्ध करना होगा; न करने पर भी तो मारे जायँगे।

पहला—यही भाव तो संसार में इतना रक्त-पात करा रहा है। यदि सैनिक मरने का भय छोड़, अन्यायपूर्ण युद्ध में भाग न लेने का निश्चय कर लें तो संसार का रक्त-पात ही बन्द हो जाय। युद्ध में मरते हैं, पर सच्चे सिद्धान्त के लिए मरने से डरते हैं। तभी तो मैं तुमसे सदा कहता हूँ कि युद्ध में सैनिक बहुधा भय से लड़ते हैं, वीरता से नहीं।

[एक राक्षस-सैनिक का प्रवेश। वह भी इन्हीं दोनों के समान है।]

आगन्तुक—अरे, अरे ! तुम युद्ध छोड़कर यहाँ क्या कर रहे हो? आज का युद्ध तो अभी समाप्त हुआ है।

पहला—हम कोई एक घड़ी पहले हटे होंगे। दिन भर मार-मार, काट-काट के मारे आज तो ऐसे थक गये थे कि क्षण-भर भी और ठहरने का साहस न हुआ।

दूसरा—और हम दो जन वहाँ रहते भी तो घड़ी भर में राम-सेना को परास्त कर डालते क्या ?

आगन्तुक—पर, बन्धुओ, आज तो बड़ी भारी सफलता मिली है।

पहला—कौनसी ?

आगन्तुक—रक्षोराज ने लक्ष्मण को शक्ति से आहत किया है।

दूसरा—अच्छा, तो वे इस लोक में नहीं हैं ?

पहला—(खेद से) मुझे तो इस संवाद से उल्टा दुःख होता है।

आगन्तुक—(आश्चर्य से) शत्रु-पक्ष से इतनी सहानुभूति !

पहला—न्याय से सभी की आन्तरिक सहानुभूति रहती है। अच्छा, इसे जाने दो, यह कहो, लक्ष्मण जीवित हैं या नहीं ?

आगन्तुक—हाँ, अभी तो जीवित हैं, परन्तु मूर्च्छित हैं। जीवित भी बहुत थोड़े समय के लिए समझो।

पहला—यह तुम्हें कैसे विदित हुआ ?

आगन्तुक—हमारे यहाँ का वैद्य उन्हें देखने गया था, उसीका यह मत था।

दूसरा—हमारा वैद्य उन्हें देखने कैसे गया !

आगन्तुक—उनके बुलाने से।

पहला—तुम्हीं देख लो, सभीकी उनके साथ कितनी सहानुभूति है।

पहला—अच्छा, वैद्य ने क्या कहा, यह थोड़ा विस्तार से कहो।

आगन्तुक—उसने कहा, संजीविनी बूटी के अतिरिक्त लक्ष्मण को और कोई वस्तु जीवित नहीं रख सकती और यदि प्रातःकाल तक वह न आयी तो उनका मरण निश्चित है। पर, वह बूटी बहुत दूर है और प्रातःकाल तक उसका आना असम्भव है।

पहला—मुझे निश्चय है कि वह प्रातःकाल के पूर्व आ जायगी।

आगन्तुक—यह कैसे ?

पहला—उनके अद्भुत-अद्भुत साथी हैं। स्मरण नहीं है, समुद्र के उथले स्थल का पता लगा समुद्र पार कर हनुमान कैसे आ गया था। कैसे एक हनुमान ने सारी लंका को जला डाला। नौकाओं द्वारा आने में नौकाएँ बनानी पड़तीं और नौकाओं के बनने में विलंब लगता, अतः नल-नील ने उसी उथले स्थल पर कैसे समुद्र का सेतु बाँध दिया कि बिना नौकाओं की सहायता के ही सारी वानर-भालु-सेना इस पार आ गयी। अंगद जब दूत बनकर हमारी राज-सभा में आया था और उसने चुनौती दी थी कि मैं उसे पराक्रमी समझूँगा जो मेरा पैर हटा देगा, तब इतनी बड़ी सभा में एक भी ऐसा वीर न निकला जो उसका पैर सूत बराबर भी हटा सकता। फिर हमारे प्रत्येक महारथी का कैसी शीघ्रता से नाश हुआ। निर्बल वानर और भालु भी पराक्रमी राक्षसों को मार रहे हैं!

दूसरा—और, बन्धु, सबसे बड़ी बात तो यह है कि न्याय-पक्ष उनका है; न्याय-पक्ष के भगवान् सहायक होते हैं।

पहला—अच्छा, चलो अभी तो लक्ष्मण का और कुछ पता लगावें।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—लंका के बाहर राम की सेना का पड़ाव

समय—अर्द्ध रात्रि

[दूरी पर लंका नगर दिखायी देता है। किन्तु दूर होने के कारण अन्धकार में वह बहुत धुँधला दिखता है। राम की सेना मैदान में, वृक्षों के नीचे डेरा डाले हुए है। राम की गोद में मूर्च्छित लक्ष्मण पड़े हुए हैं। चारों ओर वानर और भालु बैठे हैं। भालुओं के शरीर भी मनुष्यों के समान ही हैं, पर मुख वानरों से मिलते हैं। नाक कुछ अधिक लम्बी है और वर्ण साँवला है। दो राक्षस भी हैं। एक के सिर पर किरीट है जिससे मालूम होता है कि वह विभीषण है। दूसरे के सम्मुख शीशियाँ, खलबट्टा आदि रखे हैं जिससे वह वैद्य जान पड़ता है। वानरों में एक वानर के सिर पर और भालुओं में एक भालु के सिर पर किरीट है, अतः ये सुग्रीव और जामवन्त जान पड़ते हैं।]

राम—(दुःखित स्वर से किरीटवाले राक्षस से) आधी रात्रि बीत चुकी, लंकेश, आधी ही और शेष है। अर्द्ध रात्रि के पूर्व ही हनुमान के आने की आशा थी; पर वे अब तक नहीं लौटे। क्या मन्दभागी राम के भाग में अभी और कुछ बदा है ?

राक्षस—आप दुःखित न हों, महाराज, हनुमान प्रातःकाल के पूर्व अवश्य आ जायँगे।

राम—(**किरीटवाले वानर से**) क्यों, वानरेश, आपको पूरा भरोसा है कि हनुमान प्रभात के पूर्व आ जायँगे ?

वानर—हनुमान के कार्यों को आप स्वयं देख चुके हैं। श्रीमान्, मुझे तो यही आश्चर्य है कि वे अब तक क्यों नहीं लौटे; उनके प्रभात के पूर्व लौटने में तो मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है।

राम—(**और भी विकल होकर**) और यदि वे न आये तो ? हे लंकेश, और हे वानरेश, फिर मैं अयोध्या को न लौटूँगा। इतने राक्षसों का संहार हो चुका, फिर बचे हुओं का संहार कर, लंका को जीत और वैदेही का उद्धार कर ही मैं क्या करूँगा ? बिना लक्ष्मण के मेरा जीवन पलमात्र के लिए सम्भव नहीं है। मेरे बिना मैथिली का जीवन असम्भव है। यदि ठीक समय पर हम लोग अयोध्या न पहुँचे तो भरत कदापि प्राण न रखेंगे। भरत-बिना शत्रुघ्न क्यों जीवित रहेंगे। जब हम चारों भाई ही न रहेंगे तो हमारी माताएँ और बधुएँ क्यों प्राण रखेंगी। अवध की प्रजा का वृत्तान्त मैं आपको सुना ही चुका हूँ। लक्ष्मण के बिना अवध का सारा साम्राज्य श्मशान-तुल्य हो जायगा। आप लोगों का यह समस्त सद्उद्योग क्या इस प्रकार निष्फल हो जायगा, बन्धुओ ?

राक्षस—नहीं, महाराज, यह असम्भव है। धर्म, न्याय और सत्य का कभी यह फल नहीं हो सकता।

वानर—कर्तव्य-परायणता का यह निष्कर्ष सम्भव नहीं।

राम—(**लक्ष्मण को देख**) लक्ष्मण, प्यारे लक्ष्मण, सुमित्रा के एकमात्र प्राणाधार, उर्मिला की जीवन-नौका के खेवट, वैदेही के परम प्रिय देवर, राम के सर्वस्व, उठो, वत्स, उठो। (**आँखों में आँसू भरकर**) तुम तो सदा मेरी आज्ञा मानते थे। मेरी आँख के संकेत पर सब कुछ करने के लिए कटिबद्ध रहते थे। क्या आज मुझे भी भूल गये, प्यारे भ्राता ? तुमने तो

मेरे सन्मुख कभी पिता की अपेक्षा नहीं की, माता की ममता न रखी, पत्नी का वियोग इस अवस्था में सहा, आहार, निद्रा, किसीकी ओर लक्ष न रख वन-वन और अरण्य-अरण्य मेरे पीछे घूमे, मेरे पीछे भटके। मेरी यह उपेक्षा क्यों, वन्धु ? मैं अवध न भी गया और मैंने प्राण भी दे दिये तो पूज्यपाद सुमित्रा मुझे क्या कहेंगी ? जिसे मैं सदा सौभाग्यवती देखकर प्रसन्न रहने की अभिलाषा रखता था, उस उर्मिला वधू का क्या होगा ? लक्ष्मण ! हा, लक्ष्मण ! प्रिय वत्स लक्ष्मण ! सर्वस्व लक्ष्मण ! उठो वन्धु; जागो, भ्राता ! **(आँसू बहते हैं।)**

राक्षस—महाराज, धैर्य; थोड़ा धैर्य धरिए। हनुमान आते ही होंगे।

वानर—हनुमान का आना निश्चित है, महाराज।

राम—**(अत्यन्त कातर हो)** कैसे धैर्य धरूँ, लंकेश और वानरेश ? समय वीतता जा रहा है; पल पर पल, त्रुटि पर त्रुटि, कला पर कला, काष्ठा पर काष्ठा और घटिका पर घटिका व्यतीत हो रही है। पहले अर्द्धरात्रि के पूर्व ही हनुमान के आने की आशा थी, पर अव रात्रि आधी से कहीं अधिक बीत चुकी। हा ! लक्ष्मण को पिता ने वनवास नहीं दिया था, मुझे दिया था। ये और वैदेही तो मेरे कारण वन आये। बन्धुओ, मैं जीता-जागता बैठा हूँ, वैदेही रावण के बन्धन में पड़ी है और भ्राता मृत्यु-मुख में। जो कुछ अब तक हुआ है उससे तो भविष्य अधिक अन्धकारमय ही दिखता है। मेरा भाग्य मुझे ही दुःख नहीं दे रहा है, पर जिन-जिनसे मेरा सम्बन्ध होता है सभी क्लेश पाते हैं। पिता की मृत्यु और माताओं तथा भ्राताओं एवं सारी प्रजा के कष्ट का मैं ही कारण हूँ। ये दो आत्मीय संग आये थे, इनकी यह दशा हुई। पुण्यात्मा जटायु ने वैदेही की रक्षा के लिए मेरे कारण रावण से युद्ध किया तो उनके भी प्राण गये। फिर कैसे शुभाशा करूँ, वन्धुओ ? कैसे मन को ढाढ़स मिले ?

[नेपथ्य में कोलाहल होता है और ये शब्द होते हैं—"आ गये हनुमान, आ गये", "पवनकुमार पधार आये", "अंजनासुत की जय", "राजा रामचन्द्र की जय", "वीरवर लक्ष्मण की जय।" एक वानर का एक पर्वत-शिखर के संग प्रवेश। वह वैद्य के सम्मुख पर्वत-शिखर रखता है। राम लक्ष्मण का सिर धीरे से नीचे रखकर, दौड़कर आगन्तुक वानर को हृदय से लगा लेते हैं। राम के नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा बहने लगती है। पर्वत-शिखर की जमी हुई घास को निकाल वैद्य खल में कूट उसका रस लक्ष्मण के मुख में डालते हैं। सब लोग एकटक आतुरता से लक्ष्मण की ओर देखते हैं। रस मुख में जाने के कुछ देर पश्चात् लक्ष्मण, "हे तात, हे तात, रक्षोराज क्या अभी भी जीवित है", कहते हुए नेत्र खोल, उठ बैठते हैं। राम आँसू बहाते और काँपते हुए हाथों से लक्ष्मण को हृदय से लगाते हैं। पुनः जय-जयकार होता है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—एक वन मार्ग

समय—तीसरा पहर

[एक वानर और एक भालु का प्रवेश।]

वानर—अन्त में रक्षोराज का भी वध हुआ। देखा, अधर्म का क्या फल निकला?

भालु—हाँ, बन्धु, सच है, अधर्म सदा वंश भर को डुबोकर रहता है।

वानर—विभीषण के कुटुम्ब को छोड़, तथा बालक, वृद्ध और स्त्रियों

के अतिरिक्त कोई भी लंका में न बचा। पाप करनेवाले ही दण्ड नहीं पाते, पर पाप के पोषक भी पापी के संग ही पिस जाते हैं। पाप-रूपी दव के लिए द्रव्य और दल वन से अधिक नहीं है; पर हाँ, तुमने एक बात देखी?

भालु—क्या?

वानर—इतने उद्योग से जिन सीता देवी का रघुनाथजी ने उद्धार किया, जब उनके समीप लाने की चर्चा हुई तब हर्ष के स्थान पर उल्टा शोक उनके मुख पर झलक रहा था।

भालु—मैंने तो ध्यान नहीं दिया, पर कारण?

वानर—तुम्हींने क्या किसीने भी कदाचित् उनकी मुद्रा की ओर ध्यान न दिया होगा। ऐसे असीम हर्ष के समय कौन किसीकी मुद्रा देखता है। कदाचित् मेरा भी भ्रम ही हो, पर नहीं वे उदास अवश्य थे। उदासी का कोई कारण भी समझ में नहीं आता। देखो, अभी वैदेही के आगमन के समय कदाचित् कोई गूढ़ रहस्य खुले।

[नेपथ्य में "जय, जानकी की जय", "वैदेही की जय", "मैथिली की जय" शब्द होते हैं।]

वानर—लो, ज्ञात होता है वे शिविर में आ गयीं। चलो, देखें, वियोग के पश्चात् पति-पत्नी किस प्रकार मिलते हैं।

भालु—हाँ, हाँ, शीघ्र चलो।

[दोनों का शीघ्रता से प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—राम की सेना का पड़ाव

समय—तीसरा पहर

[वानर और भालुओं के बीच में राम और लक्ष्मण बैठे हैं। राम अत्यन्त उदास मालूम होते हैं। बाक़ी सब प्रसन्न हैं। जय-घोष के बीच सीता और सरमा का प्रवेश।]

सीता—(आँसू बहाती हुई शीघ्रता से राम की ओर बढ़) आर्य-पुत्र, आर्य-पुत्र ! **(राम के चरण पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाती हैं, उदास राम खड़े होकर पीछे हट जाते हैं। लक्ष्मण भी खड़े हो जाते हैं।)**

राम—ठहरो मैथिली, ठहरो, तुम पत्नी के नाते मेरा स्पर्श करने योग्य नहीं हो।

[सीता स्तंभित हो जाती हैं, लक्ष्मण आश्चर्य से एकटक राम की ओर देखने लगते हैं। सारा जन-समाज चौंक पड़ता है। निस्तब्धता छा जाती है। कुछ देर पश्चात् राम धीरे-धीरे बोलते हैं।]

राम—बन्धुओ, जानकी का रावण से उद्धार करना मेरा कर्तव्य था, यदि मैं यह न करता तो कायर कहलाता, सूर्यवंश के निर्मल आकाश में मैं धूमकेतु के तुल्य हो जाता, अधर्म की धर्म पर जय होती और अन्याय की न्याय पर। मैंने आप लोगों की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, सूर्यवंश की प्रतिष्ठा रह गयी; पर, पर-गृह में रही हुई स्त्री का, चाहे वह मुझे प्राणों से प्रिय क्यों न हो, ग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है; यह धर्म की मर्यादा और नीति की सत्ता का उल्लंघन होगा। जिस मर्यादा के बाहर मैं बाल्यावस्था से ही कभी नहीं गया हूँ और जिसके लिए मैं चौदह वर्ष को वन आया हूँ, उस धर्म और नीति की मर्यादा का उल्लंघन मेरे लिए असम्भव है। **(सीता से)** मैथिली, मैं जानता हूँ। इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे इस सदा के वियोग

के कारण यदि मेरे प्राण तत्काल न गये और यदि मैं भविष्य के अपने कर्तव्यों को करने के लिए इस शरीर को जीवित रख सका तो भी तुम्हारे वियोग का दुःख सदा मुझे पीड़ित करता रहेगा। उन दिनों, उन घटिकाओं, उन पलों की स्मृति, जो मैंने तुम्हारे संग अयोध्या में और वन में व्यतीत किये हैं, सदा मुझे व्यथित करती रहेगी। तुम यह न सोचना कि मैं पुनः विवाह कर, चाहे वह सुख के लिए हो या सन्तान के, अथवा यज्ञ के लिए तुम्हारे स्थान की पूर्ति कर लूँगा। नहीं, वैदेही, नहीं, राम से यह कभी न होगा। गृहस्थ-सुख से वंचित राम चाहे दुःख पावे, संतति-रहित राम पितृ-ऋण न चुका सकने के कारण चाहे पुनः जन्म लेवे, तुम्हारे बिना यज्ञ न कर सकने के कारण राम चाहे नरक में पड़े, पर अन्य स्त्री का राम के हृदय पर प्रतिष्ठित होना असम्भव है; साथ ही धर्म और नीति की मर्यादा की रक्षा के हेतु तुम्हारे और मेरे इस शरीर के रहते हमारी भेंट भी अब सम्भव नहीं। (जल्दी-जल्दी) तुम स्वतन्त्र हो, मैथिली, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ जा सकती हो और जो तुम्हारी इच्छा हो वह कर सकती हो।

[राम के भाषण से लक्ष्मण-सहित सारा जन-समुदाय अपना मस्तक झुका लेता है, किसीके मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता। निम्न-मुख सीता के नेत्रों से बहते हुए अश्रु उनके वक्षस्थल के वस्त्र को भिगो देते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। उसके पश्चात् रुँधे हुए कण्ठ से सीता धीरे-धीरे बोलती है।]

सीता—नाथ, धर्म की मर्यादा और नीति की रक्षा के लिए आपने जो कुछ कहा वह उचित ही होगा, पर मेरे लिए तो मेरा धर्म, मेरी नीति **(राम के चरणों की ओर संकेत कर)** ये चरण ही हैं। राक्षस के गृह में इतने काल तक रहने में मेरा कोई दोष नहीं है यह आप स्वीकार ही करते हैं। मैं आपको इतना विश्वास दिला सकती हूँ कि मैं शुद्ध, नितान्त शुद्ध

हूँ। आर्यपुत्र, यदि यह शरीर शुद्ध न होता तो आपके चरणों के समीप आने के पूर्व ही नष्ट हो जाता, इसका इस भूमि पर रहना ही सम्भव न था। आप कहते हैं, मैं स्वतन्त्र हूँ और जहाँ चाहे वहाँ जा सकती हूँ, परन्तु, नाथ, इन चरणों के अतिरिक्त संसार में मेरे लिए स्थान ही कहाँ है? पर नहीं, मैं आपके धर्म, आपकी नीति और आपके कर्तव्य-मार्ग का कण्टक न बनूँगी। मैं आपको अपने ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं करना चाहती। उन राजर्षि विदेह की कन्या, जिन्हें शरीर रहते हुए भी शरीर का कोई मोह न होने के कारण विदेह की पदवी मिली है, उन महाराज दशरथ की वधू, जिन्होंने अपने वचन को सत्य करने के लिए अपने शरीर को भी छोड़ दिया और उनकी पत्नी जो धर्म, नीति और कर्तव्य के मूर्तिमन्त स्वरूप हैं, अपने स्वार्थ-हेतु, प्रेम अथवा किसी भी साधन द्वारा अपने पति को किसी बात के लिए भी विवश करने का प्रयत्न तक न करेगी। परन्तु, आर्यपुत्र, आपने मुझे जो दूसरी स्वतन्त्रता दी है, अर्थात् मैं जो चाहूँ सो कर सकती हूँ, उसका मैं आज उपयोग करूँगी। संसार में मेरे लिए अन्य कोई स्थान न रहने के कारण या तो मैं इन चरणों के सम्मुख अग्नि में भस्म हो जाऊँगी या यदि सतीत्व का प्रताप अग्नि से भी रक्षा कर सकता है तो उस अग्नि की लपटों में से भी जीती-जागती निकल, आपके चरण स्पर्श करने के लिए आपको विवश करूँगी।

राम––(**प्रसन्न हो गद्‌गद कण्ठ से**) वैदेही, तुम राजर्षि विदेह की सच्ची पुत्री हो, तुम महाराज दशरथ की सच्ची वधू हो; नहीं तो ऐसे वाक्य किस नारी के मुख से निकल सकते हैं? ऐसा साहस कौन नारी कर सकती है? मैथिली, यदि अग्नि भी तुम्हें भस्म न कर सकी तो मैं तुम्हें अवश्य ग्रहण कर लूँगा। संसार में अपने सत्य की आज तक ऐसी परीक्षा किसीने नहीं दी।

सीता––(**जल्दी-जल्दी**) नाथ, अब आप तत्काल काष्ठ की चिता

बनवाइए, मुझे इस समय का एक-एक पल युग से भी अधिक हो रहा है।

राम—(**लक्ष्मण से**) लक्ष्मण, बिना विलम्ब इसका प्रबन्ध करो।

लक्ष्मण—(**दीर्घ निश्वास छोड़कर**) जो आज्ञा।

[**लक्ष्मण, कुछ वानर और भालुओं के संग जाते हैं, काष्ठ आता है, चिता तैयार होती है। उपस्थित जन-समुदाय मस्तक नीचा कर एकटक चिता की ओर देखता है। अनेक के नेत्रों से अश्रु बहते हैं।**]

राम—अच्छा लक्ष्मण, इसमें अग्नि लगाओ।

लक्ष्मण—(**दीर्घ निश्वास छोड़कर**) यह भी मैं ही करूँ, तात?

राम—क्यों, तुम्हें खेद होता है?

लक्ष्मण—आपकी कोई भी आज्ञा मानने में मुझे खेद नहीं हुआ, पर............।

राम—अच्छा, मैं ही करता हूँ। (**राम आगे बढ़ते हैं।**)

लक्ष्मण—(**जल्दी से**) नहीं, नहीं, तात, मैं ही करूँगा, मैं ही करूँगा। आपकी कोई भी आज्ञा लक्ष्मण कैसे उल्लंघन कर सकता है।

[**लक्ष्मण चिता में अग्नि लगाते हैं। कुछ देर में ज्वालाएँ निकलती हैं।**]

सीता—(**चिता की ओर देख, राम के निकट बढ़कर**) जाती हूँ, आर्यपुत्र, इस चिता की भीषण अग्नि को आलिंगन करने सहर्ष जाती हूँ। यदि सतीत्व के प्रताप ने इस अग्नि से रक्षा की तो इसी शरीर से आपको पुनः प्राप्त करूँगी अन्यथा जहाँ इस शरीर को छोड़कर जाऊँगी वहाँ।

[सीता चिता की ओर बढ़ती हैं। राम का मस्तक अत्यधिक झुक जाता है। जन-समूह मस्तक उठा एकटक सीता और चिता को देखता है।]

सरमा——(एकाएक आगे बढ़कर चिता और सीता के बीच में आ) ठहरो, वैदेही, ठहरो। मैं भी तुम्हारे संग चितारोहण करूँगी।

[सीता आश्चर्य से स्तंभित हो रुक जाती हैं। जन-समुदाय की दृष्टि एकाएक सरमा की ओर घूम जाती है, जिसमें अत्यधिक आश्चर्य दृष्टि-गोचर होता है। राम सिर उठाकर तथा विभीषण आश्चर्य से सरमा की ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। सरमा सीता की भुजा पकड़ चिता की ओर बढ़ती है।]

राम——(शीघ्रता से) ठहरिए, सरमा देवी, ठहरिए। आप यह क्या अनर्थ कर रही हैं और क्यों ?

सरमा——(रुककर) एक महान् अनर्थ को रोकने के लिए, देव।

सीता——(जल्दी से) मेरी रक्षा के लिए ? जिसमें तुम्हारे कारण मैं चितारोहण न करूँ ?

सरमा——नहीं, मैथिली, परन्तु इसलिए कि जगत् में एक मिथ्या बात सत्य सिद्ध न हो पावे।

सीता——मैं तुम्हारा अभिप्राय ही नहीं समझी।

सरमा——देखो, वैदेही, तुम अपने सतीत्व का इस प्रकार प्रमाण देने जा रही हो जिससे उल्टा यह सिद्ध होगा कि तुम सती न थीं। तुम्हारे समान सती का, ऐसी सती का, जिससे बड़ी सती मेरे मतानुसार आज पर्यन्त इस संसार में कभी नहीं हुई, असती सिद्ध होना जगत् में एक महान् मिथ्या बात का सत्य सिद्ध होना होगा।

सीता—अभी भी मैं तुम्हारे कथन का अर्थ नहीं समझ सकी।

सरमा—तुम समझती हो कि इस अग्नि से अपने सतीत्व के प्रताप के कारण तुम जीती हुई निकल आओगी ?

सीता—मैं नहीं जानती कि क्या होगा।

सरमा—परन्तु मैं जानती हूँ। तुम्हारा भस्म होना निश्चित है। सतीत्व का प्रताप आधिभौतिक शरीर को अग्नि से बचा सकने में असमर्थ है। अग्नि का धर्म दग्ध करना है। वह पवित्र और अपवित्र दोनों को समान-रूप से दग्ध करेगी। तुम्हारा शरीर नष्ट होते ही संसार कहेगा तुम अपनी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गयीं अतः तुम सती न थीं। मैं किसी पर-पुरुष के गृह में नहीं रही हूँ। मैं तुम्हारे संग चितारोहण कर संसार को इस बात का प्रमाण देना चाहती हूँ कि अग्नि का धर्म ही जलाना है, अतः उसने सीता सती के संग ही सती सरमा के शरीर को भी जला दिया। सीता इसलिए भस्म हो गयी कि अग्नि का धर्म भस्म करना है न कि इसलिए कि वे असती थीं।

[जन-समुदाय में 'धन्य है, धन्य है' शब्द होता है।]

सीता—परन्तु......परन्तु....मेरे लिए तुम........।

सरमा—तुम्हारे लिए नहीं, मैथिली, किन्तु संसार में एक मिथ्या बात को सत्य सिद्ध होने से रोकने के......।

[सरमा सीता की भुजा पकड़े हुए पुनः चिता की ओर बढ़ती है। जन-समुदाय में हाहाकार होता है।]

लक्ष्मण—(आगे बढ़कर सीता और सरमा से) ठहरिए, माता, और ठहरिए, सरमा देवी। मुझे तात से एक बात पूँछ लेने दीजिए।

(दोनों रुक जाती हैं। राम से--) तात, इन दोनों सतियों को इस प्रकार भस्म होने देना ही क्या आप इस समय का धर्म और कर्तव्य मानते हैं? सरमा देवी के इस कथन में क्या आप सत्यता नहीं मानते कि अग्नि का धर्म ही जलाना है? वह पवित्र और अपवित्र दोनों को ही जलाती है?

राम--(काँपते हुए स्वर में) परन्तु, लक्ष्मण, राक्षस के गृह में रही हुई सीता को ग्रहण करना धर्म और कर्तव्य की दृष्टि से कहाँ तक उचित है यह प्रश्न भी तो मेरे सम्मुख है।

लक्ष्मण--सीता देवी अपनी पवित्रता का इससे बड़ा क्या प्रमाण दे सकती थीं, आर्य, कि वे अग्नि को भी आलिंगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो गयीं। अब एक ओर इन दोनों सती-साध्वियों के शरीर की रक्षा और इनकी शरीर रक्षा ही नहीं, परन्तु उससे भी कहीं बड़ी वस्तु एक मिथ्या बात को सत्य सिद्ध होने से रोकने का प्रश्न है और दूसरी ओर आपका सीता देवी के ग्रहण करने का प्रश्न। तात, क्या अग्नि को इस प्रकार आलिंगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत होना ही उनकी अग्नि-परीक्षा नहीं है? क्या आज पर्यन्त अपने सतीत्व की ऐसी परीक्षा किसीने दी है?

[राम पुनः मस्तक झुका लेते हैं। जन-समुदाय उत्कंठित हो एक-टक राम की ओर देखता है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

लक्ष्मण--(राम को उत्तर न देते देखकर जन-समुदाय की ओर लक्ष्य कर) क्या आप लोग सीता देवी की इस परीक्षा को ही अग्नि-परीक्षा नहीं मानते? क्या उनकी शुद्धता में किसीको सन्देह है?

जन-समुदाय--(एक स्वर से) किसीको नहीं, किसीको नहीं। वैदेही नितान्त शुद्ध हैं। मैथिली परम पवित्र हैं। यही उनकी अग्नि-परीक्षा है। यही उनकी अग्नि-परीक्षा है।

[राम मस्तक उठाकर आँसू-भरी हुई दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं।]

यवनिका—पतन

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—अयोध्या का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[मार्ग वही है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। एक ओर से चार पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—समय निकलते कुछ भी विलम्ब नहीं लगता।

दूसरा—हाँ, देखो न, दुःख के चौदह वर्ष भी किसी न किसी प्रकार बीत ही गये।

तीसरा—पर, जिस प्रकार गत आठ मास बीते हैं उस प्रकार चौदह वर्ष न बीते थे।

चौथा—राम-राज्य सचमुच जैसी कल्पना की थी वैसा ही हुआ। आज राम को सिंहासनासीन हुए लगभग आठ मास ही हुए, परन्तु इन

आठ मासों में ही अवध का कैसा कायाकल्प हो गया है। राम राजाओं के चारों व्यसनों मद्यपान, द्यूत, स्त्री-संभोग और मृगया से मुक्त हैं। उनका एकमात्र व्यसन प्रजा-सेवा है। इसीलिए प्रजा को स्वर्गीय सुख है।

तीसरा—इस सूर्यवंश में भी कैसे-कैसे महान् जन हुए। ये चार भाई हुए तो चारों ही अपूर्व। राम की कर्तव्यशीलता अद्वितीय, लक्ष्मण की आज्ञा-परायणता अद्भुत, भरत का त्याग असीम और शत्रुघ्न का विलक्षण कार्य तो गत चौदह वर्षों में देख ही लिया है।

पहला—पर, तुमने एक बात सुनी?

तीसरा—क्या?

पहला—जानकी को गर्भ है।

तीसरा—हाँ, यह तो सुना है और सुनकर बड़ा आनन्द भी हुआ।

पहला—पूरे दिन होना चाहते हैं।

चौथा—सो भी होगा, फिर?

पहला—फिर क्या? राम को राक्षस के घर रही हुई पत्नी को ग्रहण करना क्या उचित था?

दूसरा—पर, उन्होंने सीता देवी की परीक्षा के पश्चात् उन्हें ग्रहण किया है।

तीसरा—और वह भी मैथिली ने ऐसी परीक्षा दी जैसी संसार में आज तक किसीने न दी थी। सुना नहीं, वे अग्नि में प्रवेश कर ज्यों की त्यों बाहर निकल आयी थीं।

पहला—यह तो राम तक नहीं कहते, परन्तु हाँ, यह अवश्य सुना

कि उन्होंने अपनी शुद्धता को प्रमाणित करने के लिए अग्नि में प्रवेश करने का प्रस्ताव किया था।

तीसरा—नहीं, नहीं, उन्होंने अग्नि में प्रवेश किया और उनकी पवित्रता के कारण अग्नि भी उन्हें नहीं जला सकी।

पहला—व्यर्थ की बातें न करो। जो बात राम स्वयं नहीं कहते वे उनके भक्त फैला रहे हैं। स्त्रियाँ पति के साथ अग्नि में सती हो सकती हैं, पर आज तक स्त्री ही क्या कोई भी प्राणी चिता से जीवित निकला है? बिना जले जैसा का तैसा? यह प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। मैंने तो ऐसी बात देखना दूर रहा, न कभी सुनी और न कहीं पढ़ी है।

चौथा—इससे क्या, आज तक कोई सीता देवी के सदृश सती उत्पन्न ही न हुई होगी।

पहला—वाह! वाह! यह तुमने अच्छा कहा। पातिव्रत का ठेका कुछ सीता ही ने ले लिया है? हम लोगों की स्त्रियाँ भी पतिव्रता हैं, वे भी सती हैं।

तीसरा—तो इस बात को दूसरी प्रकार से देखो, किसी सती को अब तक अपने सत् की परीक्षा देने का ऐसा अवसर नहीं मिला।

पहला—इस प्रकार और उस प्रकार क्यों देखूँ? हर वस्तु को घुमा-फिरा कर देखने की अपेक्षा सीधी दृष्टि से देखना ही उत्तम होता है। मैं तो यह भी नहीं मानता कि वैदेही ने अपनी शुद्धता की परीक्षा देने के लिए अग्नि में प्रवेश करने का भी प्रस्ताव किया होगा।

तीसरा—तब यह अग्नि-परीक्षा की चर्चा ही कैसे हुई?

पहला—स्पष्ट ही सुनना चाहते हो?

चौथा—हाँ, हाँ, कहो न?

पहला—राम सीता देवी पर अत्यधिक प्रेम करते हैं और प्रजा में अपवाद भी नहीं चाहते इसलिए।

तीसरा—अर्थात् राम ने ही यह झूठ बात फैलवायी है।

चौथा—कदापि नहीं, राम ऐसी मिथ्या बात कभी नहीं फैला सकते।

पहला—यह अपने-अपने विश्वास की बात है।

दूसरा—**(सिर हिलाते हुए)** जो कुछ भी हो, पर अच्छा ही होता, यदि महाराज सीता देवी को ग्रहण न करते।

पहला—सच कहा, यह उनके निष्कलंक चरित्र में सदा कलंक रहेगा। सूर्यवंश में ऐसा कोई नहीं हुआ, जिसने पर-घर में रही हुई स्त्री को ग्रहण किया हो।

तीसरा—यदि यह उनका दोष भी मान लिया जाय तो दोष किसमें नहीं होते?

चौथा—हाँ, गुणी सदा गुण की ओर ही लक्ष रखते हैं।

पहला—पर, सर्व-साधारण की दृष्टि सदा दोषों की ओर ही जाती है। यह अपवाद राज्य में बहुत फैलता जा रहा है। जब से लोगों को ज्ञात हुआ है कि जानकी गर्भवती हैं तब से तो बहुत अधिक चर्चा हो रही है। लोग कहते हैं कि क्या अब राक्षस-पुत्र अवध के राजा होंगे।

चौथा—इस पंचायत ही पंचायत में वह धर्म-सभा हो जायगी और हम यहीं खड़े रह जायँगे।

तीसरा—हाँ, हाँ, चलो। इस प्रकार की चर्चाएँ तो नित्य की चक्की हैं, चला ही करती हैं।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद का कक्ष

समय—तीसरा पहर

[कक्ष वही है जो पहले अंक के पहले दृश्य में था। राम चौकी पर बैठे और लक्ष्मण खड़े हैं। दोनों के राजसी भेष हैं।]

लक्ष्मण—**(सिर नीचा किये, दुःखित स्वर में)** तो महाराज, यह आपका अन्तिम निर्णय है?

राम—**(दुःखित स्वर में जल्दी-जल्दी)** हाँ, लक्ष्मण, अन्तिम, सर्वथा अन्तिम। राजा का कर्तव्य प्रजा-पालन ही न होकर प्रजा-रंजन भी है। जिस राजा के लिए प्रजा में इस प्रकार का अपवाद हो वह राजा कभी न तो राज्य के योग्य है और न राज्य कर ही सकता है।

लक्ष्मण—परन्तु, महाराज, महारानी निर्दोष, सर्वथा निर्दोष हैं; शुद्ध, नितान्त शुद्ध हैं।

राम—परन्तु, यह अपवाद उन्हें शुद्ध कह देने मात्र से शान्त नहीं होगा। वत्स, इसके लिए मुझे और वैदेही दोनों को ही तपस्या करनी होगी।

लक्ष्मण—परन्तु, महाराज, वे अपनी शुद्धता प्रमाणित करने के लिए अग्नि को आलिंगन करने के लिए भी प्रस्तुत थीं।

राम—अग्नि को आलिंगन किया तो नहीं न?

लक्ष्मण—जिस प्रकार वे प्रस्तुत हुई थीं उस प्रकार प्रस्तुत होना ही क्या उनकी शुद्धता का पूर्ण प्रमाण नहीं है?

राम—प्रजा तो उनका उस प्रकार प्रस्तुत होना भी नहीं मानती।

लक्ष्मण—प्रजा यदि कोई बात नहीं मानती तो प्रजा के अनुचित हठ के कारण महारानी को त्यागकर उनपर अत्याचार करना भी तो अधर्म है।

राम—हो सकता है; पर मैं स्वयं अपने सुख के लिए यह अधर्म नहीं कर रहा हूँ। मुझे क्या मैथिली के त्याग से कम दुःख होगा? मेरा मन क्या रात्रि और दिवस उसके ऊपर किये गये अत्याचार और उसके वियोग से नहीं कुढ़ेगा, हृदय नहीं फटेगा, विदीर्ण न होता रहेगा? लगभग एक वर्ष तक जब उसका और मेरा वियोग रहा, तब तुमने मेरी स्थिति नहीं देखी थी? यह वियोग तो, सम्भव है, चिरवियोग हो जावे। सम्भव है, वैदेही अपने प्राण ही त्याग दे या इसे न सह सकने के कारण, सम्भव है, मेरा यह शरीर ही न रहे। पर, इससे क्या? इससे क्या, वत्स? राजा के कर्तव्य का पालन तो करना ही होगा। जब राजपद का उत्तरदायित्व ग्रहण किया है तब एक वैदेही के प्रति अत्याचार करने के भय से अथवा एक वैदेही के प्रति अधर्म हो जाने के डर से, चाहे वह मुझे कितनी ही प्रिय क्यों न हो, सारी प्रजा को असन्तुष्ट तो नहीं किया जा सकता, छोटे पाप के लिए एक बड़ा पाप तो नहीं हो सकता।

लक्ष्मण—**(आँसू भरकर)** महाराज, महारानी गर्भवती हैं; पूरे दिन हैं।

राम—**(खड़े होकर भर्राये हुए स्वर से)** अब और कुछ न कहो, वत्स, और कुछ न कहो। पिता की मृत्यु का कारण राम है और सन्तान की मृत्यु का कारण होना भी कदाचित् राम के भाग्य में लिखा है। राम का जन्म रूखा-सूखा कर्तव्य पालन करने और दुःख पाने के लिए ही हुआ है, सुख के लिए नहीं। तुम तो मेरी आज्ञा बिना प्रश्न किये ही मानते रहे

हो; जाओ, इसका भी पालन करो, लक्ष्मण, इसका भी। तपोवन दर्शन की उसने इच्छा प्रकट की थी, अतः वाल्मीकि के आश्रम के निकट, अत्यन्त निकट उसे छोड़ना। वहीं उसे मेरा सन्देश देना, यहाँ नहीं, लक्ष्मण। देखो, स्पष्ट कहना कि राम तुम्हें शुद्ध, नितान्त शुद्ध समझता है। पर, जनसाधारण के सन्तोष के लिए यह आवश्यक है कि वह और मैं दोनों ही तपस्या करें।

लक्ष्मण—(कातर दृष्टि से राम की ओर देखते हुए) महाराज.... महाराज.........।

राम—(सिर नीचा कर इधर-उधर टहलते हुए) बस, वत्स, बस, अब एक शब्द नहीं; इस विवाद से मुझे दुःख, घोर दुःख होता है; मेरा हृदय फटता है। जाओ, जाओ, शीघ्रातिशीघ्र जाओ। जो मैंने कहा वही करो; मुझसे अब इस सम्बन्ध में एक शब्द न कहो।

[लक्ष्मण की आँखों से आँसू बहने लगते हैं। वे मस्तक नीचा किये धीरे-धीरे चले जाते हैं। लक्ष्मण के जाने के पश्चात् राम—"हाय रे हतभाग्य राम" यह कहते हुए बैठकर अपना सिर हाथों पर रख, बालकों के समान फूट-फूटकर रो पड़ते हैं। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या का मार्ग

समय—प्रातःकाल

[मार्ग वही है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। दो पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—सुना, बन्धु, प्रजा में अपवाद के कारण प्रजा के संतोष के लिए महाराज ने सती महारानी का भी त्याग कर दिया।

दूसरा—हाँ, और उस समय, जब ये गर्भवती हैं।

पहला—फिर उनपर महाराज का अत्यधिक प्रेम था!

दूसरा—कौन करेगा, बन्धु, कौन राजा अपने कर्तव्य का इस प्रकार पालन करेगा?

[एक ओर से वसिष्ठ और दूसरी ओर से हाथ में एक बालक का शव लिए एक ब्राह्मण का प्रवेश।]

ब्राह्मण—(वसिष्ठ से) दुहाई है, भगवन्, दुहाई है। आप ही के पास जा रहा था, आप ही के। इस दुखी ब्राह्मण का कष्ट निवारण कीजिए। यह देखिए, यह मेरा पुत्र मर गया है। इकलौता पुत्र था, प्रभो, इकलौता। जब से राम का राज्य हुआ तब से तो किसी पिता के सम्मुख कोई पुत्र नहीं मरा। मैंने बहुत विचार कर देखा, मैंने कोई पाप नहीं किया, जिससे यह मर जाता। इसकी माता ने भी विचारा, उसने भी कोई पाप नहीं किया; फिर यह किस पाप से मर गया, देव? राजा के पाप से, अथवा कुल-गुरु के पाप से? या तो आप मुझे सन्तुष्ट कीजिए, या मैं भी इस बालक के संग ही अपने प्राण दे दूँगा, इसकी माँ भी मर जायगी और एक ब्राह्मण का कुल नष्ट हो जायगा। **(रोता है।)**

वसिष्ठ—इतने दुःखित और आतुर न हो, ब्राह्मण, इसपर विचार होगा। राम-राज्य में यह अनर्थ सचमुच आश्चर्य-जनक है। चलो, मैं तुम्हारे साथ पहले आश्रम को चलता हूँ। वहाँ योगबल से इसका कारण खोजूँगा। यदि राजा से इसका सम्बन्ध होगा तो तत्काल राज-भवन को चलूँगा।

[दोनों का प्रस्थान।]

पहला पुरवासी—चलो, बन्धु, हम लोग भी चलकर देखें, इसमें क्या रहस्य निकलता है ?

दूसरा—अवश्य।

[दोनों का वसिष्ठ और ब्राह्मण के पीछे-पीछे प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—तीसरा पहर

[दालान में पीछे की ओर रँगी हुई भित्ति हैं और दोनों ओर दो स्तंभ तथा स्तंभों के नीचे कुंभी और ऊपर भरणी। राम और लक्ष्मण टहलते हुए बातें कर रहे हैं।]

राम—जब तुमने उसे मेरा सन्देश सुनाया, उसी समय वह आश्रम को चली गयी ?

लक्ष्मण—नहीं, महाराज, मेरे सामने वे नहीं गयीं, जब तक मैं खड़ा रहा, वे खड़ी रहीं। मैंने जब गंगा पार की और उस पार से देखा तब भी वे खड़ी हुई मेरी नौका को देख रही थीं, जब मैं रथारूढ़ हुआ तब भी वे खड़ी थीं और जब तक मार्ग के मोड़ पर मेरा रथ न घूम गया तब तक वे मुझे बराबर वहीं खड़ी दिखीं। महाराज, यह क्रूर हृदय लक्ष्मण ही वन में उन्हें अकेली तजकर चला आया, गर्भवती अवस्था में छोड़कर लौट आया, मुख-मोड़कर भाग आया, हृदय पर पत्थर रखकर आ गया।

पर, वे, आह ! वे तो अन्त तक मुझे वहीं खड़े-खड़े देखती रहीं। (**लक्ष्मण के अश्रुधारा बहती है।**)

राम—(**लम्बी साँस लेकर**) हा !

लक्ष्मण—आपको उन्होंने सन्देश भी दिया है।

राम—(**उत्सुकता से**) क्या वत्स, क्या सन्देश दिया है ?

लक्ष्मण—मैंने उसे पत्र पर लिख लिया है। मैं उनके सन्देश को आपके सम्मुख जैसा का तैसा पढ़ूँगा, महाराज, उसका एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर और एक-एक मात्रा निरन्तर जप करते रहने की वस्तु है।

राम—पढ़ो, लक्ष्मण, पढ़ो, उसे भी यह हतभाग्य राम हृदय पर पत्थर रखकर सुनेगा।

लक्ष्मण—(**एक कागज पढ़ते हैं**) "नाथ ! आपके त्याग से जो कष्ट मुझे हुआ और होगा उसका वर्णन मैं शब्दों में नहीं कर सकती। सच्चे भावों के पूर्ण प्रकाशन के लिए शब्द कभी यथेष्ट नहीं होते, फिर ऐसे अवसर पर न शब्द ही स्मरण आते हैं और न उनसे वाक्य-रचना ही हो सकती है। इस कष्ट के निवारण का सरल उपाय यही था कि मैं अपने प्राण दे देती, पर, आपने मुझे ऐसे समय त्याग किया जब यदि मैं ऐसा करूँ तो मुझे ही आत्म-हत्या और गर्भ-हत्या का पाप न लगेगा, पर, आपके प्रति आपकी सन्तानोत्पत्ति के अपने कर्तव्य से भी मैं च्युत हो जाऊँगी, जो विश्व में मैं अपना सबसे बड़ा धर्म मानती हूँ। लंका में मैं आपके वियोग में आपके पुनः दर्शन की आशा पर जीवित थी, अब मुझे वह अवलम्ब भी नहीं है। मेरे प्रयत्न करते रहने पर भी कि मैं जीवित रह आपकी सन्तति की उत्पत्ति और उसका पोषण कर सकूँ, यदि इस वियोग के न सह

सकने के कारण मेरी मृत्यु हो जावे, तो आप मुझे क्षमा करेंगे; आपके क्षमा न करने से तो न जाने मेरी क्या गति होगी।"

राम—(आँसू पोंछते हुए) आह ! आह !

लक्ष्मण—(आँसू पोंछते हुए) "आर्यपुत्र, मैं जानती हूँ कि आपको मेरे वियोग से दुःख होगा, पर, मैं हाथ जोड़कर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे लिए दुखी न हों। आप यह भी न विचारें कि मेरे दुःखों के कारण आप हैं। आपको मैं मनसा, वाचा और कर्मणा किसी प्रकार भी दोषी नहीं ठहराती। यह मेरे भाग्य का दोष है या मेरे पूर्व संचित पापों का फल है कि मुझे आपके वियोग का दुःख मिल रहा है, जिससे बड़ा संसार में मेरे लिए और कोई दुःख नहीं हो सकता। इस दुःख में भी सबसे अधिक क्लेश मुझे इस बात का रहेगा कि आप मेरे लिए दुखी रहेंगे, इसलिए मैं फिर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे लिए दुखी न हों।"

राम—(टहलते हुए) आह ! लक्ष्मण, आह ! मेरे ऐसे क्रूर काण्ड पर भी उसने मुझे दोष नहीं दिया, नहीं धिक्कारा?

लक्ष्मण—(गद्‌गद कण्ठ से) दोष देना और धिक्कारना कैसा, महाराज। उन्होंने तो इसके विपरीत अपने भाग्य को ही दोष दिया है, अपने कल्पित पापों को ही दोष दिया है।

राम—और उसने क्या कहा, बन्धु?

लक्ष्मण—उन्होंने इस प्रकार अपना सन्देश पूर्ण किया—"नाथ, आप मुझे भूलने का उद्योग कीजिएगा, क्योंकि दुःख में कर्तव्यों का ठीक पालन नहीं हो सकता। मैं आपके संग रहे हुए दिनों का स्मरण करते हुए, आपके स्वरूप का ध्यान और आपके नाम का जप करते करते आपकी सन्तति का पोषण करने के लिए जीवित रहने का प्रयत्न करूँगी। जब मेरा

अन्त समय उपस्थित होगा उस समय आपके पाद-पद्मों में चित्त रख मैं यही विनय करती हुई प्राणों को तजूँगी कि जन्म-जन्म मुझे आपके समान ही पति प्राप्त हो।"

[इतना पढ़ते-पढ़ते लक्ष्मण बालकों के समान फूट-फूटकर रोने लगते हैं। राम के नेत्रों से भी अश्रुधारा बह निकलती है और वे इधर-उधर टहलने लगते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। राम फिर धीरे-धीरे कहते हैं।]

राम—और भी कुछ वैदेही ने कहा, लक्ष्मण ?

लक्ष्मण—(धीरे-धीरे रुँधे हुए कण्ठ से) आपके कहने को कुछ नहीं, महाराज, पर, मुझे आपके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सदा सतर्क रहने के लिए बहुत कुछ कहा है। मैं तो उन्हें सान्त्वना तक न दे सका, पर उन्होंने उल्टी मुझे सान्त्वना दी है।

राम—(लम्बी साँस ले) इतने पर भी उसे मेरी चिन्ता है ! इतनी चिन्ता, वत्स !

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) गुरुदेव पधारे हैं, श्रीमान् से भेंट करना चाहते हैं।

राम—(सँभलकर) उन्हें आदरपूर्वक भीतर भेज दो।

[राम-लक्ष्मण दोनों, नेत्र पोंछ स्वस्थ होने का प्रयत्न करते हैं। वसिष्ठ का प्रवेश। राम, लक्ष्मण प्रणाम करते हैं। वसिष्ठ आशीर्वाद देते हैं।]

वसिष्ठ—राज्य में एक घोर अधर्म हो रहा है, उसे तुम्हें निवारण करना है, राम।

राम—(**चौंककर और भी स्वस्थ हो**) अधर्म, भगवन् ! कैसा अधर्म ? मेरे कर्तव्य-च्युत होने से तो कोई अधर्म नहीं हो रहा है, प्रभो ?

वसिष्ठ—नहीं वत्स, नहीं, तुम्हारे सदृश कर्तव्यपरायण और प्रजा-रंजक कौन होगा, जिसने प्रजा-रंजन के लिए वैदेही-सदृश पत्नी तक का त्याग कर दिया।

राम—तब क्या है, देव ?

वसिष्ठ—आज प्रातःकाल एक ब्राह्मण-पुत्र की उसके माता-पिता के जीवित रहते हुए मृत्यु हो गयी, उसने मुझसे यह वृत्त कह इसका कारण पूछा, मैंने योग-बल से कारण का पता लगा लिया है, राम।

राम—अब तक तो राज्य में ऐसा कभी नहीं हुआ था, क्या कारण है, नाथ ?

वसिष्ठ—दण्डकारण्य में शम्बूक नामक एक शूद्र तप कर रहा है। दण्डकारण्य तुम्हारे राज्य में है। इस पाप से यह ब्राह्मण-पुत्र मरा है।

राम—(**आश्चर्य से**)तपस्या करना पाप हुआ, भगवन् ?

वसिष्ठ—धर्म और पाप की बड़ी गूढ़ व्याख्या है। स्थान, काल और पात्र के अनुसार इनका स्वरूप निर्धारित होता है। इस काल में, इस राज्य में, शूद्र की तपस्या पाप ही है।

राम—तो क्या करना होगा, प्रभो ?

वसिष्ठ—तुम तत्काल दण्डकारण्य जाओ, शूद्रक उल्टा सिर किये हुए तप कर रहा है, उसे खोज लेना। या तो उसे तपस्या से विमुख करो, या उसका वध।

राम—(आश्चर्य से) तपस्वी का वध, नाथ ?

वसिष्ठ—हाँ, यही इस समय का धर्म है; विलम्ब नहीं, तत्काल।

राम—जैसी आज्ञा।

[राम और लक्ष्मण का वसिष्ठ को प्रणाम कर एक ओर, और वसिष्ठ का आशीर्वाद दे दूसरी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—दण्डक-वन

समय—सन्ध्या

[घना जंगल है। अस्त हुए सूर्य की सुनहरी किरणें वृक्षों के ऊपरी भागों पर पड़ रही हैं। एक वृक्ष से लटका और नीचे की ओर मुँह किये वृद्ध शम्बूक तप कर रहा है। जटा और दाढ़ी बढ़ गये हैं। शरीर जर्जर हो गया है। चार घोड़ों से जुता हुआ एक रथ आता है। रथ वैसा ही है जैसा पहले अंक के तीसरे दृश्य में था। रथ पर राम और लक्ष्मण बैठे हैं। राम, लक्ष्मण शम्बूक को देख विमान से नीचे उतरते हैं।]

राम—(लक्ष्मण से) यही शम्बूक जान पड़ता है। यही दण्डकारण्य है। यहीं निकट ही पंचवटी है। यहीं अनेक वर्ष तुम्हारे और वैदेही के संग आनन्दपूर्वक निवास किया था। अब कहाँ वे दिन, लक्ष्मण ? क्या कभी जीवन में फिर वैसे आनन्द के दिन आवेंगे ? उस समय तो वे बड़े कष्ट-प्रद मालूम होते थे, अयोध्या-निवासियों के दुःख से हृदय विह्वल रहता था; पर वे ही दिन उत्तम थे, वे ही। वत्स, यह कर्तव्य सचमुच बड़ा

विलक्षण है। अब तो जानकी के लिए रोने तक का अवकाश नहीं है।

लक्ष्मण—इसमें क्या सन्देह है, महाराज !

राम—(**शम्बूक के निकट जाकर**) शम्बूक, तुम मुझे जानते हो ?

शम्बूक—(**उसी स्थिति में ध्यानपूर्वक राम को देखते हुए**) मैं तपोबल से सब कुछ जानता हूँ, राम।

राम—अच्छा, तब तो तुम यह भी जानते होगे कि मैं यहाँ क्यों आया हूँ !

शम्बूक—हाँ, आर्य, ब्राह्मणों की सत्ता स्थापित बनाये रखने के लिए, मेरा वध करने।

राम—नहीं, नहीं, पहले तुमसे अनुरोध करने कि तुम इस मार्ग को छोड़ दो।

शम्बूक—हाँ, परन्तु यदि मैं न छोड़ूँ ? तब तो तुम मेरा वध ही करोगे न ?

राम—तब यह करना मेरा कर्तव्य होगा।

शम्बूक—और अपना संकल्प न छोड़ना मेरा कर्तव्य है। सुनो, राम, मुझे ज्ञात है कि राज्य में एक ब्राह्मण का पुत्र मरा है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे ब्राह्मण-कुल-गुरु ने इसका कारण मेरी तपस्या बतलाया है, पर इसका यथार्थ कारण तुम्हारे राज्य की ब्राह्मण-सत्ता है। ब्राह्मण यह मानते हैं कि हम शूद्रों को तप का अधिकार नहीं है। मैंने यह तप इसी मत के खण्डन के लिए किया है। यदि मेरे तप से कोई शूद्र का बालक मरता तो मेरे तप का कुफल हो सकता था, पर ब्राह्मण-बालक मरा इससे यह स्पष्ट हो गया कि वे ही भूल में हैं। भगवान् उनको जता देना चाहते हैं

कि उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए किसी भी व्यक्ति पर अत्याचार नहीं हो सकता। यदि ब्राह्मण एक जन-समुदाय को सदा नीच बनाये रखने का उद्योग करेंगे तो हम इसी प्रकार सिर उठावेंगे। इससे उन्हीं का संहार होगा। वसिष्ठ ने यह तो अपने योगबल से जान लिया कि मेरे तप के कारण ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु हुई, पर उन्होंने यह नहीं जाना कि इस प्रकार की मृत्युओं का निवारण मेरी अकेले की हत्या से न होकर उनके मत के परिवर्तन में ही सम्भव है। पर, राम, यह विवाद निरर्थक है। मैं योगबल के कारण जानता हूँ कि तुमसे इस जन्म में समाज की अनुचित मर्यादाएँ भी न टूटेंगी। तुम्हारा यह जन्म मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त हुआ है, तोड़ने के निमित्त नहीं। मैं अपना संकल्प न छोड़ूँगा, तुम अपना काम करो, इस हत्या के पश्चात् भी मुझे तो मोक्ष ही मिलेगा।

[राम उसका भाषण सुन गहरे सोच में पड़ जाते हैं। इधर-उधर टहल एक ओर हट लक्ष्मण से कहते हैं।]

राम—यह सब कैसा रहस्य है, वत्स! मर्यादा का उल्लंघन सचमुच ही मेरे लिए असम्भव है। इस शूद्र के कथन में मैं भारी सत्य देखता हूँ। पर, फिर भी इसे इसी प्रकार छोड़ इस हत्या से विमुख होने में मुझे ऐसा भास होता है कि मेरा राज्य-कर्तव्य-भंग हो रहा है, धर्म की मर्यादा टूट रही है। लक्ष्मण, लक्ष्मण, यह सब क्या है? ताड़का की स्त्री-हत्या करना इसलिए कर्तव्य था कि वह दुष्टा थी तथा ऋषियों को कष्ट देती थी, बालि का अधर्म से भी निधन करना इसलिए कर्तव्य था कि वह अधर्मी था, मित्र से उसके वध करने की मैं प्रतिज्ञा कर चुका था और इस निःशस्त्र तपस्वी की हत्या? आह! वह इसलिए आवश्यक है कि शूद्र का तपस्या करना प्रचलित धर्म के विरुद्ध है, जिसकी रक्षा का उत्तरदायित्व मैंने ग्रहण किया है।

लक्ष्मण—हाँ, महाराज, ऐसी ही समस्या है।

राम—ओह! आज के समान संकल्प-विकल्प तो हृदय में कभी नहीं उठे। न जाने राम के हाथ से अभी क्या-क्या होना बदा है? **(कुछ ठहर-कर)** जो कुछ हो, धर्म की मर्यादा-रक्षा करना मेरा तो कर्तव्य है; चाहे यह तपस्वी हो अथवा निःशस्त्र। यह तपस्या नहीं छोड़ना चाहता, अतः इसे मारने के अतिरिक्त मेरे लिए और कौन मार्ग है? कोई नहीं—लक्ष्मण, कोई नहीं। **(फिर शम्बूक के निकट जाकर)** फिर पूछता हूँ कि तप छोड़ना तुम्हें स्वीकार नहीं है?

शम्बूक—कदापि नहीं।

राम—सोच लो, अच्छी प्रकार विचार लो।

शम्बूक—**(घृणा से मुस्कराकर)** न जाने कितने काल से सोच और विचार लिया है।

राम—**(लंबी साँस लेकर)** अन्तिम निर्णय है?

शम्बूक—अन्तिम, सर्वथा अन्तिम।

राम—**(तलवार निकाल, आगे बढ़, शम्बूक पर प्रहार करते हुए)** आह! लक्ष्मण, आह! लक्ष्मण, यह कैसी विडम्बना है? यह कैसा कर्तव्य है?

यवनिका-पतन

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—तीसरा पहर

[दालान वही है जो चौथे अंक के चौथे दृश्य में थी। राम और वसिष्ठ खड़े हुए बातें कर रहे हैं।]

वसिष्ठ—तब तो देव-ऋण से उऋण होना सम्भव नहीं दिखता, राम।

राम—जो कुछ भी हो, भगवन्, यदि बिना विवाह किये यज्ञ होना सम्भव नहीं है, तो मुझे नरक में पड़ने दीजिए। मनुष्य पर जो देवता, ऋषि, पितृ और मनुष्य इस प्रकार के चार ऋण रहते हैं, उनमें से विद्या-ध्ययन द्वारा ऋषि और जन-सेवा द्वारा मनुष्य-ऋण से तो मुक्त होने का मैंने प्रयत्न किया ही है। अब यदि बिना पुत्र के पितृ-ऋण और बिना यज्ञ के देव-ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकता तो मुझे नरक में ही पडने दीजिए, देव।

वसिष्ठ—धन्य हो, राम, धन्य हो। तुम्हारा मैथिली पर सत्य प्रेम है। मैंने शास्त्र को देख लिया है। वैदेही की सुवर्ण मूर्ति के संग तुम्हारा यज्ञ होगा। शास्त्र की मर्यादा इसमें भंग नहीं होती। एक पत्नीव्रत का जाज्वल्यमान उदाहरण भी तुम छोड़ जाओगे। मैं देखता था कि कहाँ तक तुम अपनी टेक पर रह सकते हो। हिमालय से ले समुद्र-पर्यन्त तुम्हारे राज्य की विजय-पताका अश्वमेध-यज्ञ में उड़ सकेगी। चलो, आज ही शुभ मुहूर्त्त है। आज से ही यज्ञ की तैयारी का आरम्भ किया जाय।

राम—(गद्गद होकर) आप सदृश कुल-गुरु को पाकर मेरा कौन-सा मनोरथ विफल रह सकता है, प्रभो ?

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वाल्मीकि का आश्रम

समय—प्रातःकाल

[छोटी-छोटी कई कुटियाँ गंगा के किनारे बनी हुई हैं। इनके चारों ओर फलों के वृक्ष दिखायी देते हैं जिनपर पुष्प-लताएँ चढ़ी हुई हैं। वृक्षों पर बन्दर और तोते तथा अनेक प्रकार के पक्षी दिखते हैं। इधर-उधर कई पालतू मृग और मोर दिखायी देते हैं। सारा दृश्य प्रातःकाल के प्रकाश से आलोकित है। कुटी के बाहर बीच में यज्ञ-वेदिका है। उसीके निकट सीता और बासन्ती बैठी हुई बातें कर रही हैं। सीता बहुत क्षीणकाय हो गयी हैं। हाथों में चूड़ियों के अतिरिक्त और कोई आभूषण नहीं हैं। वल्कल-वस्त्र पहिने हुए हैं। बासन्ती की अवस्था सीता से कुछ अधिक है। वह

भी गौर वर्ण है और उसकी वस्त्र-भूषा भी सीता के ही समान है। सीता गा रही हैं।]

तुम्हरे बिरह भई गति जौन ।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि ! जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न।।
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचनन-कौन ।
'हा धुनि'-खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ।।
जेहि बाटिका बसति तहँ खग-मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन ।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहुँ तेहि मग पगु न धर्‌यो तिहुँ पौन ।।

सीता——(**गान पूर्ण होने पर**) आज पूरे बारह वर्ष हो गये। वासन्ती, आज ही के दिन लक्ष्मण मुझे भागीरथी के तीर पर छोड़कर गये थे। वह सारा दृश्य आज फिर नेत्रों के सम्मुख घूम रहा है। लक्ष्मण कैसे शोक-ग्रस्त थे, आर्यपुत्र के वियोग का भय मेरे हृदय को कैसा विदीर्ण कर रहा था, बार-बार मन में यह उठता था कि मैं उनके बिना प्राणों को कैसे रख सकूँगी; पर, सखि, बारह वर्ष हो चुके और ये अधम प्राण शरीर को अब भी नहीं छोड़ते। लंका में तो आर्यपुत्र के मिलने की आशा पर प्राण अवलम्बित थे, पर यहाँ तो वह आशा भी नहीं है। सचमुच मनुष्य सारे कष्टों को सहन कर लेता है।

बासन्ती——तब यदि उनके मिलने की आशा अवलम्ब थी तो अब उनके चिन्ह ये कुश-लव अवलंब नहीं हैं? दोनों बालक कैसे हैं! रघुनाथजी के सदृश ही रूप, उन्हींके सदृश गुण, सब कुछ उन्हीं-सा तो है ।

सीता——पर, न जाने, बासन्ती, इन पुत्रों के भाग्य में क्या बदा है? चक्रवर्ती राजा के पुत्र होकर ये वन में उत्पन्न हुए, आश्रम में इनका लालन हुआ और भिक्षान्न से पालन।

बासन्ती—इसकी चिन्ता न करो, सीता, सुना नहीं कि तुम्हारी ही सुवर्ण-मूर्ति के संग महाराज यज्ञ करेंगे ? अभी भी वे क्या तुम्हें भूले हैं, वैदेही ?

सीता—यह तो मैं जानती हूँ, बासन्ती, वे मुझे क्षणमात्र को भी नहीं भूल सकते। मैं क्या उनके हृदय से परिचित नहीं हूँ ? अयोध्या में, वन जाने के पूर्व और वन से लौट कर वे मुझे जिस प्रेम से रखते थे, वह क्या यह शरीर रहते मुझे विस्मृत हो सकता है ? वन में तेरह वर्ष तक उन्होंने जिस प्रकार मुझे रखा वह स्मृति तो मेरी अटूट निधि है। अभी भी आठों पहर और चौसठों घड़ी मैं ही उनके हृदय में निवास करती होऊँगी, पर इन बालकों को तो वे तभी ग्रहण करेंगे जब उनके कर्तव्य में बाधा न पहुँचेगी।

बासन्ती—देखो, सखि, दोनों बालक महर्षि वाल्मीकि के संग यज्ञ में अयोध्या गये ही हैं। ज्ञात नहीं, क्यों बार-बार मेरे हृदय में उठता है कि इस यज्ञ में कोई न कोई अद्भुत घटना अवश्य घटित होगी। अयोध्या में भी यह स्पष्ट हो जायगा कि ये कुश-लव रघुनाथजी के ही पुत्र हैं।

[वाल्मीकि का प्रवेश। वाल्मीकि अत्यन्त वृद्ध हैं। शरीर दुर्बल, किन्तु ऊँचा है। वर्ण साँवला और छोटी-छोटी श्वेत रंग की जटा तथा लम्बी दाढ़ी है। वस्त्र वल्कल के हैं। वाल्मीकि को देख सीता और बासन्ती दोनों खड़ी हो प्रणाम करती हैं।]

वाल्मीकि—**(आशीर्वाद दे, सीता से)** तेरे सारे दुःखों की समाप्ति का समय आ गया, पुत्री, राम के और तेरे त्याग ने सारे देश की प्रजा का हृदय द्रवी-भूत कर दिया। जो प्रजा तेरे सम्बन्ध में अपवाद लिए बैठी थी, वही तेरे इन बारह वर्षों का जीवन-वृत्तान्त सुन, कुश और लव को ठीक राम के अनुरूप देख, अब यह चाहती है कि राम तेरी सुवर्ण-प्रतिमा के

संग नहीं किन्तु प्रत्यक्ष तेरे संग बैठकर यज्ञ करें। मैं कुश और लव को अयोध्या में ही छोड़कर अभी वहाँ से लौट रहा हूँ। जिस मार्ग से वे बालक मेरी रामायण का गान करते हुए निकलते हैं, सहस्रों का जन-समुदाय इकट्ठा हो जाता है। राजभवन में भी उन्होंने राम आदि को रामायण गाकर सुनायी है। अवध की प्रजा के झुण्डों के झुण्डों ने और देश-देश के माण्डलीक राजाओं ने, जो यज्ञ में अपनी प्रजा के मुख्य-मुख्य जनों के संग आये हैं, अपनी प्रजा-जनों के सहित राम के पास जा-जाकर तेरे ग्रहण करने का अनुरोध किया है। हिमालय से समुद्र-पर्यन्त सारे देश के मनुष्य राम के संग तेरे दर्शन चाहते हैं; एक स्वर से अयोध्या में यही ध्वनि निकल रही है। राम ने भी तुझे सहर्ष ग्रहण करना स्वीकार किया है और राजगुरु वसिष्ठ ने भी तेरे ग्रहण करने की अनुमति दे दी है। इसी कारण यज्ञारम्भ का मुहूर्त्त आगे बढ़ा दिया गया है। यज्ञ-शाला की पुण्य-भूमि में ही राम तुझे ग्रहण करेंगे। तुझे मेरे संग अभी अयोध्या चलना है, पुत्री।

सीता—(**गद्‌गद होकर**) प्रभो, क्या मैं जीवित हूँ? क्या जीवित अवस्था में, उसी शरीर के रहते, उन्हीं कानों से यह सम्वाद सुन रही हूँ! भगवन्, यह सब क्या सम्भव है? क्या मुझ मन्दभागिनी के भी दिन फिरे हैं? मेरे लिए भी क्या सुदिन आया है?

वाल्मीकि—हाँ, सतियों की आदर्श, पातिव्रत की मूर्तिवन्त मूर्ति, यह सब सत्य है। चल मेरे संग और राम को अपने पुण्यमय दर्शन दे तथा उनके पुण्यमय दर्शन कर। स्वयं राम का रथ तेरे लिए आया है

बासन्ती—बधाई है, सखि, बधाई है, इस अभूतपूर्व दिवस, इस शुभ तिथि और इस पुण्य काल के लिए।

[तीनों का प्रस्थान। दृश्य बदलता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या में सरयू-तट पर अश्वमेध-यज्ञ-शाला

समय—तीसरा पहर

[चारों ओर चन्दन के स्तंभ हैं। बीच में यज्ञवेदी बनी हुई है और इसके चारों ओर बैठने के स्थान बने हैं। यज्ञशाला बन्दनवार, पताका आदि से सजायी गयी है। आकाश बादलों से आच्छादित है। कभी-कभी बादलों की गरज सुन पड़ती है और बिजली भी चमक जाती है। राम और लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—अभी तो कुछ विलम्ब है, लक्ष्मण ?

लक्ष्मण—कुछ विलम्ब तो अवश्य है, पर बहुत नहीं, महाराज, यज्ञ-शाला का द्वार अभी नहीं खुला है। बाहर तो अपार जन-समुदाय है। द्वार खुलते ही सब भीतर आ जावेंगे। महर्षि वाल्मीकि का रथ आते ही द्वार खुल जायगा।

राम—बारह वर्ष बीत गये, लक्ष्मण, पर यह थोड़ा-सा समय बीतना कठिन हो रहा है।

लक्ष्मण—जब किसी भी कार्य के पूर्ण होने में थोड़ा-सा समय शेष रहता है तब उसका व्यतीत होना बड़ा कठिन हो जाता है।

राम—देखो, वत्स, अन्त में वही हुआ न जो मैंने कहा था। सारे देश की प्रजा के भावों में परिवर्तन हो गया। उस समय यदि वैदेही को न त्यागा होता तो यह सम्भव नहीं था। यह लोकमत बड़ी विलक्षण वस्तु है। अभी भी मैं जानकी को ग्रहण करने के पूर्व उससे शुद्धता की परीक्षा देने के लिए कहूँगा।

लक्ष्मण—**(आश्चर्य से)** पुनः परीक्षा, महाराज ?

राम—हाँ, लक्ष्मण, जिससे यदि थोड़ा-बहुत सन्देह लोगों के हृदय में रह गया हो तो वह भी दूर हो जावे। सन्देह के अवशेष का अवशेष भी बड़ा भयंकर होता है। अग्नि-कण के सदृश अथवा मेघ के छोटे-से खण्ड के समान उसे फैलने में विलम्ब नहीं लगता। अब तो मुझे विश्वास हो गया है कि मैथिली के लिए उसके अद्भुत संयम के कारण किसी प्रकार की भी परीक्षा दे देना बाएँ हाथ का खेल है। **(पृथ्वी काँपती है। आश्चर्य से)** हैं! यह कंप कैसा! क्या भूकंप है ?

लक्ष्मण—**(कुछ रुककर, इधर-उधर देख)** हाँ, महाराज, भूकम्प-सा ही जान पड़ता है।

राम—हाँ, हाँ, **(यज्ञशाला के काँपते हुए स्तंभों को देखकर)** यह देखो न, यज्ञशाला के स्तंभ काँप रहे हैं। **(यज्ञशाला की काँपती हुई वेदी को देख कर)** यज्ञवेदी भी काँप रही है। **(बैठने के काँपते हुए स्थानों को देखकर)** आसन भी काँप रहे हैं। **(कंप एकाएक रुक जाता है।)**

लक्ष्मण—परन्तु, अब सब वस्तुएँ पुनः स्थिर हो गयीं, महाराज। भूकंप ही था, अवश्य भूकंप।

राम—और यथेष्ट रूप में हुआ, वत्स।

लक्ष्मण—हिमालय की तराई और उसके निकट के इन स्थानों में, सुना जाता है कि अनेक बार भूकंप होते हैं।

[नेपथ्य में कोलाहल होता है।]

राम—लो, यज्ञशाला का द्वार खुल गया। महर्षि वाल्मीकि आ गये होंगे, लोग भीतर आ रहे हैं।

[वसिष्ठ, भरत, शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, हनुमान, जाम-वन्त, ऋषि, राजा, राज-कर्मचारी तथा प्रजा-जनों आदि का प्रवेश। राम और लक्ष्मण सबका स्वागत करते हैं। यज्ञवेदी के दक्षिण ओर ऋषि, वाम ओर नरेश तथा सामने प्रजा बैठती है। वेदी के निकट ही राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और वसिष्ठ बैठते हैं। प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) महर्षि वाल्मीकि महारानी और राजकुमारों के संग मंडप में हैं। महर्षि ने कहा है कि जब सब लोग बैठ जायँ और महर्षि वसिष्ठ आज्ञा दें तब हमें सूचना देना, हम लोग भी आ जावेंगे।

वसिष्ठ—(चारों ओर देखकर) हाँ, सब लोग यथास्थान बैठ गये हैं। महर्षि वाल्मीकि को मैं ही चलकर लाता हूँ।

[वसिष्ठ का प्रस्थान और वाल्मीकि, सीता तथा कुश-लव के संग पुनः प्रवेश। सीता अपने वल्कल-वस्त्रों में ही अवनत मुख से आती हैं। कुश-लव ब्रह्मचारियों के वेश में हैं और रामायण गा रहे हैं। सीता का क्षीण शरीर और वेश देख राम सिर झुका लेते हैं। लक्ष्मण आदि अनेक लोगों के नेत्रों से अश्रुधारा बह चलती है।]

कुश-लव—

मंजु विलोचन मोचत बारी। बोली देख राम महतारी।
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु-ससुर-परिजनहिं पियारी।
मैं पुनि पुत्र-बधू प्रिय पाई। रूप-राशि गुण सील सुहाई।
नयन-पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेहु प्रान जानकिहिं लाई।
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिवन मूरि जिमि जुगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ।
बन हित कोल किरात किसोरी। रची विरंचि विषय सुख भोरी।
पाहन क्रमि जिमि कठिन स्वभाऊ। तिनहिं कलेस न कानन काऊ।

कै तापस तिय कानन जोगू। जिन तप हेतु तजा सब भोगू।
सिय बन बसहिं तात केहि भाँती। चित्र लिखे कपि देखि डराती।

[कुछ देर पश्चात् वाल्मीकि के संकेत से कुश-लव गान बन्द कर एक ओर बैठ जाते हैं। वाल्मीकि कहते हैं।]

वाल्मीकि—राम-राज्य के निवासियो! आप लोगों की इच्छानुसार मैं इस सती-शिरोमणि भगवती सीता देवी को पुनः आपकी राजधानी में ले आया हूँ। भारतवर्ष में ही क्या सारे संसार में आज तक किसीका ऐसा उज्ज्वल और कलंक-रहित चरित्र नहीं रहा है जैसा महारानी सीता का है। रावण के सदृश पराक्रमी राजा के यहाँ असहाय रहने पर भी इन्होंने अपने सतीत्व की रक्षा की। अपनी शुद्धता का प्रमाण देने, अग्नि में प्रवेश करने के लिए भी सहर्ष प्रस्तुत हो गयीं। इतने पर भी जब आप लोगों का विश्वास नहीं हुआ, तब पूरे एक युग तक इन्होंने वन में कठिन तप किया। ये तो आजन्म तप करतीं, परन्तु आप ही के अनुरोध से पुनः अयोध्या में आयी हैं। कहिए, आप अपने राजा को अनुमति देते हैं कि वे कृतकार्य राजा पुनः अपनी शुद्ध और अद्वितीय अर्द्धांगिनी को ग्रहण कर पूर्णांग एवं धन्य हों?

[जोर से "अवश्य ग्रहण करें", "अवश्य ग्रहण करें" शब्द होते हैं।]

वसिष्ठ—राम, वैदेही को पुनः ग्रहण कर अपना जन्म सफल करो।

राम—(**गद्गद कण्ठ से**) महर्षियो! नरेशो! और बन्धुओ! मुझे वैदेही के चरित्र पर कभी सन्देह नहीं था; सर्व-साधारण के विश्वासार्थ ही मैंने लंका में इनकी परीक्षा ली थी और यहाँ आने के पश्चात् भी प्रजा के रंजनार्थ ही मैंने इनका त्याग किया था, क्योंकि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो राजा प्रजा की इच्छानुकूल अपने कार्य नहीं करता वह

कर्तव्य-च्युत है और नरक का अधिकारी होता है। कई दिनों से आज मुझे यह देखकर असीम आनन्द हो रहा था कि देश की सारी प्रजा एक स्वर से मुझसे पुनः मैथिली के ग्रहण करने का अनुरोध कर रही है। इस अनुरोध की उत्कटता इस समय और स्पष्ट हो गयी, फिर भी यह और उत्तम होगा यदि आप सबके सम्मुख एक बार पुनः मैथिली अपनी शुद्धता का कोई न कोई प्रमाण दे देवें।

सीता––(**दृढ़ता से**) अभी भी मेरी शुद्धता के प्रमाण की आवश्यकता है, आर्यपुत्र? (**कुछ रुककर**) आह! आह! (**फिर कुछ ठहर पृथ्वी को सम्बोधितकर**) अब तो सहन नहीं होता, जननी,) **फिर कुछ रुककर आर्त स्वर में**) यदि मैंने जीवन में कभी भी मनसा, वाचा और कर्मणा किसी पर-पुरुष का चिन्तन तक न किया हो तो तू फट जा, माँ, और अब तो मुझे अपनी गोद में ही स्थान दे दे।

[जोर से भूकम्प होता है। सीता के सम्मुख पृथ्वी फटती है और सीता उसमें समा जाती हैं। पृथ्वी फिर जैसी की तैसी हो जाती है।]

राम––वैदेही, वैदेही, यह क्या! यह क्या!

उपस्थित जन-समुदाय––हैं, हैं, हैं, हैं! भूकम्प! भूकम्प!

[कोलाहल और हाहाकार होता है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान––अयोध्या का मार्ग

समय––प्रातःकाल

[वही मार्ग है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। चार पुरवासियों का प्रवेश।]

एक---राम-राज्य को अनेक वर्ष बीत गये, बन्धुओ।

दूसरा---अनेक।

पहला---परन्तु, सीता देवी के पृथ्वी-प्रवेश के पश्चात् वह उत्साह और आनन्द दृष्टिगोचर नहीं होता।

तीसरा---इसमें सन्देह नहीं; यद्यपि राम-राज्य वैसा ही सुखद है, तथापि शिथिलता और निस्तेजता-सी छायी रहती है।

चौथा---और यज्ञ में भी क्या वह आनन्द आया था जिसकी आशा थी?

पहला---सती की महिमा ही अद्भुत होती है। सीता देवी के पश्चात् वह आनंद रह ही कैसे सकता था। कभी कहने से पृथ्वी फटती हुई देखना तो दूर रहा, सुना और पढ़ा भी न था।

दूसरा---हाँ, बन्धु, अद्भुत बात हुई। किन्तु, उसके कुछ समय पूर्व भी पृथ्वी काँपी थी।

तीसरा---उसके पश्चात् तो नहीं काँपी। अरे, उनकी आज्ञा से ही पृथ्वी फटी। इसी प्रकार वे अग्नि में प्रवेश कर जीवित निकल आयी होंगी जिसपर हमें विश्वास ही नहीं होता।

चौथा---राम और सीता दोनों ही अद्भुत निकले। सूर्यवंश में ही क्या संसार में कहीं भी ऐसे नर-नारी का वर्णन नहीं सुना।

पहला---जिन्हें भगवान् का अवतार कहा जाता है, ये, वे हैं। अवध में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ने अवतार लिया है और शक्ति ने मिथिला

में लिया था। एक को हमने अपनी दुर्बुद्धि से खो दिया। उस दिन के पहले भी जब सीता देवी पृथ्वी में समायीं, सबके सन्देह थोड़े ही दूर हुए थे।

तीसरा—हाँ, हाँ, राम तो साक्षात् अन्तर्यामी हैं, सबके हृदय की बात समझते हैं; इसीलिए उन्होंने पुनः सीता देवी को शुद्धता का प्रमाण देने के लिए कहा।

चौथा—मैं तो अपने ही मन की बात कहता हूँ, मेरे हृदय तक में सन्देह बना था।

पहला—सन्देह बड़ी बुरी व्याधि है, बन्धु, सीता देवी मरकर ही इसका मूलोच्छेदन कर सकीं।

चौथा—सुना है, रघुनाथजी ने भी सारा राज्य अपने और भ्राताओं के पुत्रों में बाँट दिया है। अब वे भी वाणप्रस्थ लेने की तैयारी कर रहे हैं।

पहला—अयोध्या के अब वे दिन क़दाचित् न लौटेंगे।

तीसरा—(कुछ ठहरकर) तो फिर चलें न, रघुनाथजी के दर्शन का समय हो गया।

सब—(एक साथ) हाँ, हाँ, चलना चाहिए।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[वही दालान है जो चौथे अंक के चौथे दृश्य में थी। इतना ही अन्तर है कि दाहनी ओर एक खिड़की बना दी गयी है। राम और लक्ष्मण खड़े हुए हैं। राम दाहनी ओर की खिड़की में से बाहर की ओर देख रहे हैं। बाल श्वेत हो गये हैं और मुखों पर झुर्रियाँ दिखायी देती हैं। दोनों वृद्ध दिखते हैं।]

राम—देखते हो लक्ष्मण, कितनी भीड़ जमा है। नित्यप्रति यह भीड़ बढ़ती ही जाती है।

लक्ष्मण—कई लोगों का व्रत है, महाराज, जब तक प्रातःकाल वे आप के दर्शन नहीं कर लेते तब तक भोजन नहीं करते।

राम—हाँ, वत्स, पहले मैं झूठा था। वैदेही को अत्यधिक चाहता था, यही मेरा दोष था। इसी कारण प्रजा समझती थी कि मैंने झूठ फैलाया है कि वह अपनी शुद्धता का प्रमाण देने अग्नि में प्रवेश करने के लिए भी प्रस्तुत थीं। अब मैं परब्रह्म परमात्मा का अवतार हो गया हूँ, क्योंकि प्रजा की इच्छा के अनुसार मैंने सब कुछ किया; अपने सर्वस्व की आहुति दे दी। यह मनुष्य-हृदय ही विलक्षण वस्तु है!

लक्ष्मण—इसमें सन्देह नहीं महाराज, आप अपना सर्वस्व खोकर ही यह पद पा सके।

राम—पर, लक्ष्मण, मेरे हृदय को फिर भी सुख नहीं है; वैदेही के स्मरण की भभकती हुई अग्नि तथा जो पृथ्वी मेरे देखते-देखते उसे निगल गयी उसी पृथ्वी की जो मुझे रक्षा करनी पड़ रही है, यह मेरी कृति, सदा मेरे हृदय को जलाया करती है। अब तो राज्य भी बाँट दिया है, वत्स, अब जीवित रहने की इच्छा नहीं है; इस जन्म में मुझे सुख न मिल सकेगा।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(**अभिवादन कर**) श्रीमान्, एक मुनि आये हैं; अपने को अतिबल का दूत बतलाते हैं; महाराज से भेंट करना चाहते हैं।

राम—उन्हें आदरपूर्वक भीतर ले आओ।

[**प्रतिहारी का प्रस्थान। मुनि के संग फिर प्रवेश। मुनि को छोड़ फिर प्रस्थान। राम और लक्ष्मण मुनि को प्रणाम करते हैं और वे आशीर्वाद में केवल हाथ उठा देते हैं।**]

मुनि—राम, मुझे एकान्त में आपसे बातचीत करना है।

राम—जो आज्ञा, प्रभो।

मुनि—परन्तु, इसके पूर्व आपको एक प्रतिज्ञा करनी होगी।

राम—वह क्या, भगवन्?

मुनि—यदि उस वार्तालाप में कोई आवेगा तो उसका आपको वध करना होगा। मैं दूर, अत्यन्त दूर से आया हूँ। मेरी यह याचना, आशा है, आप अवश्य पूर्ण करेंगे; आपके वंश में किसी याचक को कभी विमुख कर नहीं लौटाया गया।

राम—परन्तु, नाथ, यह प्रतिज्ञा तो बड़ी भयानक प्रतिज्ञा है।

[**मुनि राम के कान में धीरे-धीरे कुछ कहते हैं।**]

राम—अच्छी बात है। ऐसा ही हो, देव। पधारिए भीतर। (**लक्ष्मण से**) लक्ष्मण, तुम्हीं बाहर चले जाओ, देखते रहो, मेरे कक्ष में कोई न आवे।

लक्ष्मण—जो आज्ञा।

[**राम पुनः खिड़की से बाहर की ओर देख, हाथ जोड़ प्रणाम करते हैं। फिर वे आगन्तुक मुनि के संग एक ओर तथा लक्ष्मण दूसरी ओर जाते हैं। परदा गिरता है।**]

छठवाँ दृश्य

स्थान—अयोध्या का मार्ग

समय—तीसरा पहर

[वही मार्ग है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। बादलों की गरज सुन पड़ती है और रह-रहकर बिजली चमकती है। वायु के वेग से चलने के कारण उसका शब्द भी सुनायी देता है। एक नगरवासी का एक ओर से और कई का दूसरी ओर से दौड़ते हुए प्रवेश। वायु के वेग के कारण उनके वस्त्र उड़ रहे हैं।]

पहला—कहाँ जा रहे हो, बन्धुओ, कहाँ जा रहे हो ?

कई व्यक्ति—ड्योढ़ी पर, ड्योढ़ी पर।

पहला—किस लिए ?

कई व्यक्ति—तुमने नहीं सुना, नगर में फैल रहा है कि महाराज ने लक्ष्मण को त्याग दिया और उन्होंने सरयू में जाकर योगबल से अपना शरीर........। **(गला भर जाता है।)**

दूसरा—**(रुँधे हुए कण्ठ से)** इसीका पता लगाने जा रहे हैं कि क्या यह सच है।

पहला—**(रोते हुए)** मैं वहीं से आया हूँ, सत्य है।

[उसकी बात सुन सब रो पड़ते हैं।]

एक अन्य व्यक्ति—**(रुँधे गले से)** कारण क्या हुआ ?

पहला——हम अवध के लोगों का मन्दभाग्य कारण है, और क्या?

वही पहलेवाला——फिर भी कोई कारण तो होगा। महाराज को लक्ष्मण अत्यन्त प्रिय थे, प्राणों से अधिक प्रिय थे। लक्ष्मण ने उनके लिए क्या नहीं किया? चौदह वर्ष माता और पत्नी को छोड़ वन में रहे। सदा उनकी आज्ञा का पालन किया। ऐसी-आज्ञा पालन कौन..........।

पहला——पर, इससे क्या, बन्धु, भगवान् रामचन्द्र के लिए तो सर्व-प्रथम उनका कर्तव्य है।

वही——पर, लक्ष्मण को त्याग देने का कर्तव्य कहाँ से आ पहुँचा?

पहला——(**धीरे-धीरे, रुक-रुककर कहता है**) बात यह हुई कि कोई मुनि महाराज के दर्शनार्थ आये थे। उन्होंने महाराज से प्रतिज्ञा करायी थी कि हम दोनों की बातचीत के बीच में यदि कोई आ गया तो आपको उसका वध करना होगा। महाराज प्रतिज्ञा कर और स्वयं लक्ष्मण को द्वार-पाल का काम सौंप, क्योंकि बड़े महत्त्व की बात थी, किसी मनुष्य के प्राण न चले जायँ यह विषय था, मुनि से वार्तालाप करने भीतर गये। इतने में दुर्वासा आ पहुँचे। उन्हें भी महाराज के दर्शन की इतनी शीघ्रता थी कि उन्होंने लक्ष्मण की बात तक न सुनी और कहा कि या तो तत्काल महाराज को मेरे आगमन की सूचना दो या मैं सारे वंश को शाप देता हूँ। लक्ष्मण को और कोई उपाय न देख भीतर जाना पड़ा। महाराज की प्रतिज्ञा तो महा-राज की प्रतिज्ञा ही ठहरी। वसिष्ठ बुलाये गये। उन्होंने व्यवस्था दी कि बन्धु का त्याग ही वध है, पर महाराज को छोड़ लक्ष्मण क्यों जीवित रहने लगे, फिर उन्हें तो महाराज की प्रतिज्ञा अक्षरशः सत्य करनी थी। उन्होंने सरयू पर जाकर योगबल से शरीर त्याग दिया। हाय! अयोध्या-वासियों का भाग्य फूट गया।

[वह रोने लगता है और सभी के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है।

जिस ओर से पहला व्यक्ति आया था उसी ओर से एक व्यक्ति का और दौड़ते हुए प्रवेश।]

आगन्तुक——(रुँधे गले से) अरे! अरे! और अनर्थ हुआ, और अनर्थ हुआ! उर्मिला देवी ने लक्ष्मण के संग सती होने का निश्चय किया है।

पहला——(गद्गद कण्ठ से) अब अयोध्या पूर्ण श्मशान बनकर ही रहेगी। (और अधिक रोने लगता है।)

एक अन्य व्यक्ति——(रुँधे कण्ठ से) चलो, बन्धुओ, हम सब भी श्मशान को चलें।

कुछ व्यक्ति——(एक साथ) हाँ, वहाँ तो चलना ही है।

एक व्यक्ति——(रुँधे कण्ठ से) संसार में वहीं तक का तो साथ है।

[सबका प्रस्थान। परदा उठता है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान——सरयू के तट की श्मशान-भूमि

समय——सन्ध्या

[निकट ही सरयू बह रही है। सरयू के दोनों तटों पर वृक्ष हैं। उस ओर के तट से कुछ दूर बसी हुई अयोध्या दिखायी देती है। अयोध्या के पीछे की ओर छोटी-छोटी पहाड़ियाँ दिख पड़ती हैं। आकाश बादलों से छाया हुआ है। रह-रहकर बिजली चमकती है और बीच-बीच में बादलों की गरज भी सुनायी देती है। वायु वेग से चल रही है और इसका भी शब्द हो

समय तो इस समय के कर्तव्य का पालन करो। लक्ष्मण के पुत्र यहाँ नहीं हैं, अतः शास्त्रानुसार ज्येष्ठ अथवा लघु भ्राता ही अग्नि-संस्कार कर सकता है। तुम्हें और शत्रुघ्न को ही यह अधिकार है, अतः लो इस समय का कर्तव्य पूर्ण करो।

राम--यह भी करना होगा, भगवन्, यह भी ? पर, नहीं प्रभो, नहीं, शत्रुघ्न ही यह करें। अब तो सहा नहीं जाता, नाथ, असह्य हो चुका। इस क्षीण देह और भग्न-हृदय पर यह अन्तिम चोट थी। **(दोनों हाथों से हृदय को सँभालते हुए)** हृदय में अत्यन्त पीड़ा हो रही है, देव, अत्यन्त। **(सामने देख चौंकते हुए)** ठहरिए, ठहरिए; देखिए, देखिए, वह सामने कौन है ? देखिए, प्रभो, वह सामने से कौन मुझे बुला रहा है ? आप कहते हैं न कि कर्तव्य-पालन से अनन्त सुख की प्राप्ति एक जन्म में न होकर अनेक जन्म में होती है, आप कहते हैं न कि कर्म के सुफल और कुफल के प्रभाव का हृदय पर पड़ना एक जन्म में नहीं अनेक जन्म के पश्चात् मिटता है; देखिए, देखिए, वह कहता है कि इस जन्म का मेरा कर्तव्य पूर्ण हो चुका। वह मुझे शीघ्र, शीघ्राति-शीघ्र बुला रहा है। अब मेरा भी यहाँ क्या रह गया है ? अन्तिम अवलंब लक्ष्मण भी चले गये, नाथ, मैं भी क्यों यह दुःसह दुःख सहता रहूँ ? जाता हूँ, जाता हूँ, भगवन्, पति के संग स्त्री ही सती न होगी, भ्राता का शव भी भ्राता के संग ही जलेगा।

[राम दोनों हाथों से हृदय मसोसते हुए नेत्र बन्द कर लेते हैं। उनका मृत शरीर वसिष्ठ की भुजाओं में गिर पड़ता है। हाहाकार होता है। वर्षा आरम्भ होती है और वायु का वेग बढ़ता है। एकाएक जोर से पृथ्वी काँपने लगती है।]

वसिष्ठ--हैं ! भूकंप ! भूकंप !

एक मनुष्य--हाँ, भारी, भारी भूकंप है।

[सरयू के तटों के वृक्ष ज़ोर से काँपते हैं। उस पार बसी हुई अयोध्या के गृह ज़ोर-ज़ोर से गिरते हैं। श्मशान में खड़े हुए जन-समुदाय में कोलाहल मचता है। दूर से भी कोलाहल सुन पड़ता है। अनेक व्यक्ति भागते हैं। अनेक भागते हुए व्यक्ति पृथ्वी के काँपने से गिर पड़ते हैं।]

वसिष्ठ—(राम के शव को लिये हुए ही चिल्लाकर) ठहरो, ठहरो, पहले राजा का अग्नि-संस्कार करना होगा।

एक मनुष्य—(चिल्लाकर) किसका अग्नि-संस्कार कौन करेगा! जान पड़ता है, सारे अयोध्या के निवासी राजा के संग ही स्वर्गारोहण करेंगे।

[कोलाहल बढ़ता है। पृथ्वी पर अनेक दरारें फटती हैं। उनसे पानी निकलता है। अनेक व्यक्ति उन दरारों में समाते हैं। राम का शव लिये हुए वसिष्ठ तथा भरत और शत्रुघ्न भी पृथ्वी की एक दरार में समा जाते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मण की चिता भी पृथ्वी की एक दरार में समाती है। सरयू के उस ओर अयोध्या की बस्ती के परे की पहाड़ियों से अग्नि और धूम निकलता है। भीषण कोलाहल।]

यवनिका-पतन

उत्तरार्द्ध

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—गोकुल में यमुना-तट

समय—उषःकाल

[पूर्वाकाश में प्रकाश फैल रहा है जिसकी छाया यमुना के नीर में पड़ रही है। किनारे पर सघन वृक्ष हैं। वृक्षों की एक झुरमुट में बैठ कृष्ण मुरली बजा रहे हैं। कृष्ण लगभग ग्यारह वर्ष के अत्यन्त सुन्दर बालक हैं। वर्ण साँवला है। कटि के नीचे पीत अधोवस्त्र और गले में उसी प्रकार का उत्तरीय है। लंबे केशों का सामने जूड़ा बँधा है जिस पर मोर-पंख लगा है। ललाट पर केशर का तिलक है, कानों में गुंज के मकराकृत कुण्डल, गले में गुंज के हार, भुजाओं पर उसीके केयूर और हाथों में उसीके वलय हैं। गले में पुष्पों की वैजयन्ती माला भी है। राधा का प्रवेश। राधा भी लगभग ग्यारह वर्ष की गौर वर्ण की परम सुन्दर बालिका हैं। नील रंग

की साड़ी और वक्षस्थल पर उसी रंग का वस्त्र बँधा है। गुंज के आभूषण पहिने हैं। मस्तक पर इंगुर की टिकली और पैर में महावर है। कृष्ण राधा को देख मुरली बन्द कर देते हैं।]

राधा—बजाओ, कृष्ण, बजाओ; कम से कम आज, अन्तिम बार यह वंशी-ध्वनि और सुन लूँ; फिर न जाने जीवन में कभी यह सुनने को मिलती है या नहीं। जब कोई भी नवीन बात होती है तभी यह बजती है, चाहे वह बात सुखमय हो या दुःखमय। आज जब व्रज को छोड़कर जा रहे हो तब भी भला यह क्यों न बजे ? प्राण जायँगे तो पीछे रहनेवालों के जायँगे।

कृष्ण—**(मुस्कराकर)** ओहो ! राधा, आज तो तुमने बड़ा गम्भीर भाषण दे डाला।

राधा—इससे अधिक गंभीरता का और कौन-सा अवसर होगा ? कल संध्या को जबसे यह सुना कि तुम्हें राजा कंस ने धनुष-यज्ञ के लिए बुलाया है और अक्रूर, अक्रूर क्यों क्रूर, तुम्हें लेने आया है, तबसे तुम्हारा सारा चरित्र एक-एक कर नेत्रों के सम्मुख घूम रहा है। न जाने क्यों यह भासता है कि अब फिर ये दिन न फिरेंगे। व्रज में फिर यह वंशी-ध्वनि न सुन पड़ेगी। फिर न ये दिवस आयँगे और न ये रातें, न ये उषःकाल और न ये संध्या। यह सुख सदा को चला जायगा, पर तुम्हें इससे क्या, सखे ?—तुम्हारी आनन्द की वंशी तो हर स्थान और हर काल में बजती ही रहेगी।

कृष्ण—**(मुस्कराकर)** पर, सखि, यदि मैं वंशी न भी बजा, अन्य बालकों के समान, जाते समय रोऊँ तो क्या होगा ? जाना तो होगा न ? मेरे रोने से जाना क्या रुक जायगा ? लोग कहते हैं कि मेरे पिता नन्द और यशोदा नहीं, किन्तु मथुरा के कारागृह में पड़े हुए वसुदेव और देवकी

हैं। मेरी जन्म-भूमि मथुरा है। पर, तुमने कभी मुझे उनका या मथुरा का स्मरण करते देखा ? फिर नन्द, यशोदा और व्रज छोड़ने में ही मैं क्यों दुःख करूँ ?

राधा—पर, सखे, वसुदेव और देवकी को तुमने देखा नहीं, मथुरा तुम गये नहीं, नन्द-यशोदा की गोद में खेले हो, व्रज में लाले-पाले गये हो।

कृष्ण—इससे क्या, राधा ? जिन्होंने कभी अपने माता-पिता को नहीं देखा होता, वे भी यदि सुनते हैं कि उनके माता-पिता कहीं हैं और कष्ट में हैं, तो वे माता-पिता की कल्पना और उनके कष्ट के विचार से ही रो देते हैं। जन्म-भूमि के स्मरणमात्र से उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। पर, न जाने क्यों, सखी, मुझे तो कभी रोना आता ही नहीं। जबसे मुझे सुधि है किसी वस्तु में भी मुझे इतनी आसक्ति नहीं जान पड़ती कि उसे छोड़ने में मुझे क्लेश हो।

राधा—तुम महा निर्मोही हो, महा निष्ठुर हो, कृष्ण, तुम्हारे हृदय नहीं, पत्थर है।

कृष्ण—यदि आसक्ति न रहने के कारण मनुष्य हृदयहीन कहा जा सकता है, तो तुम मुझे ऐसा कह सकती हो, पर मैं तो अपने को ऐसा नहीं मानता, राधा। क्या मैं हरेक को सुख पहुँचाने का सदा उद्योग नहीं करता ? मेरी अवस्था का कोई बालक ऐसा करता है ? परन्तु हाँ, इन सब कृत्यों के करने ही में मुझे सुख मिल जाता है; इनमें मेरी आसक्ति नहीं है; फल की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं जाती। फिर मैं देखता हूँ कि जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं, जो निसर्ग से प्रेरित जान पड़ती हैं; मनुष्य यदि चाहे तो भी उन्हें नहीं रोक सकता; कभी-कभी वह रोकने का प्रयत्न करता है और उल्टा दुःख पाता है, एवं वह कार्य भी नहीं रुकता। मेरा मथुरा-गमन भी मुझे ऐसा ही भासता है; अतः मैं उसके आड़े नहीं आना चाहता।

राधा—तुम्हारी सारी बातें कभी मेरी समझ में नहीं आतीं, पर हाँ, कुछ-कुछ समझ लेती हूँ। इतना मैं जानती हूँ कि तुम हम लोगों पर उतना प्रेम नहीं करते जितना हम तुम पर करते हैं।

कृष्ण—यह नहीं है, राधा, तुम लोग किसी पर अधिक प्रेम करती हो, किसी पर कम और किसी पर सर्वथा नहीं, वरन् किसी-किसी से शत्रुता भी रखती हो, मुझमें ऐसा नहीं है; यही अन्तर है। मैं सभी पर प्रेम करता हूँ और एकसा।

राधा—**(सिर झुका, कुछ सोच और फिर सिर उठाकर)** अब तो तुम पकड़ गये; जिन दुष्टों को तुमने मारा उनपर भी प्रेम करते थे?

कृष्ण—हाँ, उनपर भी।

राधा—**(आश्चर्य से)** जिनको मारा उनपर प्रेम! कैसी बात करते हो, कन्हैया!

कृष्ण—हाँ, राधा, उनपर भी प्रेम, उनपर भी। वे इतने दुष्ट थे कि अपनी दुष्टता के कारण स्वयं दुःख पाते थे। उनका इस जन्म में सुधार असम्भव था; अतः मैंने उनका, उनके उस शरीर से उद्धार कर दिया।

राधा—तो तुम्हारे लिए सभी एक-से हैं, क्यों? फिर न जाने हम ही लोग तुम पर क्यों प्राण दिये देते हैं।

कृष्ण—तुम्हारी इस कृति में भी हानि नहीं है, राधा, पर ऐसी परिस्थिति में बिना एक बात के तुम्हें सच्चा सुख कभी न मिलेगा।

राधा—**(उत्कंठा से)** वह क्या, सखा?

कृष्ण—तुम अपने को ही कृष्ण क्यों नहीं मान लेतीं? पहले अपने को ही कृष्ण मानने का प्रयत्न करो, फिर अपने समान ही सारे विश्व को

मानने लगो तथा भेद-भाव से रहित हो उसीकी सेवा में दत्तचित्त हो जाओ। सेवा में तो प्रयत्न की आवश्यकता ही न होगी क्योंकि भेद-भाव के नाश होते ही जब अपने और अन्य में समता का अनुभव होने लगेगा तब जिस प्रकार अपनी भलाई में दत्तचित्त रहना स्वाभाविक होता है उसी प्रकार अन्य की भलाई में भी दत्तचित्त रहना स्वभाव हो जायगा। और इसके अतिरिक्त अन्य कार्य ही अच्छा न लगेगा।

राधा—(**आश्चर्य से**) क्या कहा? राधा अपने को कृष्ण मानने लगे और फिर सारे संसार को कृष्ण! तुम क्या अपने को राधा और सारे संसार को राधा मान सकते हो?

कृष्ण—मैं तो अपने को कृष्ण और सारे संसार को कृष्ण मानता हूँ, पर हाँ, यदि मुझे अपने को राधा और सारे संसार को राधा मानने में आनन्द मिले तो मैं यह भी मान सकता हूँ। तुम कहती हो न कि तुम्हारे हृदय में मुझपर अत्यधिक अनुराग है। इसीसे मैंने कहा कि तुम अपने को और सारे विश्व को कृष्ण मान लो।

राधा—(**कुछ सोचकर**) मुझसे तो ऐसा नहीं माना जाता।

कृष्ण—जब तक नहीं माना जाता तब तक दुःख ही रहेगा।

राधा—पर, कौन-कौन ऐसा मान सकता है?

कृष्ण—बहुत कम लोग; इसीलिए संसार में अधिक दुखी दिखते हैं।

राधा—पर, मैं मानूँ कैसे, सखा? इसका भी तो उपाय बताओ; मैं कह भी दूँ कि मान लिया तो क्या होता है?

कृष्ण—हाँ, कहने से तो कुछ नहीं होता, उसका अनुभव करना चाहिए; यह अभ्यास से होगा; एक जन्म के अभ्यास से न होगा तो अनेक जन्म के अभ्यास से सही।

राधा—यह तुम्हें अनुभव होता है ?

कृष्ण—हाँ, होता है।

राधा—कबसे ?

कृष्ण—जबसे मुझे सुधि है।

राधा—मुझे भी सुधि तो बहुत शीघ्र आयी, सखे, पर ऐसा अनुभव नहीं हुआ।

कृष्ण—औरों से तुम्हें शीघ्र होगा; इसीलिए तो तुमसे प्रयत्न करने को कहता हूँ।

राधा—(**कुछ ठहरकर**) अच्छा, यह तो जाने दो, यह कहो कब आओगे ?

कृष्ण—कुछ नहीं कहा जा सकता, कदाचित् कभी न आऊँ।

राधा—(**घबराकर**) तब तुम्हारे बिना मैं प्राण कैसे रखूँगी ?

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) तुमने तो कहा न कि मैं निर्मोही हूँ, फिर क्यों ऐसे निष्ठुर पर इतना प्रेम करती हो ?

राधा—यह मेरे हाथ की बात नहीं है। मैं ही क्या, नंद बाबा और यशोदा मैया का क्या होगा ? न जाने कितने व्रजवासी तुम्हारे बिना मर जायँगे, कितनों की रो-रोकर आँखें फूट जायँगी, कितने बिलख-बिलख-कर रोगी हो जायँगे। प्यारे, तुम्हारे बिना यह व्रज-भूमि मरु-भूमि बन जायगी। तुम तो सबको सुखी करने का उद्योग करते हो, सखा ?

कृष्ण—जहाँ तक मुझसे हो सकता है, वहीं तक तो।

राधा—फिर व्रज के लिए यह यत्न न होगा ?

कृष्ण—यह कहाँ कहता हूँ। मैं तो यह कहता हूँ कि कदाचित् न लौट सका। समझ लो, वहाँ इससे भी आवश्यक और महत्त्व का कार्य सम्मुख आ गया ?

राधा—तो फिर व्रजवासी मरे ?

कृष्ण—नहीं, प्रयत्न करो कि ऐसा न हो।

राधा—और फिर भी हुआ तो ?

कृष्ण—पर, मुझे विश्वास है कि तुमने यदि प्रयत्न किया तो यह कभी नहीं होगा।

राधा—नहीं, नहीं, सखा, तुम्हें व्रज लौटना होगा।

कृष्ण—यत्न करूँगा।

राधा—**(आँसू भर कर)** ओहो ! सचमुच तुम बड़े निष्ठुर हो; बड़े निर्मोही हो। **(कुछ ठहर कर)** अच्छा, एक बार फिर मुरली तो सुना दो। फिर एक बार इस ध्वनि को सुन लूँ, सखा। इन कानों को फिर एक बार इस गूँज से भर लूँ; इस हृदय को फिर एक बार इस तान से पूर्ण कर लूँ; कदाचित् यह अन्तिम बार ही हो।

कृष्ण—यह लो, राधा, यह लो।

[कृष्ण मुरली बजाते हैं। राधा उनके कन्धे पर सिर लगाकर उनसे टिककर खड़ी होती हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—गोकुल की एक गली

समय—प्रातःकाल

[छोटे-छोटे झोपड़े दिखायी देते हैं। एक सकरी-सी गली है। दो गोपों का एक ओर से तथा दो का दूसरी ओर से प्रवेश। वे श्वेत अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये हैं। गुंज के भूषण पहिने हैं।]

एक—आज चला जायगा, व्रज का सर्वस्व-सुख चला जायगा। महर ने वृद्धावस्था में ऐसा पुत्र पाया था जैसा व्रज में कभी किसीने नहीं पाया। कृष्ण बिना नन्द बाबा और यशोदा मैया कैसे जीवित रहेंगी और कैसे जीवित रहेगा यह व्रज, भैया?

दूसरा—अरे भैया, ऐसा क्यों विचारते हो? दो ही दिनों में कृष्ण लौट आयँगे।

पहला—कौन जानता है क्या होगा? राजा कंस दुष्ट है यह तो जग-विख्यात है। पिता को कारागृह में रखा है। बहन देवकी और बहनोई वसुदेव भी बंदी हैं। सुना नहीं, कृष्ण को वसुदेव-देवकी का आठवाँ पुत्र ही माना जाता है। राजा का विश्वास है कि वसुदेव-देवकी का आठवाँ पुत्र ही उन्हें मारेगा। कृष्ण को मारने नित नये दुष्ट व्रज में भेजता था; आज कृष्ण को ही मथुरा बुलाया है। भैया, या तो वह इन्हें मार डालेगा या इन्हें भी कारागृह में रख देगा।

चौथा—क्यों? कदाचित् कंस का विश्वास ही सत्य निकले; कृष्ण यथार्थ में ही वसुदेव के पुत्र हों और ये ही कंस को मार डालें।

पहला—अरे भैया, कहाँ ग्यारह वर्ष के कृष्ण और कहाँ वह महारथी, पराक्रमी राजा।

दूसरा—यह तो न कहो, यहीं उन्होंने कितने पराक्रमी दुष्टों का संहार कर डाला? क्या पूतना स्त्री होकर भी कम पराक्रमी थी? शकट,

वत्स, बक, अघ, धेनुक, प्रलम्ब, शंखचूड़, वृषभ, केशी, व्योम आदि दुष्ट कम पराक्रमी थे? यह बालक बड़ा अद्भुत है, भैया, बड़ा विलक्षण है!

पहला—(कुछ ठहरकर सोचते हुए) यदि यह भी मान लें, तब तो यह प्रमाणित ही हो जायगा कि कृष्ण वसुदेव-देवकी के पुत्र हैं। फिर वे राजसी महलों में रहेंगे, या हमारे झोपड़ों में लौटेंगे? किसी भी अवस्था में व्रज अनाथ हो जायगा।

दूसरा—(कुछ सोचते हुए) हाँ भैया, यह तुमने ठीक कहा, यह तो सच है, तब हम क्या करें?

पहला—करने को क्या है, भैया? जिस प्रकार सर्प अपनी मणि को खोकर आजन्म रोता है वैसे ही हम भी इस निधि को खोकर जन्म भर रोएँगे।

चौथा—हाय! हाय! सब कुछ चला जायगा। सचमुच व्रज का सर्वस्व चला जायगा। कृष्ण के एक-एक चरित्र नेत्रों के सम्मुख घूम रहे हैं। इस अवस्था में भी उन्होंने हमारे कैसे-कैसे उपकार किये? पराक्रमी दुष्टों को मार हमारी रक्षा की, इतना ही नहीं, भैया, देखो, अपने प्राणों तक को तुच्छ मान काली नाग के गृह में अकेले घुस उसे व्रज से निकाल सदा के लिए यमुना-तट को भय रहित कर दिया। दावानल से बाहर निकाल हमें और हमारे गोधन को बचाया। घोर वृष्टि में गोवर्धन की कन्दराओं में लेजा हमारे प्राणों की रक्षा की। हमारी धर्मान्धता निवारण कर हमारे सच्चे धर्म गो-सेवा और गोवर्धन की ओर हमें प्रवृत्त किया। हमारी सामाजिक कुरीतियों का जब साधारण रीति से अन्त नहीं होता था, तब हमारी कुमारियों के वस्त्र तक हरण कर उन्हें ऐसा दण्ड दिया कि ये फिर कभी जल में नग्न न घुसें।

तीसरा—और आनन्द क्या हमें कम दिये? हर ऋतु में ही नये-नये प्रमोद होते थे। होली में कैसा उत्सव होता था? शरद पूर्णिमा के सुख का तो शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता; वह नृत्य और संगीत तो स्वर्गीय था, स्वर्गीय। कैसा समा बँधा था! सभी गोप जो उस रास-मण्डल में नाचे थे, कृष्णवत् दिखते थे और सभी गोपियें राधा के समान। फिर घर में अटूट गोरस रहने पर भी दूसरों के आनन्द-हेतु नित्य गोरस की चोरी होती थी और दान माँगा जाता था।

पहला—भैया, गोपराज वृषभान की इच्छा भी पूर्ण न हुई; राधा का विवाह भी वे कृष्ण से अब कदाचित् ही कर सकें।

दूसरा—बुरी बात न विचारना ही अच्छा है; यदि कृष्ण लौट आये तो फिर जैसा का तैसा सुख हो जायगा।

पहला—हाँ, यदि किसीको निराशा में भी आशा दिखे तो आशा में आनन्दित रहना बुरा नहीं है।

दूसरा—और यदि दुःख ही पाओगे तो क्या कर लोगे? राजा की आज्ञा के विरुद्ध न नन्द उन्हें व्रज में रख सकते हैं और न वृषभान ही; फिर हम लोग कौनसी वस्तु हैं।

[कई गोपियों का शीघ्रता से प्रवेश।]

पहला—अरे, कहाँ भागी जा रही हो, गोपिकाओ?

एक गोपी—कृष्ण का रथ रोकने।

दूसरा—जो काम नन्द के साहस के बाहर था, वृषभान की छाती जिसे करने न चली, हम लोग घरों में चाहे फूट-फूटकर रोते रहें, पर राजा के भय से हम जो न कर सके, वह तुम स्त्रियाँ करोगी! पगली हो पगली।

दूसरी गोपी—यदि तुम पुरुष चूड़ियाँ पहिन घर में बैठ जाओ तो क्या हम स्त्रियाँ भी घर में बैठी रहें? दोनों तो नहीं बैठ सकते।

तीसरी—अरे, राजा की इस आज्ञा के विरुद्ध तुम व्रजवासियों ने ही मिलकर यदि विप्लव किया होता तो क्या आज व्रज की यह निधि इस प्रकार लुट जाती?

चौथी—एक बार की कायरता से जन्म भर रोओगे, जन्म भर।

पाँचवीं—देश में जब पुरुष कायर हो जाते हैं तब अधिकारी किसी भी अत्याचार पर कटिबद्ध हो सकते हैं।

दूसरा—(**अन्य गोपों से**) अरे, ये गोपिकाएँ पगली हो गयी हैं, सर्वथा पगली। चलो, भैया, हम तो अपने घर ही भले।

[गोपियाँ नहीं सुनतीं और शीघ्रता से जाती हैं। गोपों का दूसरी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का मुख्य मार्ग

समय—प्रातःकाल

[एक-एक खण्ड के छोटे-छोटे गृह हैं। मार्ग साधारण रूप से चौड़ा है। कृष्ण और बलराम रथ में बैठे हुए आते हैं। रथ में चार घोड़े जुते हैं। वह छतरीदार है। उसपर चमड़ा मढ़ा है और चमड़े पर सुवर्ण और चाँदी। छतरी पर रंगीन चित्रित ध्वज है। रथ धीरे-धीरे चल रहा है। बलराम की अवस्था कृष्ण से कुछ अधिक है। स्वरूप कृष्ण से मिलता है,

पर वर्ण गौर है, वेश-भूषा कृष्ण के समान है। रथ के पीछे की ओर बड़ा भारी जन-समुदाय है।]

बलराम—(**दुःखित स्वर से**) कृष्ण, व्रजवासियों का विरह देख मेरी तो छाती फटी जाती है। नन्द बाबा और यशोदा मैया कितनी दुखी थीं। हाय ! इस व्रज की एक-एक बात आठों पहर और चौसठों घड़ी स्मरण आवेंगी।

कृष्ण—(**मुस्कराते हुए**) पर, आर्य, इससे क्या लाभ होगा ? मेरा तो मत है कि जो कुछ सामने आवे उसे करते जाइए और पीछे की बातें भूलते। बहुत करके हम दो दिनों में लौट ही आवेंगे। (**दाहनी ओर देख सारथी से**) अरे सूत, यह देखो, कुछ गोपियाँ दौड़ी हुई आ रही हैं। इनकी मुद्रा और चाल से भास होता है कि ये कदाचित् रथ रोकने का प्रयत्न करेंगी। रथ जल्दी से बढ़ा दो, नहीं तो व्यर्थ का बखेड़ा होगा।

[सारथी रथ की गति तेज करता है।]

यवनिका-पतन

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—गोकुल का यमुना-तट

समय—सन्ध्या

[डूबते हुए सूर्य की किरणों में यमुना की धारा चमक रही है। सघन वृक्ष हैं। अनेक गोपियें बैठी हुई गा रही हैं। सभी साड़ियाँ पहने और एक-एक वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। भूषण गुंज के हैं। मस्तक पर टिकली और माँग में सेंदूर तथा पैर में महावर है।]

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों, अपनो देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपति हाथ गह्यो।
सारँग प्रीति करी जु नाद सों, सन्मुख बान सह्यो॥

एक—संसार में जब प्रीति करके किसीको सुख न हुआ तब हमें कैसे होता, सखि? बारह वर्ष, पूरे बारह वर्ष वीत गये, दिन बाट देखी, रात

बाट देखी, प्रातःकाल बाट देखी, सन्ध्या बाट देखी, पर वे न आये; बारह वर्ष में भी न आये।

दूसरी—हाँ सखि, कंस मर गया, जरासिंध बारह-बारह बार हार-हार कर लौट गया, पर, उन्हें गोकुल की सुधि लेने का भी अवकाश न मिला।

तीसरी—परन्तु, हम भी तीन कोस मथुरा न जा सकीं।

चौथी—हम वहाँ जाकर क्या करतीं, सखि, और क्या करेंगी? मथुरा-निवासी कृष्ण से हमारा क्या सम्बन्ध? हमारा प्रेम तो राजसी कृष्ण से, धनी कृष्ण से, वैभव-शाली कृष्ण से, प्रासादों के निवासी कृष्ण से, रण-विजयी कृष्ण से नहीं है। हमारा मथुरा से क्या काम, सखि? हम तो मोर-मुकुट, मकराकृत-कुण्डल और गुंजमालवाले उस भोले-भाले कृष्ण को चाहती हैं, जो गोकुल की इन कुञ्ज-गलियों में घूम-घूमकर मुरली बजाता था, जो वृन्दावन की लता-कुञ्जों में भटक-भटककर गउएँ चराता था, जो गोकुल की झोपड़ियों में रहता और गोवर्द्धन की कन्दराओं में विहार करता था। हमें तो अपना निर्धन कृष्ण, गवाँर कृष्ण चाहिए, सखि। वह कृष्ण मथुरा में कहाँ?

[नेपथ्य में गड़गड़ाहट का शब्द होता है।]

एक—**(जल्दी से)** देखो, सखि, रथ का-सा शब्द हुआ। अरे, कृष्ण तो नहीं आ गये!

[कई गोपियाँ दौड़कर जाती हैं, शेष उत्सुकता से खड़ी हो उसी मार्ग की ओर देखती हैं। कुछ देर में गयी हुई गोपियाँ लौटकर आ जाती हैं।]

वापस आनेवाली में से एक—नहीं, सखि, भ्रम था; वह तो शकट था।

[सब फिर बैठ जाती हैं।]

दूसरी—अब व्रज में गोरस की चोरी नहीं होती।

तीसरी—हाँ, सखि, और न हमसे कोई दान माँग हमारी दही की मटकी फोड़ता।

चौथी—न कहीं कोई दुष्ट ही आता है।

पाँचवीं—हाँ, हाँ, शान्ति है, सखि, पूरी शान्ति।

छठवीं—पर, मृत्यु की-सी शान्ति है; जीवन की नहीं।

[नेपथ्य में वंशी-ध्वनि के सदृश शब्द होता है।]

एक—अरे, वंशी कहाँ बज रही है? देखो तो कहीं कृष्ण आकर चुपचाप छिपकर वंशी तो नहीं बजा रहे हैं?

[कुछ गोपियाँ दौड़कर इधर-उधर जाती हैं, कुछ अचम्भित-सी चारों ओर देखती हैं। गयी हुई गोपियाँ कुछ देर में लौट आती हैं।]

लौट आनेवाली में से एक—नहीं, सखि, वायु बाँस में घुस गयी थी, उससे शब्द हो रहा था।

[फिर सब बैठ जाती हैं।]

दूसरी—सखि, जिस नन्द-भवन में नित नव त्यौहार होता रहता था, वह अब श्मशान-सा हो गया है।

तीसरी—अरे, वह तो वृषभान-नन्दिनी के कारण नन्द-यशोदा और वृषभान का शरीर बचा है, नहीं तो वे कब के पार लग गये होते।

चौथी—वे तीनों ही क्या, यदि राधा की सान्त्वना न होती तो न जाने कितने गोप-गोपी क्षीण हो-होकर मर गये होते और कितने रो-रोकर अन्धे हो गये होते।

पाँचवीं—पर, उन निर्मोही, निष्ठुर कृष्ण को इन सब बातों से क्या प्रयोजन ?

छठवीं—इतने पर भी व्रजवासी उनके पीछे प्राण दिये देते हैं।

पहली—(**उठते हुए बादल को देख**) अरे, मेघ, तू तो श्याम है, उनसा ही तेरा वर्ण है, समवर्ण वालों में तो बड़ी मित्रता रहती है, यहाँ से तू मथुरा भी जाता होगा, यहाँ की स्थिति क्यों नहीं उन निर्मोही को सुनाता ।

दूसरी—(**यमुना को देख**) तुम भी तो श्याम हो, यमुने, उसी वर्ण की हो, तुम्हारे तट पर भी तो यहाँ उन निष्ठुर ने अनेक क्रीड़ाएँ की थीं, तुम्हीं यहाँ का थोड़ा वृत्तान्त उनसे कह दो; तुम तो वहाँ भी हो, सखि।

तीसरी—पर, इसे थोड़े ही उनका वियोग है ? इसके तट पर मथुरा में भी कोई न कोई क्रीड़ा नित्य होती होगी। दुखी से दुखी की ही सहानुभूति रहती है, यह तो सुखी है; यह हमारी दशा क्यों उनसे कहने लगी ?

[वायु का एक झोका आता है।]

चौथी—अरी, वायु, तू भी तो स्त्री है, स्त्री के हृदय की व्यथा स्त्री ही जानती है। तेरी तो कहीं भी रोक-टोक नहीं है, यहाँ के झोपड़ों के भीतर भी तू प्रवेश करती है और मथुरा के प्रासादों में भी जाती है; तू ही दुखी व्रज की अवस्था कृष्ण के पास ले जा।

[एक कोयल बोलती है।]

पहली—तू भी काली है, कोयल, कालों का बड़ा मधुर शब्द होता है, पर, रूप के समान हृदय भी उनका बड़ा काला रहता है। न बोल, यहाँ व्रज

में न बोल। एक ही काले के मधुर शब्दों को सुन-सुनकर व्रज की यह दशा हुई है। हम और कालों के शब्द नहीं सुनना चाहतीं। जा, वहीं मथुरा में बोल; मथुरा में, जहाँ तेरा समवर्णी रहता है।

[एक भ्रमर आकर गुनगुन करता है।]

दूसरी—यह लो, यह दूसरा काला आ पहुँचा। अरे, इन कालों का कोई भरोसा नहीं।

[सब गोपियाँ गाती हैं।]

सखीरी, स्याम सबै इक सार।
मीठे बचन सुहाये बोलत, अंतर जारनहार॥
कोकिल, भँवर, कुरंग, काग इन कपटिन की चटकार।
कमल-नयन मधुपुरी सिधारे, मिटिगो मंगलचार॥
सुनहु सखीरी, दोष न काहू, जो बिधि लिख्यो लिलार।
यह करतूति इन्हैं की नाईं, पूरब बिबिध बिचार॥

[गान पूर्ण होते-होते उनके अश्रुधारा बह निकलती है।]

एक गोपी—कहाँ तक रोयें, सखी, कहाँ तक रोयें।

दूसरी—अरे, पानी तो वर्षा-ऋतु में ही बरसता है, पर ये नैन तो—

[फिर सब गाती हैं।]

सब—सखी, इन नैनन तें घन हारे।
बिनही ऋतु बरसत निसि-बासर,
सदा मिलत दोउ तारे॥
एक—नेह न नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहें, तऊ न प्यास बुझाय॥

दूसरी—लाल तिहारे बिरह की, अगिनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीर हू, मिटै न झर हू झार॥

सब—ऊरध साँस समोर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे।
दिसन सदन करि बसे बचन खग दुख पावस के मारे॥
सखी इन०।

[राधा का प्रवेश। राधा की अवस्था अब लगभग तेईस वर्ष की है। इस अवस्था में भी यौवन के सौन्दर्य के स्थान पर क्षीणता ही दिख रही है। मुख पर शोक विराजमान है। राधा को देख गोपियाँ गान बन्द कर खड़ी हो जाती हैं।]

एक—आओ, दुखी व्रज की प्राणाधार राधा, आओ।

दूसरी—पधारो, आतप व्रज की शान्ति, पधारो।

तीसरी—स्वागत, इस मरु-भूमि की नीर, स्वागत।

चौथी—शुभागमन, इस अँधेरी रात्रि की चन्द्रकला, शुभागमन।

पाँचवीं—विराजो, इस करुण-सिन्धु की नौका, विराजो।

राधा—सखियो, तुम फिर रुदन कर रही हो, क्यों? आह! कहाँ तक रोओगी, कहाँ तक रोओगी? बारह वर्ष रोते-रोते बीत गये, तुम्हें कहाँ तक समझाऊँ, सखियो, कहाँ तक समझाऊँ? मैं भी बहुत रो चुकी हूँ। दिन और रात रोयी, उषा और सन्ध्या रोयी, ग्रीष्म और वर्षा रोयी, शरद और हेमन्त रोयी, शिशिर और वसन्त रोयी, पर उससे क्षणिक शान्ति मिलने, दग्ध हृदय के वाष्प के नीर-रूप से नेत्रों द्वारा कुछ समय के लिए बह जाने के अतिरिक्त स्थायी शान्ति नहीं मिली। सहेलियो, कृष्ण ने मुझसे अपने को ही कृष्ण मानने के लिए कहा था, और कहा था, इसके उपरान्त मैं सबको ही कृष्ण-रूप में देख उनकी सेवा में दत्तचित हो जाऊँ,

पर, बारह वर्ष तक प्रयत्न करने पर भी मैं इसमें सफल न हो सकी। आज अपनी और तुम्हारी शान्ति के लिए एक नया उपाय सोचकर आयी हूँ। देखो, आज से मैं अपना रूप कृष्ण-सा बनाने का विचार कर रही हूँ। आज से गोप और गोपिकाओं के संग मैं नित्य कृष्ण की-सी लीलाएँ करूँगी। देखें, सखि, इससे हम सबों को कैसी शान्ति मिलती है? अच्छा, तुम मुझे कृष्ण मान लो और हम उनकी एक लीला आरम्भ करते हैं। हम लोगों ने उनकी समस्त लीलाओं पर पद्य रचना कर ही ली है, हम उनकी लीला पद्य में ही करेंगी। इस समय यदि इससे कुछ सन्तोष हुआ तो फिर मैं तत्काल कृष्ण का-सा रूप बना लूँगी। समझ लो, मैं कृष्ण हूँ और तुमसे गोरस का दान माँगती हूँ। अच्छा मैं गाती हूँ, तुम भी आरम्भ करना।

बहुत सी गोपियाँ—अच्छी बात है।

राधा—बहुत दिना तुम बच गयीं, हो, दान हमारौ मारि।
आजु लैंहुगो आपनौं, दिन दिन कौ दान सँभारि।
नागरि, दान दै।

एक गोपी—या मारग हम नित गयीं, हो, कबहुँ सुन्यौं नहिं कान।
आजु नयी यह होति है, लाला, माँगत गोरस दान।
मौंहन, जान दै।

राधा—तुम नवीन अति नागरी हो, नूतन भूषन अंग।
नयौ दान हम माँगहीं, प्यारी, नयौ बन्यौ यह रंग।
नागरि, दान दै।

[गोपियों के निकट बढ़ती हैं।]

दूसरी गोपी—चंचल नैन निहारिए, हो, अति चंचल मृदु बैन।
कर नहिं चंचल कीजिए, प्यारे, तजि अंचल चंचल नैन।
मौंहन, जान दै।

राधा—उर आनँद अति ही बढ़्यो, हो, सुफल भये दोउ नैन।
ललित बचन समुझति भई, प्यारी, नेति नेति ए बैन।
नागरि, दान दै।

[और निकट बढ़ती है।]

तीसरी गोपी—नैकि दूरि ठाढ़े रहौ, हो, तनक रहौ सकुचाइ।
कहा कियौ मनभाँवते, मेरे अंचल पीक लगाइ।
मौंहन, जान दै।

राधा—कहा भयौ अंचल लगी हो, पीक हमारी जाइ।
याके बदलै ग्वालिनी, मेरे नैनन पीक लगाइ।
नागरि, दान दै।

चौथी गोपी—(भौंहें चढ़ाकर)
सूधे बचनन माँगिए, हो, लालन, गोरस दान।
भौंहन भेद जनाइकैं, लाला, कहत आन की आन।
मौंहन, जान दै।

राधा—(मुस्कराकर)
जैसी हम कछु कहति हैं, हो, ऐसी तुम कहि लेउ।
मन मानैं सो कीजिए, पै दान हमारो देउ।
नागरि, दान दै।

पाँचवीं गोपी—(सिर हिलाते हुए)
गोरे श्रीनँदराइजू, हो, गोरी जसुमति माइ।
तुम याही तैं साँवरे, लाला, ऐसे लच्छिन पाइ।
मौंहन, जान दै।

राधा—(हाथ ऊपर उठाकर)

मन मेरो तारन बसै, हो, औ अंजन की रेख।
चोखी प्रीति निबाहिए, प्यारो, जासौं साँवल भेख।
नागरि, दान दै।

छठवीं गोपी—(मुँह बिचकाकर)

ठाले-ठूले फिरत हौ, हो, और कछू नहिं काम।
घाट-बाट रोकत फिरौ, तुम आन न मानत स्याम।
मौंहन, जान दै।

राधा—(एक लकड़ी उठाकर लकड़ी से पृथ्वी ठोंकते हुए)

यहाँ हमारौ राज है, हो, ब्रज-मंडल सब ठौर।
तुमहिं हमारी कुमुदिनो, हम कमल-बदन के भौंर।
नागरि, दान दै।

[लकड़ी उठाकर मार्ग रोककर खड़ी होती हैं।]

सातवीं गोपी—(गिड़गिड़ाकर)

काल बहुरि हम आइ हैं, हो, नव गोरस ले ग्वारि।
नीकी भाँति चुकाइ हैं, मेरे जीवन-प्रान-अधारि।
मौंहन, जान दै।

राधा—सुनि गोपी, नवनागरी, हो, हम न करैं बिसवास।
कर कौ अमृत छाँड़िके, को करै काल की आस।
नागरि, दान दै।

[सब गोपी भाग जाती हैं, एक रहती है।]

रही हुई गोपी---सँग की सखीं सब फिर गईं, हो, सुनि हैं कीरति माय।
प्रीति हिये में राखिए, प्यारे, प्रगट किये रस जाय।
मोहन, जान दै।

[यह गोपी भी लौटती हुई भागती है। राधा पीछे-पीछे जाने लगती हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान---मथुरा में कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय---सन्ध्या

[दालान के पीछे की ओर रँगी हुई भित्ति है। दोनों ओर दो स्तंभ हैं जिनके नीचे कुंभी और ऊपर भरणी है। कृष्ण और बलराम का प्रवेश। कृष्ण की अवस्था लगभग अट्ठाइस वर्ष की और बलराम की उनसे कुछ अधिक है। वेश राजसी हैं। कृष्ण के पीत रेशमी अधोवस्त्र और बलराम के नील रेशमी अधोवस्त्र और उसी रंग के उत्तरीय हैं। रत्नजटित कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये हैं। सिर पर किरीट है। लम्बे केश हैं, पर मूँछे-दाढ़ी नहीं हैं। कृष्ण का स्वरूप ठीक राम के सदृश जान पड़ता है।]

कृष्ण---कंस और उसके साथी दुष्टों के निधन से भी शूरसेन देश में शान्ति न हो सकी। सत्रह वर्ष हो चुके पर प्रति वर्ष जरासिन्ध का आक्रमण होता है। शरद ऋतु आयी कि मगध की सेना पहुँची। तात, मेरे प्रति उसका यह व्यक्तिगत द्वेष है।

बलराम—स्वाभाविक ही है, कृष्ण, तुमने उसके जामात्र कंस को मारा है।

कृष्ण—परन्तु, आर्य, मैं तो सिंहासन पर भी नहीं बैठा, महाराज उग्रसेन राज्य के अधिकारी थे और वे ही सिंहासनासीन हैं।

बलराम—इससे क्या? मथुरेश तो तुम ही कहलाते हो। सब जानते हैं कि यथार्थ में अधिकार तुम्हारे हाथ में है।

कृष्ण—इसका कोई न कोई उपाय सोचना होगा। प्रति वर्ष उसे हराकर देख लिया, पर वह फिर भी चढ़ आता है।

बलराम—मेरा तो स्पष्ट मत है कि मगध पर चढ़ाई कर उस देश को ही जीत लेना चाहिए।

कृष्ण—नहीं, नहीं, तात, यह कभी नहीं हो सकता। आपने इतने बार मुझसे यही कहा और मैंने आपसे निवेदन भी किया कि दूसरे के देश पर जीत के लिए आक्रमण करना नीचता है।

बलराम—फिर प्रति वर्ष की इस मार-काट को बन्द करने का और क्या उपाय है?

कृष्ण—कोई न कोई अन्य उपाय निकालना होगा।

[उद्धव का प्रवेश। उद्धव गौर वर्ण के सुन्दर युवक हैं। अवस्था कृष्ण से कुछ कम दिखती है, वेश-भूषा कृष्ण के सदृश है।]

कृष्ण—**(उद्धव को देखकर)** अच्छा, तुम आ गये, उद्धव, तुम्हें इसलिए बुलाया है कि तुम कुछ दिनों के लिए व्रज जाओ। मैंने इतने दिनों तक, कम से कम एक बार, वहाँ जाने का विचार किया, पर सत्रह वर्ष हो चुके, यहाँ के राजनैतिक पचड़ों के कारण निकलना ही नहीं होता। नंद

बाबा, यशोदा मैया, वृषभान नृप, राधा तथा सब गोप-गोपी मेरे वियोग से दुखी होंगे। उन्हें सान्त्वना देना और शीघ्र लौट आना।

बलराम—हाँ, हाँ, बन्धु, अवश्य हो आओ।

उद्धव—बहुत अच्छा, मुझसे जहाँ तक होगा, जितना होगा, सान्त्वना देऊँगा, पर यथार्थ में तो उन्हें आप दोनों के वहाँ जाने से ही सान्त्वना मिलेगी। यदि वे पूछें कि आप वहाँ कब आयँगे तो मैं क्या कहूँ ?

कृष्ण—यहाँ का सारा वृत्तान्त कह देना। कहना कि मेरी उत्कट इच्छा है कि वहाँ अवश्य आऊँ, पर यहाँ से हट सकूँ तब तो। **(बलराम से)** अच्छा चलिए, आर्य, अभी तो सभा है, वहाँ आज बहुत से आवश्यक कार्य हैं।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का यमुना-तट

समय—रात्रि

[चाँदनी छिटकी हुई है जिसमें यमुना का जल चमक रहा है। राधा अपना स्वरूप कृष्ण के सदृश बनाये हुए हैं। अनेक गोप और गोपिकाएँ हैं। राधा वंशी बजा रही हैं। गोप-गोपी गाते हुए रास कर रहे हैं।]

नाचति वृषभानु-कुँवरि, हंस-सुता पुलिन मध्य,
हंस-हंसिनी मयूर मंडली बनो।

रूप-धार नंदलाल, मिलवत झप ताल चाल,
गुंजत मधुमत्त मधुप, कामिनी-अनी ॥
पदक लाल कंठ-माल, तरणि तिलक झलक भाल,
श्रवनि फूल बर दुकूल, नासिका मनी।
नील कंचुकी सुदेस, चंपकली ललित केस,
मुकुलित मणि बनज-दाम कटि सुकाछिनी ॥
मर्कत मणि बलय-राव, मुखरित नूपुर-सुभाव,
जावक जुत चरननि नख-चंद्रिका घनी।
मंद हास, भ्रुव-बिलास, रास-लास सुख-निबास,
अलग लाग लेति निपुन, राधिका गुनी ॥

[एक गोप के संग उद्धव का प्रवेश। उद्धव को देख नाच-गाना बंद हो जाता है।]

आगन्तुक गोप—(राधिका की ओर संकेतकर, उद्धव से) यही हमारे व्रज के दुखी जीवन की अवलंब राधा हैं। अब हमारे कृष्ण और राधा दोनों ये ही हैं।

[उद्धव राधा को दंडवत् प्रणाम करते हैं। राधा उन्हें उठाकर कहती हैं।]

राधा—हैं! हैं! महाराज, आप क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हैं, मुझ आभीर बाला को इस प्रकार प्रणाम कैसे करते हैं! देव, प्रणाम तो मुझे आपको करना चाहिए।

उद्धव—आपको ऐसा प्रणाम मुझे ही क्या स्वयं कृष्ण को भी करना चाहिए, देवि। इस व्रज में आये मुझे अब यथेष्ट समय हो गया है। क्या

नंद बाबा, क्या यशोदा मैया और क्या अन्य व्रजवासियों से मैंने आपके जिन चरित्रों को सुना है, उनके कारण मैं मुक्तकंठ से कह सकता हूँ कि आप इस पृथ्वी पर अद्वितीय हैं। भगवती, यदि आप व्रज में न होतीं तो यह व्रज कृष्ण के शोक-समुद्र में डूब गया होता, कृष्ण की विरह-वृष्टि ने इस व्रज को बहा दिया होता। क्या वृद्ध, क्या युवक, क्या बालक, क्या नर, क्या नारी, सभी को तो आपसे सान्त्वना मिली है, देवि, सभी को। आपको एक दंडवत प्रणाम, राधे। अरे, एक क्या अनेक भी यथेष्ट नहीं हैं।

राधा—कृष्ण-सखा, मैं आपके आगमन का वृत्त सुन चुकी थी, पर मेरा साहस आपसे मिलने का नहीं होता था। आपको देख सत्रह वर्ष पूर्व का मेरा घाव, जो गत पाँच वर्ष पूर्व तक दिन और रात बहा करता था, कहीं पुनः हरा न हो उठे, इसीका मुझे भय था। मेरी आप क्या प्रशंसा करते हैं, उद्धव ? मैं पढ़ी नहीं, लिखी नहीं, ज्ञान नहीं जानती, व्रत नहीं जानती, योग नहीं जानती, कोई साधना नहीं जानती। मेरे पास तो एक वस्तु है—केवल एक कृष्ण-बंधु, और वह है प्रेम, कृष्ण-प्रेम। उन्हींका एकादश वर्ष का मनोहर स्वरूप, मेरे हृदय में, विराजित है। उन्हींका मैं ध्यान करती हूँ और उन्हीं के नाम का जप। बारह वर्ष तक उनके लिए रोती रही, ऐसा रोयी, हरि-सखा, जैसा संसार में कदाचित् कोई न रोया होगा। जब उससे सान्त्वना न मिली, तब गत पाँच वर्ष से उन्हीं के नाना चरित्र करती हुई इस व्रज-मण्डल में घूमती रहती हूँ। इससे कुछ शान्ति मिली है। अभी भी रोती हूँ, पर उस रुदन और इस रुदन में अन्तर है। वह दुःख का रुदन था, यह प्रेम का रुदन है। उन्हींके कथनानुसार सर्वत्र उन्हें देखने का उद्योग करती हूँ और उन्हींकी बतायी हुई सबकी सेवा मेरा धर्म, वही मेरा कर्तव्य है। मैं भोली-भाली, सीधी-साधी, आभीर-बाला और कुछ नहीं जानती—और कुछ नहीं। आज पूर्णिमा थी, अतः कृष्ण ने जैसा रास किया था, वैसा करने का हम लोग प्रयत्न कर रही थीं।

उद्धव—तो मैं उसके दर्शन से क्यों वंचित रखा गया हूँ, देवि ? क्या मेरे सामने वह रास नहीं हो सकता ?

राधा—क्यों नहीं हो सकता, अवश्य हो सकता है। हमारे पास, हमारे प्राणवल्लभ कृष्ण के प्रेम में कोई लोक-लज्जा नहीं है, उद्धव। हमारा-उनका शुद्ध, नितान्त शुद्ध प्रेम था; बालकों का प्रेम और हो ही कैसा सकता है ? **(गोप-गोपिकाओं से)** नृत्य-संगीत आरंभ करो, मथुरा-पुरी से आये हुए हरि-सखा हम ग्रामीण आभीरों का नृत्य-गान देखना चाहते हैं।

[पुनः नृत्य-गान प्रारंभ होता है।]

चलहु राधिके सुजान, तेरे हित गुन-निधान,
रास रच्यो कुँवर कान्ह, तट कलिंद-नंदिनी।
नर्तत जुबती समूह, रास-रंग अति कुतूह,
बाजत मुरली रसाल, अति अनंदिनी॥
बंसीबट निकट जहाँ, परम रमन रेत तहाँ,
सरस सुखद बहत मलय वायु मंदिनी।
जाती ईषद् बिकास, कानन अतिसय सुबास,
राकानिसि सरद मास, बिमल चंदिनी॥
ब्रजबासी प्रभु निहारि, लोचन भरि घोष नारि,
नख-सिख-सौंदर्य सीम, दुख-निकंदिनी।
बिलसौ भुज ग्रीव मेलि, भामिनि सुख-सिंधु झेलि,
गोबर्द्धन-धरन-केलि, त्रिजग-बंदिनी॥

उद्धव—**(नृत्य-गान पूर्ण होने पर)** अद्भुत है यह नृत्य और अद्वितीय

है यह गान। कृष्ण के प्रति आपका विलक्षण प्रेम है। धन्य हैं आप और धन्य हैं वे कृष्ण; उपासक और औपास्य दोनों ही धन्य हैं।

राधा—क्यों उद्धव, कभी कृष्ण भी इस व्रज और यहाँ के निवासियों का स्मरण करते हैं?

उद्धव—उनके मन में क्या है, यह कहना तो...........।

राधा—**(जल्दी से)** ठहरिए, ठहरिए, उद्धव, मैं अपने व्रत से पुनः भ्रष्ट हो रही हूँ। इसीलिए आपसे मैं मिलती नहीं थी, मुझे भय लगता था कि आपसे मिलकर कहीं सत्रह वर्ष का पुराना मेरा घाव फिर न हरा हो जाय। मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं है कि वे व्रज को स्मरण करते हैं या नहीं, उन्हें व्रजवासियों की स्मृति आती है या नहीं, मेरा प्रेम उनके प्रेम को परिवर्तन में नहीं चाहता, मुझे उनको प्रेम करने में सुख मिलता है, इसीलिए मैं उनसे प्रेम करती हूँ, इस आशा पर नहीं कि वे भी मुझसे प्रेम करें। क्षमा कीजिए, हरि-सखा, मैं अब यहाँ नहीं ठहरूँगी; मुझे बड़ा भय लग रहा है कि कहीं मेरा घाव फिर से सर्वथा ही हरा न हो जाय। हाय! सत्रह वर्ष के पश्चात् भी यह दशा! यह घाव अभी भी पूरा नहीं भरा, पूरा नहीं भरा!

[राधा का शीघ्रता से प्रस्थान। उद्धव आश्चर्य से देखते हैं। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—मथुरा-पुरी का एक मार्ग

समय—संध्या

[अनेक खण्डों के भवन हैं। चौड़ा मार्ग है। चार पुरवासियों का प्रवेश। सब अधोवस्त्र और उत्तरीय एवं सुवर्ण के कुंडल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये हैं।]

पहला—लो, बन्धु, इस वर्ष दो आक्रमण होंगे; जरासिंध का तो हर वर्ष होता ही था, इस बार कालयवन का भी होगा।

दूसरा—यह तो कंस के अत्याचार से भी भयानक आपत्ति है; अठारह वर्ष से नित्य की यह मार-काट असह्य है, बन्धु!

तीसरा—कितने जन और कितने धन का संहार हो चुका!

चौथा—कृष्ण और जरासिंध की व्यक्तिगत शत्रुता के कारण प्रजा यह क्लेश पा रही है।

पहला—जरासिंध ने ही कालयवन को भड़काया है।

दूसरा—मगध पर आक्रमण कर हम उसके राज्य को ले लें सो भी नहीं हो सकता।

तीसरा—कैसे हो? वह कृष्ण के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

दूसरा—अरे, वही हो जाता तो अब तक वह कब का नष्ट हो चुका होता। सत्रह बार हमने उसे हराया तो क्या आक्रमण कर हम मगध न जीत लेते?

चौथा—पर, करोगे क्या? उग्रसेन तो नाममात्र के राजा हैं; सारी सत्ता यथार्थ में कृष्ण के हाथ में है।

पहला—सचमुच बड़ी भयानक परिस्थिति है। अच्छा, चलो तो और

थोड़ा पता लगावें कि कब तक आक्रमण होता है।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[वही दालान है जो दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में थी। विचार-मग्न कृष्ण खड़े हैं। उद्धव का प्रवेश।]

कृष्ण—**(उद्धव के आगमन की आहट सुन उन्हें देखकर)** अच्छा, तुम व्रज से लौट आये?

उद्धव—हाँ, अभी-अभी, आ रहा हूँ, यदुनाथ, वहाँ की दशा तो बड़ी अद्‌भुत और करुण.......।

कृष्ण—**(बात काटकर)** चाहे वहाँ की दशा अद्‌भुत हो या करुण, इस समय वहाँ की दशा सुनने का समय नहीं है। तुमने सुना नहीं कि इस बार शूरसेन देश पर दो आक्रमण हो रहे हैं—जरासिंध और कालयवन का।

उद्धव—अभी-अभी सुना है।

कृष्ण—फिर क्या करना होगा?

उद्धव—लड़ना होगा और क्या करना होगा, यदुनाथ।

कृष्ण—**(दृढ़ता-भरे स्वर में)** नहीं, लड़ना नहीं होगा।

उद्धव—(**आश्चर्य से**) तब क्या करना होगा ?

कृष्ण—देखो, उद्धव, इस युद्ध का इस प्रकार कभी अन्त न होगा। यह अट्ठारहवीं बार आक्रमण हुआ है। प्रजा इन नित्य के आक्रमणों से तलमला उठी है। अपार धन और जन का संहार हो चुका है। मैंने कई बार तुमसे कहा ही है कि शूरसेन देश पर जरासिंध के आक्रमणों का कारण मेरी व्यक्तिगत शत्रुता है और कुछ नहीं। उग्रसेन उसके समधी हैं; उनसे उसकी कोई शत्रुता नहीं। एक व्यक्ति के कारण नित्य की यह मार-काट होना अनर्थ है। सत्रहवीं बार के युद्ध में उसके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक मार डाले गये तो वह अट्ठारहवीं बार कालयवन को सहायक बनाकर ले आया।

उद्धव—तो मगध पर आक्रमण कीजिए।

कृष्ण—वह तो और भी बुरा है।

उद्धव—तब फिर क्या कीजिएगा ?

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) मैंने इसका उपाय सोच लिया है।

उद्धव—क्या ?

कृष्ण—मैं युद्ध नहीं करूँगा, भागूँगा।

उद्धव—(**आश्चर्य से, चौंककर**) आप हँसी तो नहीं कर रहे हैं !

कृष्ण—नहीं, मैं नितान्त गंभीर होकर कह रहा हूँ।

उद्धव—आप युद्ध छोड़कर भागेंगे, इसका क्या अर्थ ?

कृष्ण—युद्ध छोड़कर भागने का अर्थ युद्ध छोड़कर भागना ही हो

सकता है; कोष में एक-एक शब्द का अर्थ देखने से भी इस वाक्य का और कोई अर्थ न निकलेगा।

उद्धव—पर, यदुनाथ, आप युद्ध से भागेंगे कैसे?

कृष्ण—दोनों पैरों से, यदि सिर के बल भागा जा सकता हो तो वह और भी अच्छा है। (**हँस देते हैं।**)

उद्धव—यदुनाथ, यह हँसी की बात नहीं है; यह बात सुनकर मेरी तो साँस घुट रही है और आपको इसमें भी हँसी सूझती है।

कृष्ण—मैं हँसी नहीं कर रहा हूँ, उद्धव।

उद्धव—(**खीझकर**) पर, युद्ध में भागना अधर्म है, यदुनाथ।

कृष्ण—क्योंकि अब तक लोग उसे अधर्म कहते हैं।

उद्धव—हाँ, किन्तु........।

कृष्ण—(**बात काटकर**) किन्तु-परन्तु कुछ नहीं, प्रचलित बातों के विरुद्ध अच्छी बात भी करना लोगों को अधर्म दिखता है। देखो, उद्धव, धर्म का काम लोक-रक्षा है। यदि जरासिंध देश जीतने के लिए युद्ध करने आता होता तो देश की रक्षा करने के निमित्त युद्ध करना अनिवार्य था। इसी प्रकार यदि किसी सद्सिद्धान्त की रक्षा के लिए युद्ध आवश्यक होता तो भी युद्ध करना ही पड़ता, क्योंकि स्थायी रूप से लोक-रक्षा सद्सिद्धान्तों की रक्षा से ही हो सकती है; परन्तु जरासिंध केवल मेरे व्यक्तिगत द्वेष के कारण बार-बार आक्रमण करता है। कालयवन को भी वही उकसाकर लाया है। जब तक वह मुझे एक बार नीचा न दिखा लेगा, तब तक यह रक्तपात बन्द न होगा। यदि एक मेरे नीचा देख लेने से इतने जन और धन की रक्षा होती है, तो मेरा नीचा देखना ही धर्म है; अतः इस समय युद्ध

करना धर्म नहीं, पर, देश के जन तथा धन की रक्षा के निमित्त युद्ध से भागना ही धर्म है।

उद्धव—परन्तु, यदुनाथ, इससे लोग आपको कायर कहेंगे।

कृष्ण—(मुस्कराकर) मुझे लोगों के कल्याण की चिन्ता है या इसकी कि मुझे वे क्या कहेंगे? मैं युद्ध में से भागूँगा, अवश्य भागूँगा। युद्ध-क्षेत्र पर जाकर जरासिंध और कालयवन दोनों के सामने से, दोनों की सेनाओं के बीच में से, भागूँगा, जिससे उन्हें विश्वास हो जाय कि मैं ही भागा हूँ, कोई दूसरा नहीं। फिर मैं निःशस्त्र होकर भागूँगा तथा इतने वेग से भागूँगा कि कोई मुझे पकड़ भी न सकेगा। मैंने द्वारका नामक एक द्वीप का पता लगाया है, वहाँ जाकर बसूँगा। शूरसेन देश की रक्षा का, इस रक्तपात और मार-काट के निवारण का, अपार जन और धन के बचाने का और कोई उपाय नहीं है।

[कृष्ण का हँसते हुए प्रस्थान। उद्धव कुछ सोचते-सोचते नीचा मस्तक किये पीछे-पीछे जाते हैं। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—शूरसेन देश की सीमा पर रणक्षेत्र

समय—प्रातःकाल

[दूर-दूर तक मैदान दिखायी देता है। एक ओर यादव-सेना और दूसरी ओर आधे भाग में एक प्रकार के वस्त्र पहने और आधे भाग में दूसरे प्रकार के वस्त्र पहने दो सेनाएँ खड़ी हैं। इन दोनों सेनाओं के सेना-

पतियों की वस्त्र-भूषा सैनिकों से भिन्न प्रकार की है, जिससे वे सेनापति मालूम होते हैं। सैनिकों के कवच और शस्त्र सूर्य की दीप्ति से देदीप्यमान हैं। युद्ध आरम्भ होने के शंख बजते ही हैं। निःशस्त्र कृष्ण का प्रवेश।]

एक सेनापति—(**निःशस्त्र कृष्ण को देख आश्चर्य से दूसरे सेनापति से**) कालयवन महाराज, यही तो कृष्ण है, यही ?

दूसरा सेनापति—पर, मगधराज, युद्ध के समय यह कैसा वेश है ? आप भूल कर रहे होंगे। कृष्ण इस प्रकार युद्ध में आयेगा ?

पहला—नहीं, नहीं, मैंने एक बार नहीं सत्रह बार इसे देखा है; भूल कदापि नहीं हो सकती।

दूसरा—तब यह हमारी शरण आया है।

पहला—यही समझना चाहिए, और क्या।

[कृष्ण उनके सम्मुख से भागते हैं।]

पहला—(**अत्यंत आश्चर्य से**) अरे, यह तो भाग रहा है, भाग रहा है !

दूसरा—कहाँ भाग कर जायगा, मैं अभी पीछा करता हूँ। (**पीछे दौड़ता है।**)

यवनिका-पतन

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—द्वारका-पुरी में कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[दालान वैसी ही है जैसी मथुरा के प्रासाद की थी, पर, रंग भिन्न है। कृष्ण और उद्धव टहल-टहलकर बातें कर रहे हैं।]

कृष्ण—देखो, उद्धव, वही हुआ न, जो मैंने सोचा था। आज पूरे दो वर्ष हो चुके, शूरसेन देश पर मगध का कोई आक्रमण नहीं हुआ। काल-यवन का मुचकुंद ने संहार भी कर दिया, यह अनायास ही हो गया। अधर्मियों का क्षय कभी-कभी इस प्रकार अनायास ही हो जाता है।

उद्धव—हाँ, यदुनाथ, यही हुआ।

कृष्ण—मेरे अकेले की अकीर्ति से देश का कल्याण हो गया; उस अपार जन और धन का संहार बचा।

उद्धव—पर, अब तो कोई अकीर्ति भी नहीं रही, द्वारकेश। सभी

यह कहते हैं कि आपने देश-हित की प्रेरणा से ही ऐसा किया।

कृष्ण—यह प्रायः होता है; किस उद्देश से किसने कौनसा काम किया, कभी-कभी चाहे यह प्रकट न हो, पर अधिकतर अन्त में स्पष्ट हो ही जाता है। पर, कोई कुछ कहे भी तो इसकी मुझे क्या चिन्ता है? मेरी अन्तरात्मा को यह नहीं कहना चाहिए कि मैंने कोई बुरा काम किया। **(कुछ ठहरकर)** उद्धव, मेरी तो यह इच्छा भी न थी कि मेरे अकेले के कारण इतना जन-समुदाय देश को छोड़कर इस द्वीप को बसने को आवे, पर लोग मानते ही नहीं।

उद्धव—ऊपर से बुरी दिखनेवाली, रण छोड़कर भागने की उस कृति से शूरसेन देश में जो शांति हो गयी उससे प्रजा की आप पर इतनी श्रद्धा बढ़ी है कि शूरसेन देश में उसे रोकना ही असम्भव हो गया है, यदुनाथ।

कृष्ण—संतोष का विषय इतना ही है कि यहाँ भी प्रजा को कोई कष्ट नहीं हो रहा है, सब सुविधा से बसते जा रहे हैं। ज्ञात होता है, कुछ ही समय में यह देश भी धन-धान्य पूर्ण हो जायगा।

उद्धव—और आपके यहाँ आने पर भी शूरसेन देश की राज्य-व्यवस्था नहीं बिगड़ी। मुझे तो केवल व्रजवासियों की चिन्ता रहती है।

कृष्ण—चिन्ता-सोच तो किसी बात के लिए भी निरर्थक है, पर हाँ, व्रज जाने की अभी भी मेरी इच्छा है; समय ही नहीं मिलता, करूँ क्या? और फिर जब मथुरा से तीन कोस की यात्रा का समय न मिला, तब अब तो बहुत दूर की बात हो गयी; यहाँ तो और अधिक कार्य हैं। फिर भी जाने का प्रयत्न करूँगा। **(कुछ ठहरकर)** व्रज छोड़े लगभग बीस वर्ष होते हैं, क्यों उद्धव?

उद्धव—हाँ, यदुनाथ, बीस वर्ष। (**कुछ ठहरकर**) एक बात मुझे बहुत काल से आपको कहने की इच्छा है, कहूँ क्या ?

कृष्ण—तुम्हें मैं अपना मित्र समझता हूँ, तुम्हें किसी बात के कहने में संकोच क्यों ?

उद्धव—आपकी अवस्था तीस वर्ष के ऊपर हो गयी है, विवाह के सम्बन्ध में आपने कुछ विचार किया ?

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) क्यों नहीं किया; पिताजी, महाराज उग्रसेन आदि सभी इस सम्बन्ध में मुझे कई बार कह चुके हैं।

उद्धव—तब क्या निर्णय किया, द्वारकेश ?

कृष्ण—मैं इस झंझट से अलग ही रहना चाहता हूँ। तुम जानते हो, जब मनुष्य राज्य, विवाह आदि बंधनों से जकड़ जाता है, तब उसे कर्तव्य-पालन में उतनी स्वतंत्रता नहीं रहती; इसीलिए मैंने राज्य-सिंहासन नहीं लिया और विवाह भी नहीं करना चाहता।

उद्धव—परन्तु, आपकी प्रकृति तो ऐसी है कि उसकी स्वतंत्रता को संसार में कोई भी बात अपहरण कर सके, यह मैं नहीं मानता।

कृष्ण—कदाचित् यह ठीक हो, परन्तु फिर भी बंधनों से जितनी दूर रहा जा सके उतना ही अच्छा है।

[**प्रतिहारी का प्रवेश।**]

प्रतिहारी—(**अभिवादन कर**) श्रीमान्, विदर्भ देश से एक ब्राह्मण आये हैं और श्रीमान् के दर्शन करना चाहते हैं।

कृष्ण—उन्हें आदरपूर्वक भीतर ले आओ।

[प्रतिहारी का प्रस्थान, एक वृद्ध ब्राह्मण के संग पुनः प्रवेश और उस ब्राह्मण को छोड़ फिर प्रस्थान। कृष्ण और उद्धव ब्राह्मण को प्रणाम करते हैं और वह आशीर्वाद देता है।]

कृष्ण––कहिए, देव, इतनी दूर इस द्वीप में पधारने का कैसे कष्ट उठाया ?

ब्राह्मण––मुझे आपकी सेवा में विदर्भ-कुमारी श्रीमती रुक्मिणी देवी ने कुण्डनपुर से एक पत्र देकर भेजा है, यदुनाथ।

कृष्ण––अच्छा, वे ही न, जिनका विवाह चेदि-देश के राजा शिशुपाल से होनेवाला है ?

ब्राह्मण––हाँ, वे ही, द्वारकेश। किन्तु, यह विवाह उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके कुटुंबी कर रहे हैं। उन्होंने तो आपके गुणानुवादों को सुन संकल्प कर लिया है कि वे आपको छोड़ किसी अन्य से विवाह न करेंगी। आपसे प्रेम रहने के कारण चेदि-नरेश से विवाह करने की अपेक्षा राज-कुमारी मृत्यु को उत्तम समझती हैं। उन्होंने निश्चय किया है कि यदि आप किसी प्रकार भी उनका पाणिग्रहण न कर सके तो विवाह के पूर्व वे अपने प्राण दे देंगी। विवाह के केवल दस दिन शेष हैं, वे विवाह के दिवस तक आपकी प्रतीक्षा करेंगी, यदि आप न पधारे तो उनकी मृत्यु निश्चित है। यह उनका पत्र है, द्वारकाधीश। **(एक पत्र कृष्ण को देता है।)**

कृष्ण––**(पत्र खोल और पढ़कर)** आप आनंदपूर्वक ठहरें। भोजन-विश्राम के पश्चात् विदर्भ देश लौटकर राजकुमारी को सूचित कर दें कि मैं ठीक समय कुण्डनपुर पहुँच जाऊँगा। **(जोर से)** प्रतिहारी ! प्रतिहारी ! **(प्रतिहारी का प्रवेश और अभिवादन।)** ब्राह्मण-देवता को सुख-पूर्वक ठहराकर भोजन कराओ।

[प्रतिहारी और ब्राह्मण का प्रस्थान।]

उद्धव——आप उनके कुटुम्बियों की इच्छा के विरुद्ध रुक्मिणी देवी से विवाह कैसे करेंगे, देव ?

कृष्ण——(मुस्कराकर) मैं रुक्मिणी का हरण करूँगा, उद्धव।

उद्धव——(आश्चर्य से) पर, यदुनाथ, माता, पिता, भ्राता एवं कुटुम्बी जनों को अधिकार है कि वे जिससे चाहें कन्या का विवाह करें।

कृष्ण——यह अनुचित अधिकार है, उद्धव। वर-कन्या को जन्मभर परस्पर संग रहना पड़ता है, उनके भाग्य का इस प्रकार निर्णय करने का बांधवों को कोई अधिकार नहीं है।

उद्धव——परन्तु, फिर तो समाज की मर्यादा भंग हो जायगी, यह तो अधर्म होगा।

कृष्ण——समाज की अनुचित मर्यादा को तोड़ना ही धर्म है।

उद्धव——और अभी तो आपने यह कहा था कि आपका विचार ही विवाह करने का नहीं है।

कृष्ण——उस समय मेरे सम्मुख ऐसा कोई प्रसंग उपस्थित नहीं था। कर्तव्य का निर्णय तो समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार बदलना ही पड़ता है। एक बालिका की प्राण-रक्षा का प्रश्न है। पढ़ लेना, कैसा करुणापूर्ण पत्र है। तो फिर चलो, कुण्डनपुर प्रस्थान के लिए प्रस्तुत हुआ जाय।

[कृष्ण पत्र उद्धव को देते हैं। दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान——विदर्भ-देश के कुण्डनपुर में दुर्गा का मंदिर

समय—सन्ध्या

[सुन्दर मंदिर है, जिसका शिखर सूर्य की सुनहरी किरणों से चमक रहा है। मन्दिर के बाहर रुक्मिणी विवाह के श्रृंगार में दुर्गा के सम्मुख खड़ी हुई स्तुति कर रही हैं। सहेलियाँ उसके पीछे खड़ी हुईं संग ही गा रही हैं। इधर-उधर सेना भी खड़ी है। रुक्मिणी की अवस्था लगभग सोलह वर्ष की है। वे गौर वर्ण की परम सुन्दरी युवती हैं।]

जय जय जग-जननि देवि, सुर-नर-मुनि-असुर-सेवि,
भक्ति-मुक्ति-दायिनि, भय-हरनि, कालिका।
मङ्गल-मुद-सिद्धि-सदनि, पर्व-सर्वरीस-बदनि,
ताप-तिमिर-तरुन-तरनि-किरन-मालिका ॥
बर्म-चर्म कर-कृपान, सूल-सेल धनुष-बान,
धरनि, दलनि-दानव-दल, रन-करालिका।
पूतना पिसाच प्रेत, डाकिनि साकिनि समेत,
भूत ग्रह बेताल खग मृगालि-जालिका ॥

[गान पूर्ण होते-होते कृष्ण रथ पर आते हैं। रथ वैसा ही है जैसा पहले अंक के तीसरे दृश्य में था।]

कृष्ण—(ज़ोर से) विदर्भ-कुमारी रुक्मिणी! कृष्ण प्रस्तुत है।

[रुक्मिणी चौंककर रथ की ओर देखती हैं और रथ के निकट बढ़ती हैं। कृष्ण उन्हें सहारा दे रथ पर चढ़ाते हैं। रथ शीघ्रता से आगे बढ़ता है। यह सब इतने शीघ्र होता है कि सब आश्चर्यचकित-से रह जाते हैं। रथ चलते ही हलचल और कोलाहल मचता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—द्वारकापुरी का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[मार्ग के भवन मथुरा के समान ही हैं। मार्ग भी चौड़ा है। दो पुर-वासियों का प्रवेश।]

एक—देखा, बन्धु, इस संसार में कार्य का बदला किस प्रकार मिलता है। कृष्ण ने यदि किसी की भगिनी का हरण किया था, तो किसीने उनकी भगिनी सुभद्रा का हरण कर लिया।

दूसरा—पर, यह तो उनके मित्र अर्जुन ने किया है। सुना है, यह कृष्ण की अनुमति से हुआ है।

पहला—**(आश्चर्य से)** यह क्या कहते हो! कोई अपनी भगिनी का हरण करावेगा!

दूसरा—कृष्ण जो करें सो थोड़ा है।

पहला—अच्छा चलो, अभी तो चलकर सेना का रण-प्रस्थान देखें। इस बार इन्द्रप्रस्थ में घोर संग्राम होगा। बराबरीवालों का विवाह और युद्ध दोनों ही दर्शनीय होते हैं।

दूसरा—पर, मुझे तो इस युद्ध में बड़ा सन्देह है, कृष्ण यह युद्ध कदापि न होने देंगे।

पहला—बलराम रुकनेवाले नहीं हैं, उनका क्रोध चरम सीमा को पहुँच गया है, चलो, चलकर देखें तो, चलने में क्या हानि है?

दूसरा—हाँ, हाँ, चलने में कोई हानि नहीं, चलो।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—द्वारकापुरी में बलराम के प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[दालान तीसरे अंक के पहले दृश्य के समान ही है, पर रंग भिन्न है। क्रोधित बलराम और संग में उद्धव का प्रवेश।]

बलराम—(क्रोध से) पाण्डवों को इतना मद! अर्जुन का इतना साहस! अभी जब कौरवों के हाथ में सत्ता है तभी इतना मद हो गया, तो राज्य मिलने पर वे न जानें क्या करेंगे। मेरी भगिनी सुभद्रा का हरण, कृष्ण-भगिनी सुभद्रा का हरण, वसुदेव-पुत्री सुभद्रा का हरण! इन्द्रप्रस्थ को यदि मिट्टी में न मिला दिया और अर्जुन का यदि क्षणमात्र में वध न कर दिया, तो मेरा नाम बलराम नहीं।

उद्धव—शांत होइए, श्रीमान्, शान्त होइए; पाण्डव अपने किये का फल अवश्य पावेंगे, रेवतीपति।

[कृष्ण का प्रवेश।]

कृष्ण—(मुस्कराते हुए) इतना क्रोध, तात, इतना क्रोध! जब मैंने रुक्मिणी का हरण किया था, उस समय आपने मुझपर इतना क्रोध क्यों नहीं किया? उस समय मुझे बचाने के लिए रुक्मिणी के भ्राता रुक्म से आप क्यों लड़े, आर्य? रुक्मिणी भी किसीकी भगिनी थी, किसीकी पुत्री थी।

बलराम—(**क्रोध से**) ज्ञात होता है, कृष्ण, तुम्हारा भी इस षड्यंत्र में हाथ है। अर्जुन से मित्रता है तो क्या तुम्हारी मित्रता के कारण अर्जुन हमारे कुल का अपमान करेगा, हमारे कुल में कलंक लगाएगा?

कृष्ण—(**मुस्कराते हुए**) मैंने भी क्या किसीके कुल का अपमान किया है? क्या किसीके कुल में कलंक लगाया है? अर्जुन ने ठीक वही किया है, जो मैंने किया था। यदि अर्जुन का कृत्य निन्दनीय है तो मेरा भी है, यदि अर्जुन दण्ड पाने के योग्य है, तो मैं भी हूँ। आप मुझसे भी बड़े हैं और अर्जुन से भी; पहले मेरा सिर काट दीजिए, तब इन्द्रप्रस्थ पर आक्रमण कीजिएगा।

बलराम—(**दुःखित होकर**) कृष्ण, तुम दग्ध पर लवण छिड़क रहे हो, तुम दुखी को दुखी कर रहे हो।

कृष्ण—तात, किसी बात के भीतर घुसकर न देखने से ही मनुष्य को दुःख होता है। सुभद्रा जैसी आपकी भगिनी है, वैसी ही मेरी भी तो है; उसके हरण से मैं दुखी नहीं हूँ और आप क्यों हैं, आर्य?

बलराम—(**त्यौरी चढ़ाकर**) इसका स्पष्ट उत्तर सुनना चाहते हो?

कृष्ण—बिना इसके विषय का निपटारा कैसे होगा?

बलराम—तो स्पष्ट उत्तर यह है कि तुमने भी वैसा ही पाप किया है, इसीसे तुम दुखी नहीं हो।

कृष्ण—मैं तो उसे पाप न मान कर धर्म मानता हूँ, परन्तु आपकी दृष्टि से यदि उसे पाप भी मान लिया जाय तो पाप-कर्म करने पर भी आपने मेरी रक्षा क्यों की?

[बलराम चुप रहते हैं।]

कृष्ण—मेरे संकोच के कारण आप पूरी बातें स्पष्ट न कहेंगे, अच्छा मैं ही कहता हूँ, अपना और आपका, दोनों का काम मैं ही करता हूँ। सुनिए, आपकी दृष्टि से पाप होते हुए भी आपने मेरे पाप-कर्म में भी इसलिए सहायता दी कि मैं आपका भ्राता हूँ, क्यों ठीक है ?

बलराम—(**ज़ोर से**) हाँ, यह तो है ही।

कृष्ण—रुक्मिणी आपकी भगिनी न थी और उसका हरण आप के भ्राता ने किया था, आपकी दृष्टि से भ्राता का वह कर्म पापमय होने पर भी आपने उस कर्म में इसलिए सहायता दी कि वह आपके भ्राता ने किया था। सुभद्रा आपकी भगिनी है और उसे हरण करनेवाला एक अन्य व्यक्ति है अतः आप उसे दण्ड देना चाहते हैं। आर्य, इस भेद-बुद्धि से ही तो दुःख होता है, यही तो स्वार्थ है, यही तो दुःख की जड़ है। आपकी दृष्टि से यदि किसीने पाप किया है तो आपको उसे दण्ड देने का अवश्य अधिकार है, पर यदि वही पाप दो मनुष्यों ने किया है और उसमें से एक आपका भ्राता है तो आपको अपने भ्राता को भी वही दण्ड देना होगा, जो आप अन्य व्यक्ति को देना चाहते हैं।

बलराम—यह नीति संसार में व्यवहार्य्य नहीं है।

कृष्ण—मेरा तो विश्वास है कि जब तक संसार इस सम नीति का अनुसरण न करेगा, तब तक वह दुखी ही रहेगा। अब हम लोगों के कृत्यों के धर्म-अधर्म की ओर थोड़ी दृष्टि डालिए। रुक्मिणी के कुटुम्बी उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति के साथ करना चाहते थे, जिसपर उसका प्रेम तो दूर रहा, परन्तु जिसपर उसकी महान् घृणा थी; उसने उससे विवाह करने की अपेक्षा प्राण देने का निश्चय कर लिया था। आप सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से करना चाहते थे जिससे वह भी अत्यंत घृणा करती थी और वह भी कदाचित् विवाह करने की अपेक्षा प्राण दे देती। मैं तो

आजन्म विवाह करना ही नहीं चाहता था, पर रुक्मिणी का मुझपर प्रेम था और सुभद्रा का अर्जुन पर। मैंने रुक्मिणी के जीवन को सुखी करने का प्रयत्न किया तथा उसपर किये जानेवाले अत्याचारों को रोका और अर्जुन ने सुभद्रा के जीवन को। आपने मुझे सहायता दी और (**मुस्करा-कर**) आपके इस लघु और प्राणों से प्यारे भ्राता ने अर्जुन को। यह सब पुण्य हुआ या पाप?

बलराम—(**मुस्कराकर**) तुम अद्भुत हो, सचमुच विचित्र हो, कृष्ण। पर, बन्धु, इन सब बातों से समाज की मर्यादा भंग होती है।

कृष्ण—समाज की अन्यायपूर्ण मर्यादाओं से समाज को उल्टा क्लेश होता है अतः इन्हें भंग करना ही होगा। अच्छा, अब सुनिए, भगिनी के विधवा बनाने की बात तो छोड़िए और यहाँ के कार्य को सँभालिए; मुझे फिर बाहर जाना है।

बलराम—अब कहाँ जाओगे?

कृष्ण—भौमासुर पर तत्काल आक्रमण करना होगा।

उद्धव—(**आश्चर्य से**) आप तो किसीके देश पर आक्रमण करने के विरुद्ध थे न!

बलराम—हाँ, इसी कारण देश छोड़ दिया और मगध पर आक्रमण न किया।

कृष्ण—पर, यह आक्रमण ही धर्म है।

उद्धव—यह कैसे?

बलराम—इसमें भी कोई गूढ़ रहस्य होगा।

कृष्ण—मैं उसका देश जीतने के लिए आक्रमण नहीं कर रहा हूँ।

उद्धव—तब फिर ?

कृष्ण—जिन बहुत-सी राजकुमारियों को उसने रोक रखा है, उनका पत्र आया है। उन्होंने लिखा है कि वे अपनी रक्षा अब केवल एक मास तक ही कर सकेंगी, इसके पश्चात् या तो उन्हें उस राक्षस को, जिसे वे हृदय से घृणा करती हैं, अपना आत्म-समर्पण करना होगा, या विष खाकर मर जाना होगा। उन बेचारी अबलाओं के रक्षणार्थ यह आक्रमण अनिवार्य है।

बलराम—अबलाओं की रक्षा तो प्रथम कर्तव्य है।

उद्धव—अवश्य, अवश्य।

कृष्ण—तो चलिए, इसीका प्रबन्ध कीजिए।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—भौमासुर की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर के राज-प्रासाद का एक कक्ष

समय—सन्ध्या

[कक्ष उसी प्रकार है जैसा अयोध्या के राज-प्रासाद का कक्ष था। कक्ष की भित्तियों आदि का रंग उस कक्ष के रंग से भिन्न है। द्वारों से बाहर के उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है, जो डूबते हुए सूर्य की प्रभा से आलोकित है। कक्ष में सोलह राज-कन्याएँ बैठी हुई बातें कर रही हैं।]

एक—देखा, करुणानिधान कृष्ण को देखा; शरणागत-वत्सल कृष्ण को देखा !

दूसरी—हाँ, सखि, हमारा पत्र पाते ही वे दौड़े आये !

तीसरी—और पापी की जड़ तो मानों पत्थर पर रहती है।

चौथी—हाँ, ऐसे बलवान भौमासुर का संहार करने में कृष्ण को विलंब न लगा।

पाँचवीं—पर, सखि, हमने उन्हें निरर्थक ही कष्ट दिया, हमारे भाग्य में तो दोनों प्रकार से मरण लिखा था। पर-घर में रही हुई हमको समाज में कौन ग्रहण करेगा ?

छठवीं—हाँ, सखि, हम चाहे कैसी ही सती-साध्वी हों, पर, स्त्री का पर-घर में रह जाना ही उसके जीवन को नष्ट कर देने के लिए यथेष्ट है।

सातवीं—पर, अब हम सुख से मरेंगी।

आठवीं—हाँ, पापी का तो नाश हो गया।

नवीं—अब चिन्ता नहीं, हम भी मर जायँ।

दसवीं—वह न मरता तो हमें भी मरने में दुःख रहता।

ग्यारहवीं—फिर इस समय मरने में दूसरा आनंद यह है कि जिनके गुणानुवाद इतने दिन तक सुन रही थीं, उन द्वारकाधीश के दर्शन भी हो गये।

बारहवीं—अहा ! उनका कैसा स्वरूप है !

तेरहवीं—और कैसी वाणी !

चौदहवीं—और कैसा स्वभाव !

पन्द्रहवीं—सभी कुछ अनुपम है !

सोलहवीं—क्यों, सखि, वे दया के सागर, पतितों के पावन द्वारकाधीश ही हमें न ग्रहण कर लेंगे ?

सब—आहा ! यदि यही हो जाय तो क्या पूछना है !

पहली—पर, वे ही हमें समाज की मर्यादा तज क्यों ग्रहण करने लगे।

दूसरी—और फिर सबको ?

तीसरी—फिर, सखि, विलंब क्यों ? हीरे की एक-एक मुद्रिका तो सबके पास है न ?

चौथी—हाँ, सबके।

पाँचवीं—तो चलो, उनको ही खाकर, इस असार संसार, इस पापी संसार, इस क्रूर संसार को छोड़ दें।

सब—चलो।

[सब खड़ी होती हैं। कृष्ण का प्रवेश। उन्हें देख सब सिर नीचा कर लेती हैं।]

कृष्ण—राजकुमारियो, मैंने तुम लोगों के भाषण सुन लिए हैं। मैं जानता हूँ कि आज का समाज तुम्हें उचित विधि से ग्रहण करने को प्रस्तुत न होगा। यदि तुमने प्राण ही दे दिये तो फिर भौमासुर और इतने प्राणियों के संहार से क्या लाभ हुआ ? तुम्हारी इच्छा भी मैंने सुन ली है। सुन्दरियो, मेरी इच्छा एक विवाह करने की भी न थी, पर मैं देखता हूँ कि एक के स्थान पर न जाने मुझे कितने विवाह करने पड़ रहे हैं। जो कुछ हो, लोक-हितार्थ, लोक-सुखार्थ जो कुछ भी सम्मुख आयेगा, शक्ति

के अनुसार किये बिना मन ही न मानेगा। मैं जानता हूँ कि तुम सब शुद्ध हो, समाज की टीका की मुझे चिन्ता नहीं है, तुम्हारी इच्छानुसार मैं तुम सबों को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

सब—(आश्चर्य से) अहो ! हमारे ऐसे भाग्य! हमारे ऐसे भाग्य !

एक—यदि चाहें तो हमारी शुद्धता की आप परीक्षा कर लें, करुणेश।

कृष्ण—नहीं, सुन्दरियो, नहीं, मेरा अन्तःकरण कहता है कि तुम सब शुद्ध, नितान्त शुद्ध हो; मुझे परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।

यवनिका-पतन

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—इन्द्रप्रस्थ में द्रौपदी के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[दालान वैसी ही है जैसी मथुरा और द्वारका के राज-प्रासादों की थी। रंग उनसे भिन्न है। द्रौपदी और रुक्मिणी खड़ी हुई बातें कर रही हैं। द्रौपदी की अवस्था लगभग चालीस वर्ष की है। ऊँची, सुडौल, प्रौढ़ा स्त्री है, वर्ण साँवला होने पर भी सौंदर्य की कमी नहीं है। रुक्मिणी की अवस्था अब तीस वर्ष के लगभग दिखती है। द्रौपदी पीत वर्ण के रेशमी वस्त्र और रुक्मिणी नील वर्ण के रेशमी वस्त्र पहने हैं। दोनों रत्न-जटिल आभूषण धारण किये हैं।]

रुक्मिणी—मेरे विवाह को लगभग पन्द्रह वर्ष हो गये। इस दीर्घ काल में आपका राज्य और आपकी प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में यदुनाथ को जितना चिन्तन करते देखा उतना किसी विषय पर नहीं।

द्रौपदी—उनकी जितनी कृपा हम लोगों पर है, उससे हम कभी उऋण नहीं हो सकते। सखि, मुझे वे भगिनी मानते एवं कृष्णा कहते हैं और गांडीवधारी को सखा। फिर जितना कोई और सहोदर अपने सहोदर पर प्रेम नहीं करता, उतना वे हम पर करते हैं; मुझपर उनका सुभद्रा से भी अधिक स्नेह है। हमारा राजसूय-यज्ञ उनके कारण ही सफल हो सका। ज्येष्ठ पाण्डव का नियम है कि उन्हें द्यूत खेलने के लिए जो बुलाता है वे उससे अवश्य द्यूत खेलते हैं।

रुक्मिणी—ज्येष्ठ पाण्डव ही क्यों; द्यूत आधुनिक काल का सर्वश्रेष्ठ खेल माना जाता है और कोई भी क्षत्रिय द्यूत का निमंत्रण अस्वीकृत करना निंदनीय मानता है।

द्रौपदी—हाँ, परन्तु ज्येष्ठ पाण्डव में तो एक और दोष है कि हारते समय उन्हें फिर कुछ दिखायी ही नहीं देता। शकुनी के कपटाचार के कारण जब वे सर्वस्व हार गये तब मुझे भी द्यूत में लगा दिया और जब मुझे भी हार गये तब मेरी लज्जा कृष्ण के कारण ही बची, नहीं तो मैं भरी सभा में नग्न कर ही डाली जाती। हमारे बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास में उन्होंने हमें प्रकट रूप से ही सहायताएँ नहीं दीं, वरन् गुप्त रूप से भी अनेक दीं। कुरुवंश का यह युद्ध न होने पावे, इसके लिए उन्होंने क्या कम उद्योग किया? स्वयं दूत का कार्य स्वीकार किया, दुर्योधन उन्हें बन्दी बना लेगा, यह समाचार फैला हुआ था, पर इतने पर भी वे कौरव-सभा में गये। दुर्योधन ने उन्हें बन्दी करने का भी कम उद्योग नहीं किया, पर हमारा सौभाग्य कि वे बच गये।

रुक्मिणी—उनके बन्दी होने के प्रयत्न का समाचार फैलने से वे कौरव-सभा में न जायँ यह तो असम्भव था। विघ्न-बाधाओं की उपेक्षा तो उनका स्वभाव ही है, सखि, फिर सब कुछ यदुनाथ निष्पक्ष होकर करते हैं।

द्रौपदी—निष्पक्ष होकर करते हैं, या निष्पक्ष बनते हैं, सो तो कहना कठिन है, सखि, पर निष्पक्षता दर्शाते अवश्य हैं। युद्ध में हमारी ओर होना ही था, पर इसमें भी कैसी निष्पक्षता दिखायी।

रुक्मिणी—यह मुझे ज्ञात नहीं है।

द्रौपदी—यह तो अभी की बात है। तुम जानती ही हो कि आधुनिक काल में युद्ध के निश्चित नियमों के अनुसार जो पक्ष पहले रण-निमंत्रण देने के लिए पहुँचता है उसी पक्ष का युद्ध में साथ देना पड़ता है।

रुक्मिणी—हाँ, यह तो जानती हूँ।

द्रौपदी—भैया को रण-निमंत्रण देने दुर्भाग्य से दुर्योधन पहले पहुँचे, पर, कौन्तेय के पहुँचने के पूर्व आप उनसे मिलनेवाले कब थे? सो गये। जब कौन्तेय पहुँच गये तब उठे और कहते हैं आ गये, धनंजय? दुर्योधन ने तत्काल कहा कि पहले मैं आया तो आप बोले, पहले मैंने कौन्तेय को देखा है।

रुक्मिणी—सच बात तो यह है कि उनकी सदा धर्म, न्याय और सत्य-पक्ष एवं दुखियों से सहानुभूति रहती है। जिस विधि से भी बने, वे इनका कल्याण करना चाहते हैं।

द्रौपदी—हाँ, सखि, सौ बात की एक बात यह है। पाण्डव-पक्ष को वे धर्म, न्याय और सत्य का पक्ष होने के कारण ही सहायता देते हैं और दु:ख की तो बात ही न करो। हमने जितने दु:ख पाये हैं, उतने तो संसार में कदाचित् ही किसीने पाये हों। लाक्षा-भवन में हम जलाये गये, दूसरे पाण्डव को विष खिलाया गया, बल से हमारा राज्य हरण कर बारह वर्ष तक हमें वन-वन और अरण्य-अरण्य घुमाया गया, एक वर्ष तक अज्ञात रहने का हमसे वचन लिया गया और यदि इस अज्ञात रूप से रहने को

हम निभा न पाते तो फिर बारह वर्ष का वन और एक वर्ष का अज्ञात-वास; फिर चूके तो फिर वही। जन्मभर क्या वह वनवास और अज्ञातवास समाप्त होनेवाला था? धर्मराज को तुम जानती ही हो; मनसा, वाचा, कर्मणा भी वे असत्य का चिंतन तक नहीं कर सकते। कौरव जानते थे कि भारतवर्ष में पाण्डवों का अज्ञात रहना असंभव है।

रुक्मिणी—असम्भव नहीं तो कम से कम इसके नीचे की सीढ़ी तो अवश्य थी।

द्रौपदी—हाँ, सखि, इसमें सन्देह नहीं। अज्ञातवास का एक-एक मुहूर्त्त, एक-एक कला, एक-एक काष्ठा, एक-एक त्रुटि और एक-एक लव-क्षण जिस मानसिक और शारीरिक कष्ट से हमने बिताया है, वह हम आजन्म न भूलेंगे। हम-सा दुखिया कोई न होगा, कोई नहीं।

रुक्मिणी—और इतने दुःख पाने के पश्चात् भी यह युद्ध होगा।

द्रौपदी—क्या किया जाय, विवशता है। भैया ने पाँच गाँव तक माँगे, पर जब दुर्योधन ने सुई की नोक बराबर पृथ्वी भी देना अस्वीकार कर दिया, तब भैया ने ही कह दिया कि अब युद्ध न होना अधर्म होगा।

रुक्मिणी—हाँ, अधर्म, अन्याय, असत्य, अत्याचार की कोई सीमा है! आश्चर्य तो यह है कि कुरु-देश के महारथी, भीष्म, द्रोण, कृप आदि अब भी दुर्योधन की ओर से ही युद्ध करेंगे।

द्रौपदी—इसमें आश्चर्य क्या है, सखि? जब दुर्योधन ने दुःशासन से भरी सभा में मुझे नग्न करने को कहा था, तब भी तो ये सब उसी सभा में उपस्थित थे, पर किसीके मुख से एक शब्द भी न निकला।

रुक्मिणी—मुझे बड़ा खेद है, सखि, कि यदुनाथ आपके पक्ष में होने पर भी युद्ध न करेंगे।

द्रौपदी—इसके लिए क्या किया जा सकता है। वे युद्ध को अक्षम्य, हत्यामय काण्ड मानकर सदा को छोड़ चुके हैं। पर, इससे क्या? वे हमारे पक्ष में हैं, इसीसे हमारी विजय होगी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस पक्ष में वे हैं, वह पक्ष हार ही नहीं सकता। फिर उन्होंने हमारे लिए सूत का, निम्न-श्रेणी का कार्य करना तक स्वीकार किया है। उनके साथी रहने से धनंजय को कोई भय नहीं है।

रुक्मिणी—एक सबसे बड़ा सुयोग यह हो गया कि मेरे जेठ बलरामजी के हाथ से नैमिषारण्य के सूत पुराणी की हत्या हो गयी और वे तीर्थ यात्रा को चले गये, नहीं तो इस समय बड़ी कठिनाई हो जाती। दुर्योधन उनका शिष्य है और उनकी सदा ही दुर्योधन से सहानुभूति रहती है।

द्रौपदी—यदि यह न भी होता तो इसके लिए भी कृष्ण कोई न कोई युक्ति निकाल ही लेते। (**नेपथ्य में वाद्य का शब्द होता है।**) प्रातः-काल का वाद्य बज रहा है, कुरुक्षेत्र में इसी समय युद्ध आरंभ हुआ होगा। आज ही युद्ध का प्रथम दिवस है।

रुक्मिणी—तो चलो, सखि, हम भगवान् से पाण्डवों के विजय की मंगल-कामना करें।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र का मैदान

समय—प्रातःकाल

[दूरी पर दो सेनाएँ दिखती हैं, जिनके कवच और शस्त्र प्रातःकाल

के प्रकाश में चमक रहे हैं। अर्जुन का रथ खड़ा हुआ है। रथ में चार घोड़े जुते हैं। इसकी बनावट पहले अंक के तीसरे दृश्य के रथ के समान ही है। अन्तर इतना ही है कि इसमें छतरी नहीं है। ध्वजा एक पतले स्तंभ पर, सामने की ओर लगी है और उसपर बन्दर का चित्र बना है। कृष्ण सारथी के स्थान पर बैठे हैं। अर्जुन रथी के स्थान पर आसीन हैं। सामने धनुष रखा है और अर्जुन का मुख उदासीन भाव से झुका हुआ है। अर्जुन की अवस्था लगभग पैंतालीस वर्ष की है। वर्ण साँवला है, परन्तु मुख सुन्दर और शरीर गठा हुआ है। वे आभूषण और शस्त्रों से सुसज्जित हैं। शरीर पर लोह-कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये हुए हैं। कवच और शिरस्त्राण पर सुवर्ण भी लगा है। अर्जुन हाथों में गोधांगुलित्राण भी पहने हैं। कृष्ण की अवस्था लगभग पैंतालीस वर्ष की है, पर मुख और शरीर वैसा ही है। सारे वस्त्र श्वेत हैं, सिर खुला हुआ है, कोई आभूषण नहीं है और न पास में कोई शस्त्र ही है। सन्नाटा छाया हुआ है। कृष्ण अर्जुन की ओर देख रहे हैं। कुछ देर में अर्जुन धनुष को उठाने के लिए हाथ बढ़ाते हैं और नीचे मुख को मुस्कराते हुए ऊपर उठा कृष्ण की ओर देखते हैं।]

कृष्ण—बहुत शीघ्र, मित्र, बहुत ही शीघ्र तुम्हारे अद्भुत ज्ञान का अन्त हो गया। तुम्हारे मुख के भाव तो फिर बदल रहे हैं, अंग फिर दृढ़ हो रहे हैं, तुम तो फिर गाण्डीव उठा रहे हो। वह रोमांच, वह स्वेद, वह शरीर की शिथिलता कहाँ गयी, धनंजय!

अर्जुन—(मुस्कराते हुए) तुम्हारा यह निःशस्त्र स्वरूप देखकर तो वह ज्ञान और बढ़ गया था, संन्यास लेने की प्रवृत्ति और अधिक हो गयी थी।

कृष्ण—(मुस्कराकर) मैंने तो संन्यास नहीं लिया है, कौन्तेय। हाँ, प्रत्येक के मन की पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ होती हैं और उन्हींके अनुसार उनके कार्य होते हैं।

अर्जुन—मानता हूँ, मित्र, कि तुम्हारी अवस्था तक पहुँचने में अभी मुझे न जाने कितना समय लगेगा। केवल सुन लेने, कह देने अथवा समझ लेने और समझा देने से वह स्थिति नहीं हो सकती; उसके लिए सम-भाव के अनुभव की आवश्यकता होती है।

कृष्ण—तो मानते हो न कि वह मोह था, ज्ञान नहीं ?

अर्जुन—अवश्य, वह ज्ञान नहीं, मोह था।

कृष्ण—और मेरी कही हुई समस्त बातें तुम्हारी समझ में बैठ भी गयीं ?

अर्जुन—कितनी सुन्दरता से, सो संक्षेप में कहे देता हूँ, सुन लो—मोह सदा क्षणिक रहता है ज्ञान के सदृश स्थायी नहीं। यों तो संसार में एक चिउँटी की हत्या भी निन्दनीय है, परन्तु सद्सिद्धान्तों की हत्या के सम्मुख अक्षौहणियों की हत्या भी तुच्छ वस्तु है। संसार में पृथकत्व केवल स्थूल दृष्टि से देखने में ही है, यथार्थ में सभी में एकता है और सबमें एक शक्ति का ही संचार हो रहा है। आत्मा अजर एवं अमर है, अतः शरीर के नाश से उसका कोई संबन्ध नहीं, और यदि आत्मा नहीं है और शरीर की उत्पत्ति के साथ ही चेतना की उत्पत्ति होती है, तो भी शरीर के नाश को कोई महत्त्व नहीं। नित्य असंख्यों शरीर उत्पन्न और असंख्यों नष्ट होते हैं। जब तक शरीर है तब तक कर्म करना ही होगा, क्योंकि साँस लेना भी कर्म है और यदि कर्म से छुट्टी पाने के लिए आत्म-हत्या भी की जाय तो वह भी एक निन्दनीय कर्म होगा। मैं कर्म निष्काम होकर, फलेच्छा-रहित होकर करने को प्रस्तुत हूँ। सद्सिद्धान्तों की रक्षा और जगत् का स्थायी हित इसीसे हो सकता है, यह मैं मानता हूँ, कृष्ण। अब तुम्हीं कहो, तुम्हारी सब बातें मेरी समझ में बैठ गयीं या नहीं।

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) तो अब रथ आगे बढ़ाया जाय ?

अर्जुन—(गाण्डीव धारणकर तथा देवदत्त शंख को उठा) अवश्य।

[कृष्ण रथ चलाते हैं। अर्जुन शंख बजाता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[नेत्र-रहित राधा का कृष्ण-वेश में करतालें बजाते और गाते हुए प्रवेश। राधा अब क्षीणकाय नहीं हैं। नेत्र चले गये हैं, पर पलकों के चारों ओर आँसू दिखते हैं।]

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै॥
तुही पंच तत्व, तुही सत्व, रज, तम तुही,
थावर औ जंगम जितेक भावो भव मैं।
तेरे ये बिलास लौटि तोही में समान्यो कछु,
जान्यो न परत पहिचान्यो जब जब मैं॥
देख्यो नहीं जात तुही देखियत जहाँ-तहाँ,
दूसरो न देख्यो कृष्ण तुही देख्यो अब मैं।
सबकी अमर मूरि, मारि सब धूरि कहै,
दूर सब ही तें भरपूरि रह्यो सबमैं॥

परम स्वाद सब ही जु निरन्तर, अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर, जो जाने सो पावै ॥अविगत०
अग, नग, नाग, नर, किन्नर, असुर, सुर,
प्रेत, पसु, पच्छी, कोटि कोटिन कढ्यो फिरै।
माया, गुन, तत्व, उपजत, बिनसत सत्व,
काल की कला को ख्याल खाल में मढ्यो फिरै॥
आप ही भखत, भख, आप ही अलख लख,
कहूँ मूढ़ कहूँ महा पंडित पढ्यो फिरै।
आप ही हथ्यार, आप मारत, मरत आप,
आप ही कहार, आप पालको चढ्यो फिरै ॥
रूप-रेख गुन जाति जुगुति बिनु, निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम तदपि जाने वह, प्रेम रूप ह्वै कर जो ध्यावै ॥
अविगत०।

[बलराम का प्रवेश।]

बलराम—राधे, आपसे यह बलराम जाने के लिए आज्ञा लेने आया है।

राधा—इतने शीघ्र क्यों, देव?

बलराम—तीर्थ-यात्रा के निमित्त ही मैं यहाँ आया था, देवि। आप लोगों के दर्शन की भी अभिलाषा थी, और कुछ दिन रहता, परन्तु सुना है, कुरुक्षेत्र में कौरवों-पाण्डवों का युद्ध आरंभ हो गया है। भीष्म पितामह आहत हो धराशायी हैं और द्रोणाचार्य एवं महारथी कर्ण देवगति को प्राप्त हो चुके हैं। यह भी सुना है, भगवती, कि युद्ध में लड़ते हुए इनका संहार

नहीं हुआ, परन्तु कृष्ण ने कौशल से एक-एक को निःशस्त्र कराकर नष्ट कराया है। यदि युद्ध इसी प्रकार चला तो सारे कुरुवंश का नाश हो जायगा। उसे अधर्म से नष्ट कराने के कलंक का टीका, युद्ध छोड़ देने पर भी, कृष्ण के सिर पर लगेगा। मुझे उस ओर तीर्थयात्रा भी करनी है, यात्रा भी हो जायगी और इस नाशकारी युद्ध के निवारण का भी उद्योग करूँगा।

राधा—(मुस्कराकर) कृष्ण के मस्तक पर किसी वस्तु के कलंक का टीका लग सकता है, यह तो मैं नहीं मानती, क्योंकि उनके कार्य की विधि चाहे कोई क्यों न हो, उनके हर कार्य का उद्देश्य लोक-हित ही होता है। पर, फिर भी यदि युद्ध का हत्या-काण्ड आपके उद्योग से रुक सके, तो अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। (कुछ ठहरकर) आगामी सूर्य-ग्रहण के अवसर पर तो व्रजवासी भी कुरुक्षेत्र जावेंगे, तब तक तो आप लोग भी कुरुक्षेत्र ही में रहेंगे?

बलराम—अब सूर्य-ग्रहण के दिवस ही कितने हैं। सारा देश जब सूर्य-ग्रहण पर कुरुक्षेत्र पहुँचेगा, तब तक हम लोग, जो वहाँ पहले से ही रहेंगे, ग्रहण के पूर्व कुरुक्षेत्र क्यों छोड़ने लगे, देवि।

राधा—पर, सुना है, इस युद्ध के कारण इस बार वहाँ बहुत कम लोग जायँगे।

बलराम—उसके पूर्व या तो युद्ध समाप्त हो जायगा, या सन्धि हो जायगी। ऐसा भयंकर युद्ध बहुत समय तक नहीं चल सकता। (कुछ ठहरकर) तो चलता हूँ, देवि, इन थोड़े दिनों में ही व्रज की जैसी परिस्थिति देखी, वह आजन्म विस्मृत न होगी। आपने व्रज में कृष्ण-प्रेम का जो अद्वितीय स्रोत बहाया है, कृष्ण-विरह से कृष्ण के प्रति जिस अद्भुत प्रेम की उत्पत्ति हुई है, वह केवल कृष्ण की ही नहीं, सारे विश्व की सम्पत्ति हो गयी है।

यह धन कदाचित् व्रज का अटूट धन होगा और सदा ही व्रज के कोष में स्थिर रहेगा। धन्य हैं आप, राधे, धन्य हैं! किसने आज-पर्यन्त आप-सा आनन्द पाया है! कौन इस प्रेम में आँसू बहा-बहा, चर्म-चक्षुओं को खो कर हृदय-चक्षु खोल सका है! कौन अपने को अपने प्रेमी के, एवं सारे विश्व को अपने प्रेमी के रूप में देख सका है! धन्य, सचमुच धन्य है आपको और धन्य है आपके इस प्रेम-मार्ग को!

राधा––(अंधे नेत्रों से अश्रु बहाते हुए) मैं क्या धन्य हूँ, मैं क्या धन्य हूँ! और यदि मैं धन्य हूँ, तो जिसने अपने को, अपने हृदय को, इस प्रेम में सराबोर कर दिया है, वे सभी धन्य हैं, देव!

बलराम––(**राधा के चरण स्पर्शकर**) तो आज्ञा माँगता हूँ, प्रेम-रूपिणी।

राधा––कल्याण हो आपका और कल्याण हो इस कृष्ण-रूप समस्त विश्व का।

[**बलराम का प्रस्थान। राधा फिर गाती है।**]

प्रेम प्रेम तें होय, प्रेम तें पर ह्वै जइए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिए।
प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय।
जो जन जाने प्रेम तो, मरै जगत क्यों रोय।
प्रेम प्रेम तें होय०।

प्रेम-रूप दर्शन अहो, रचै अजूबो खेल।
या में अपनो रूप कछु, लखि परिहै अनमेल।
प्रेम प्रेम तें होय०।

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं, जान्यो जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जानि कै, रहि न जात कछु सेस।
प्रेम प्रेम तें होय०।

प्रेम-फाँस में फँसि मरै, सोई जिये सदाहिं।
प्रेम-मरम जाने बिना, मरि कोउ जीवत नाहिं।
प्रेम प्रेम तें होय०।

जग में सब तें अधिक अति, ममता तनहिं लखाय।
पै या तनहू तें अधिक, प्यारो प्रेम कहाय।
प्रेम प्रेम तें होय०।

एकै निस्चय प्रेम को, जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निस्चय प्रेम को, जिहि तें मिलैं गुपाल।
प्रेम प्रेम तें होय०।

[गाते और आँसू बहाते हुए राधा का प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र की रणभूमि

समय—संध्या

[चारों ओर मनुष्यों, हाथी, घोड़ों की लाशें, कटे सिर, हाथ, पैर आदि, टूटे रथ और आयुध पड़े हैं। सन्ध्या का मन्द प्रकाश फैला हुआ है। कृष्ण और अर्जुन खड़े दाहनी ओर देख रहे हैं।]

कृष्ण—दुर्योधन के संहार से आज इस महायुद्ध का अन्त और पाण्डवों की विजय हो जायगी।

अर्जुन—इन सबके कारण तुम हो, कृष्ण।

कृष्ण—(**अर्जुन की ओर सिर घुमाकर**) फिर वही, तुम कारण और मैं कारण; अरे, कोई कारण नहीं है; सब निमित्तमात्र हैं। यदि इतने उद्योग के पश्चात् भी कौरव ही जीत जाते तो भी मेरे हृदय की तो वही अवस्था रहती जो अब है। (**फिर सामने की ओर देखते हुए कुछ ठहरकर**) पर, देखो, अर्जुन, तुम्हारा अग्रज यह भीमसेन बड़ा मूर्ख है; अभी भी दुर्योधन से शास्त्रोक्त मल्ल-युद्ध कर रहा है। प्रकर्षण, आकर्षण, विकर्षण और अनुकर्षण-कौशल दिखा रहा है। इतना समझा दिया था कि दुर्योधन का उरुदण्ड बड़ा निर्बल है, एक ही गदा में काम होता था। (**कुछ ठहरकर**) दुर्योधन बलराम का शिष्य है, भीम इस प्रकार लड़ा तो हारकर ही रहेगा। (**कुछ ठहरकर**) अब हारने ही लगा तो देखो, उधर चकपकाकर देख रहा है। मैं फिर संकेत करता हूँ।

[कृष्ण पैर ऊँचाकर हाथ जाँघ पर मारते हैं। बलराम का प्रवेश।]

बलराम—कृष्ण! कृष्ण!

[कृष्ण बलराम का शब्द सुन उस ओर देख आगे बढ़ते हैं और उनके चरण-स्पर्श करते हैं। अर्जुन भी यही करते हैं।]

कृष्ण—आप कब पधारे, आर्य!

बलराम—अभी आ रहा हूँ। यह संकेत काहे का हो रहा था? दुर्योधन की भी हत्या करानी है क्या?

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) आप तो तीर्थ-यात्रा में हैं न, तात? इन सब प्रपंचों से आपको क्या प्रयोजन है?

बलराम—(**क्रोध से**) मुझसे एक सूत की हत्या हो गयी, इसका निवारण मैं तीर्थ-यात्रा करके करूँ और तुम यहाँ पूज्यपाद भीष्म पितामह, गुरुदेव द्रोण आदि को निःशस्त्र कराकर उनका संहार कराओ। दुर्योधन की भी एक प्रकार से हत्या करने के लिए भीम को संकेत करो।

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) आर्य, आपने सूत की हत्या क्रोध के आवेश में आकर की थी, उसका आपके हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ा। मैंने क्रोध या किसी प्रकार के आवेश में आकर कुछ नहीं किया। जो कुछ मैंने किया —धर्म, न्याय, सत्य की विजय के लिए कर्तव्य समझकर किया है और वह भी फलेच्छा-रहित हो; अतः मेरे हृदय पर किसी बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तात। जिनकी आप हत्या हुई कहते हैं, उनपर मेरा इतना ही प्रेम था, जितना पाण्डवों पर है। पितामह, गुरुदेव आदि का मुझपर भी अत्यधिक प्रेम था ।

बलराम—(**और भी क्रोध से**) धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम! वाह रे तुम्हारा धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम!

कृष्ण—(**दाहनी ओर देखते हुए बलराम का क्रोध शान्त न होते देख**) पर, आर्य, अब तो आपका क्रोध भी निरर्थक है! दुर्योधन को भी भीम ने पछाड़ डाला।

बलराम—(**अत्यंत क्रोध से**) दुर्योधन मेरा शिष्य है, इसलिए मैं उसका पक्ष लेकर तुमसे विवाद नहीं कर रहा था। मेरे पहुँचने के पूर्व ही कौरव तो नष्ट हो गये थे। एक दुर्योधन बचा था। उससे भी भीम का युद्ध हो रहा था। मैं चाहता, तो भी उसे कैसे बचाता? यदि वह बच भी जाता तो अकेला बचता, जैसा न बचता। पर, मुझे तुम्हारे ऊपर खेद होता है, कृष्ण, तुम्हारे ऊपर। युद्ध छोड़ने के पश्चात् भी तुमने इस युद्ध में जो अधर्म किये हैं, निःशस्त्र वीरों, गुरुजनों और ब्राह्मणों की जिस प्रकार हत्या करायी

हैं, उसपर मुझे खेद होता है। तुम्हारे जीवन में इस युद्ध का जो इतिहास लिखा जायगा, उसमें तुम्हारा ऐसा नीच चित्र खिंचेगा, ऐसा अन्याय-पूर्ण चित्र अंकित होगा, ऐसा अधर्ममय चित्र दिखेगा कि सारे यदुवंश पर उसका लांछन रहेगा। युद्ध तो समाप्त हो ही गया है। शान्ति के समय जब तुम अपनी इन कृतियों पर विचार करोगे, तब तुम्हें स्वयं खेद होगा, दुःख होगा, शोक होगा, क्लेश होगा, पश्चात्ताप होगा। जीवित रहते हुए तुम सदा इससे यंत्रणा पाओगे और मरने के पश्चात् भी तुम्हें सुख न मिलेगा। हा! निःशस्त्र गुरुजनों की हत्या! ब्राह्मणों की हत्या!

कृष्ण--(हँसकर) आर्य, इस समय आप मुझपर बहुत अधिक अप्रसन्न हैं और मुझे आपके इस भाषण पर इतनी हँसी आ रही है कि आप और अप्रसन्न हो जायँगे; पर, क्या करूँ, वह रुकती ही नहीं।

[कृष्ण जोर से हँस पड़ते हैं।]

यवनिका-पतन

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र में पाण्डवों के प्रासाद की दालान

समय—संध्या

[वही दालान है जो चौथे अंक के पहले दृश्य में थी। द्रौपदी और रुक्मिणी खड़ी हुई बातें कर रही हैं।]

द्रौपदी—**(आँसू भरकर)** क्या कहूँ, बार-बार हृदय भर-भर आता है। भैया के और तुम्हारे जाने के पश्चात् हमारे दिन कैसे निकलेंगे, सखि? और, अब जाने को दिन ही कितने रह गये हैं?

रुक्मिणी—क्या मुझे आपका स्मरण न आयेगा? पर, क्या करूँ, जाना तो पड़ेगा ही। फिर जब आप स्मरण करेंगी, तभी हम लोग आप की सेवा में उपस्थित हो जायँगे।

द्रौपदी—अब तक तो विपत्ति के दिन थे, इसलिए नित्य ही भैया का स्मरण करती थी, परन्तु सुख के दिनों में सुहृदों को कौन कष्ट देता है?

इस महासंग्राम में भी वे न होते तो न जाने, युद्ध में हमारी क्या दशा होती? उनके बिना धनंजय का मोह कौन नाश कर सकता था? कौन उनके बिना भीष्म, द्रोण, कर्ण, दु:शासन, दुर्योधन आदि महारथियों को निधन कराने की शक्ति रखता था? किसमें जयद्रथ को मरवा कौन्तेय की प्रतिज्ञा सत्य कराने की सामर्थ थी? कौन अभिमन्यु और मेरे पाँचों पुत्रों की हत्या के हमारे दु:ख को शान्त कराने का साहस करता और किसको, धर्मराज की ग्लानि को, जो उन्हें भीष्म, द्रोण आदि की ऊपर से दिखनेवाली नि:शस्त्र हत्याओं से हुई थी, निवारण करने में सफलता मिल सकती थी? फिर कौरव-पक्ष में भी कौन पूज्यपाद धृतराष्ट्र और गांधारी को सान्त्वना देने की सामर्थ रखता था? पर, सखि, अब तो सूर्य-ग्रहण होते ही परसों तुम और भैया चले जाओगे। अच्छा होता, यदि हम सदा ही विपत्ति में रहते।

[द्रौपदी के आँसू टपकते हैं। कृष्ण का प्रवेश। कृष्ण व्रज का श्रृंगार किये हुए हैं।]

कृष्ण—क्यों, कृष्णा, काहे का दुख हो रहा है, मेरे जाने का? संसार में दु:ख तो किसी बात का करना ही नहीं चाहिए। अरे, एक दिन तो यह संसार ही छोड़ना है, फिर मुझे तो जब बुलाओगी आ जाऊँगा।

द्रौपदी—**(आँसू पोंछते हुए)** तुम्हारा-सा हृदय सबका नहीं होता भैया। **(कृष्ण का श्रृंगार देख)** पर, यह आज कैसा अद्‌भुत वेश है?

कृष्ण—यह व्रज का वेश है, कृष्णा। व्रजवासी सूर्य-ग्रहण का स्नान करने कुरुक्षेत्र आये हैं। नंद बाबा, यशोदा मैया तथा अनेक गोप-गोपियों से तो मैं मिल आया हूँ, पर अब राधा से मिलना है। इस वेश बिना यदि मैं राधा से मिलूँगा तो उसे कष्ट होगा।

रुक्मिणी—एक बार जब मैंने इन्हें व्रज का वेश दिखाने को कहा

था, तब इन्होंने नहीं माना, पर उस आभीर-रमणी को तो अवश्य प्रसन्न करेंगे।

कृष्ण—तुम उसका वृत्त नहीं जानतीं, रुक्मिणी। मैं उसके निकट आज चालीस वर्ष से नहीं हूँ, परन्तु फिर भी, इस विश्व में मुझसे उतना प्रेम कोई नहीं करता, जितना वह करती है।

रुक्मिणी—मैं भी नहीं, नाथ?

कृष्ण—हाँ, तुम भी नहीं।

द्रौपदी—और मैं भी नहीं, भैया?

कृष्ण—तुम भी नहीं, कृष्णा।

द्रौपदी—तब तो मैं उनके दर्शन अवश्य करूँगी।

रुक्मिणी—और मैं भी।

कृष्ण—अच्छी बात है, तो चलो, मैं वहीं जा रहा हूँ। आज उन्होंने होली न होते हुए भी होलिकोत्सव मनाया है।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र का गंगा-तट

समय—संध्या

[गंगा के किनारे सघन वृक्ष हैं। गंगा का नीर और वृक्षों के

ऊपरी भाग सूर्य की सुनहरी किरणों में जगमगा रहे हैं। कृष्ण-रूप में राधा वंशी बजा रही हैं। गोप-गोपी गा रहे हैं। गुलाल उड़ रही है।]

ऋतु फागुन नियरानी, कोई पिय से मिलाओ, ऋतु फागुन नियरानी।
सोइ सुँदर जाके पिया ध्यान है, सोइ पिय के मनमानी।
खेलत फाग अंग नहीं मोड़ै, पियतम सों लिपटानी ॥
इक-इक सखियाँ खेल घर पहुँचीं, इक-इक कुल अरुझानी।
इक-इक नाम बिना बहकानी, हो रहि ऐंचातानी ॥
पिय को रूप कहा लगि बरनौं, रूपहि माँहिं समानी।
जो रँग रँगे सकल छबि छाके, तन-मन सभी भुलानी ॥
यों मत जान यहि रे फाग है, यह कछु अकथ कहानी।
होली राधा-माधव की तो, बिरले ही ने जानी ॥

[कृष्ण, द्रौपदी और रुक्मिणी का प्रवेश।]

कृष्ण—राधा, कृष्ण-रूपिणी राधा !

राधा—**(इधर-उधर दौड़, टटोलते-टटोलते कृष्ण को पाकर कृष्ण के गले में हाथ डाल)** कृष्ण, प्यारे कृष्ण, कृष्ण !

कृष्ण—नेत्र चले गये, राधा !

राधा—हाँ, चर्म-चक्षु चले गये, सखा, पर हृदय-चक्षु खुल गये हैं। लगभग पेंतीस वर्षों में यह अनुभव कर सकी, जिसे तुमने व्रज छोड़ने के समय कहा था—मैं ही कृष्ण हूँ, सारा विश्व कृष्ण है। सुख, सर्वत्र सुख है। तुमने मुझे ऐसा सुखी बना दिया, सुख का ऐसा पूर हृदय पर चढ़ा दिया कि मैं सारे संसार को सुख बाँट सकती हूँ।

कृष्ण—अनेक जन्म बीतने पर भी जो अनुभव नहीं होता, उसे तुम इतने शीघ्र कर सकीं।

राधा—क्यों, सखा, अभी तुम ग्यारह वर्ष के ही हो ?

कृष्ण—नहीं, सखि, मेरी अवस्था भी उतनी ही है जितनी तुम्हारी।

राधा—पर, मेरे हृदय-चक्षुओं से तो तुम उतने ही बड़े दिखते हो। वैसा ही सुन्दर बाल-स्वरूप है, सखा, वैसा ही; स्पर्श में भी तुम मुझे वैसे ही सुखद लगते हो, वैसे ही; वैसा ही प्यारा तुम्हारा स्वर है, वैसा ही; प्यारे सखा, बजाओ, मुरली बजाओ; एक बार फिर सुनूँगी। मेरे प्यारे कृष्ण! मेरे प्राणवल्लभ कृष्ण! मेरे सर्वस्व कृष्ण!

[कृष्ण मुरली बजाते हैं। राधा अपना मस्तक कृष्ण के कंधे से टिका लेती हैं। गोपियाँ गाती हैं और गुलाल छिड़कती हैं।]

राधा-माधव भेंट भई।
राधा-माधव, माधव-राधा, कीट भृंग गति हुइ सो गयी ।।
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रयी।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गयी ।।

[कुछ ही देर में राधा का मृत शरीर कृष्ण के चरणों में गिर पड़ता है।]

कृष्ण—देखा, कृष्णा, देखा, रुक्मिणी, यह अद्वितीय प्रेम है, यह प्रेम लक्षणा-भक्ति है।

द्रौपदी—**(आश्चर्य से)** हैं! मृत्यु हो गयी! मृत्यु हो गयी! अद्भुत है!

रुक्मिणी—अपूर्व है!

[गोप-गोपियों में हाहाकार होता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—द्वारका का मार्ग

समय—प्रातःकाल

[मार्ग, मथुरा के मार्ग के सामान ही है। अनेक नगरवासियों का प्रवेश।]

एक—भारी उत्सव हुआ, बन्धु, भारी उत्सव। हिमालय से कन्या-कुमारी तक और पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक, क्या हमारे राज्य में और क्या हमारे राज्य के बाहर, भगवान् श्रीकृष्ण के अस्सी वर्ष की इस जन्म-गाँठ का आज एक मास पूर्व से भारी उत्सव हुआ। हर वर्ष यह उत्सव बढ़ता ही जाता है।

दूसरा—आज ही तो जन्म-गाँठ है; आज उत्सव समाप्त हो जायगा।

तीसरा—आज सारा देश उन्हें परब्रह्म परमात्मा का पूर्णावतार मानता है और इसमें सन्देह ही क्या है?

चौथा—किसीने परब्रह्म परमात्मा को देखा है कि कोई उनका अवतार मान लिया जाय?

दूसरा—जो कुछ भी हो, परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि वे आज संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं और इसके कारण हैं।

चौथा—क्या?

दूसरा—बल और ज्ञान दोनों में अद्वितीय हैं, स्वार्थ से वे रहित हैं और उनका नैतिक चरित्र नितान्त शुद्ध है।

चौथा—मैं तो यह भी नहीं मानता। एक बक, एक वत्स, एक गर्धभ, एक सर्प मार डालने से, उस बक को चाहे बकासुर, वत्स को चाहे वत्सासुर, गर्धभ को चाहे केशी और सर्प को चाहे अघासुर बड़े बड़े नाम दिये जायँ, कोई बलशाली सिद्ध नहीं हो सकता। रहा ज्ञान, सो यदि धूर्त्तता का नाम ही ज्ञान हो, तब तो दूसरी बात है, नहीं तो ज्ञान तो कृष्ण में छू नहीं गया है और निस्वार्थता की तो बात ही छोड़ दो; कृष्ण से बड़ा स्वार्थी न आज तक जन्मा है और न भविष्य में जन्मेगा।

पहला—क्या बकता है?

चौथा—सत्य कहता हूँ, सत्य। जो कुछ उसने किया सब अपने उत्कर्ष के लिए। नीच कुल में उत्पन्न हुआ, पर उच्च कुल का बने बिना उत्कर्ष कैसे होता, अतः व्रज के माता-पिता को छोड़ अपने को वसुदेव-देवकी का पुत्र घोषित किया। उन बेचारे नंद-यशोदा को छोड़ा भी ऐसा कि वे रो-रोकर मरणासन्न हो गये, पर, एक बार भी उनकी सुधि न ली; इसलिए कि कहीं पुनः व्रज जाने के कारण जन-समुदाय यह न कह दे कि यथार्थ में नंद-यशोदा ही उसके पिता-माता हैं। स्वयं सिंहासनासीन तो हो नहीं सकता था, क्योंकि विप्लव हो जाता, अतः उग्रसेन के सदृश वृद्ध को सिंहासन पर बैठाया, जिसमें उग्रसेन उसके हाथ कठपुतली रहे और सारी राज-सत्ता उसकी मुट्ठी में। फिर कौरवों-पाण्डवों में युद्ध करा उनकी शक्ति का संहार करवा डाला, जिससे स्वयं ही सबसे अधिक शक्तिशाली रह सके। कहाँ तक उसके स्वार्थों को गिनाऊँ?

पहला—**(क्रोध से)** क्या मौत तेरे सिर पर नाचती है?

चौथा—(मुस्कराकर) पहले कृष्ण के नैतिक चरित्र का इतिहास और सुन लो तब मुझे मारना। **(उँगली पर अँगूठे को रख-रखकर गिनते हुए)**

जिसने पूतना की स्त्री-हत्या की, चोरी की, व्रज की गोपियों से व्यभिचार किया, जो रण में से भागा, जिसने दूसरे की पुत्री का हरण किया, अपनी भगिनी को भगवाया, अनेक विवाह किये, देश भर में सर्वश्रेष्ठ पद पाने के लिए युद्ध-भूमि में नहीं किन्तु पाण्डवों के राजसूय-यज्ञ की यज्ञशाला में शिशुपाल को मारा और कौरव-पाण्डवों के युद्ध में अधर्म से कौरव-पक्ष के निःशस्त्र महारथियों को मरवाया, वह नैतिक दृष्टि से सच्चरित्र ! **(ज़ोर से हँसकर)** ऐसा मनुष्य आज भगवान् का अवतार हो गया है ! संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष माना जाता है ! सारे देश में हर वर्ष उसकी जन्म-गाँठ मनायी जाती है ! सचमुच, संसार बड़ा निर्लज्ज है !

पहला—(क्रोध से) बस, बहुत हो गया, बहुत हो गया। यदि एक शब्द भी और कहा तो जीभ खींच लूँगा, जीभ।

दूसरा—(क्रोध से) मार-मारकर लेह्य बना डालूँगा।

तीसरा—(क्रोध से) भरता-सा भूँज डालूँगा, भरता-सा।

पाँचवाँ—(क्रोध से) चटनी-सी पीस डालूँगा, चटनी-सी।

चौथा—चाहे मारो, पीटो, लेह्य बनाओ, भरता भूँजो या चटनी पीसो, जो सच्ची बात होगी वह मैं तो अवश्य कहूँगा।

[कुछ मनुष्य उसे मारने पर उद्यत होते हैं। एक बढ़कर कहता है।]

छठवाँ—अरे, क्यों नीच के संग नीच होते हो।

सातवाँ—जाने दो जी, उसके मुँह में कीड़े पड़ेंगे।

आठवाँ—भगवान् की निन्दा से कौन अच्छा फल पा सकता है।

नवाँ—हाँ, सूर्य की ओर धूल डालने से अपने सिर पर ही गिरती है ?

चौथा—मैं भी ठकुर-सुहाती कहने लगूँ तो अच्छा लगूँ।

पहला—(**छठवें से**) देखो जी, इसे समझा दो, नहीं तो इस बार मारे बिना न छोडूँगा।

चौथा—(**क्रोध से**) किसीको किसीके संबन्ध में क्या अपना मत प्रकट करने का भी अधिकार नहीं है?

पहला—ऐसा मत! ऐसा मत! (**मारने को भुजाओं पर हाथ फेरता है।**)

चौथा—जैसा भी जिसका मत हो, अपना-अपना मत अपने पास रहेगा, उसे वह प्रकट भी करेगा; तुम कृष्ण को भगवान् समझते हो, सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानते हो, बल और ज्ञान में अद्वितीय कहते हो, स्वार्थ-रहित घोषित करते हो, सच्चरित्र बताते हो, मैं उसमें इनमें से एक भी सद्‌गुण नहीं मानता। मैं उसे धूर्त्त, स्वार्थी, महत्त्वाकांक्षी तथा इतना ही नहीं, स्त्री-हत्यारा, चोर, लम्पट, व्यभिचारी, कायर और विषयी मानता हूँ। अपना-अपना मत है।

पहला—बस, सहन-शक्ति की अब सीमा हो चुकी।

[चौथे मनुष्य से लड़ने को भिड़ जाता है। शेष कुछ लोग भी चौथे को मारते हैं। कई लोग उसे बचाते हैं और पहले और चौथे को अलग अलग करते हैं।]

छठवाँ—(**पहले तथा अन्य व्यक्तियों से**) क्या विक्षिप्त के संग विक्षिप्त होना पड़ता है? कहाँ हम लोग प्रभास-क्षेत्र चल रहे थे और कहाँ यह दूसरी लीला करने लगे। द्वारका में सचमुच आजकल इस प्रकार के बहुत झगड़े होने लगे हैं। चलो-चलो, शीघ्र प्रभास पर पहुँचना है, नहीं तो उत्सव का स्नान ही समाप्त हो जायगा। सारा देश उलट पड़ा है, क्या हम ऐसे मंदभागी हैं कि इतने निकट रहने पर भी न पहुँचेंगे?

[छठवें के संग सब जाते हैं, पर चौथा नहीं जाता। वह उन्हें घूरता है और दूसरी ओर चला जाता है। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—द्वारका में कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[वही दालान है जो तीसरे अंक के पहले दृश्य में थी। कृष्ण खड़े हैं। उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की होने पर भी मुख और शरीर वैसा ही है। वस्त्र श्वेत और शरीर भूषणों से रहित है। सिर खुला है। वृद्ध उद्धव का प्रवेश। उद्धव के बाल श्वेत हो गये हैं। मुख पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं।]

उद्धव—बधाई है, द्वारकाधीश, बधाई है, आपके अस्सी वर्ष के जन्म-दिवस की बधाई है। जन्म-गाँठ का उत्सव इस राज्य में ही नहीं, किन्तु हिमालय से समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वी पर हुआ है। एक स्वर से आपका जयघोष हो रहा है। भगवन्, आपके स्वार्थ और फलेच्छा-रहित कार्यों के कारण, आप यद्यपि पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा नहीं हैं, पर, सारे मानव-समाज के हृदय-सम्राट् हो गये हैं।

कृष्ण—(मुस्कराकर) उद्धव, आज तो तुमने भी एक साँस में मुझे सचमुच ही भगवान् समझ मेरी स्तुति कर डाली।

उद्धव—और भगवान् कैसे होते हैं, नाथ? मैं ही क्या, सारा संसार आपको परब्रह्म परमात्मा का पूर्णावतार मानता है।

कृष्ण—(मुस्कराकर) ऐसा नहीं है, उद्धव, मेरे कई निन्दक भी हैं;

आज हैं, इतना ही नहीं, सदा रहेंगे, क्योंकि कौनसा कार्य किस उद्देश से किया जाता है यह लोग बड़ी कठिनता से समझ पाते हैं। कई गूढ़ कार्य तो ऐसे होते हैं कि ऊपर से वे निन्दनीय दिखते हैं और उनका भीतरी रहस्य साधारण जन-समुदाय की समझ में नहीं आता। पर, उद्धव, इन सब बातों की मुझे चिन्ता नहीं, मेरी आत्मा पूर्णतः सुखी है।

उद्धव—ऐसे निन्दकों के मुख आप ही काले होंगे, भगवन्, इतना ही नहीं, वे स्वयं ही अपने अन्तःकरण में कष्ट पाते रहेंगे।

कृष्ण—पर, उद्धव, सबके मुख सदा स्वच्छ और सबके हृदय सदा सुखी रहने की ही अभिलाषा करनी चाहिए।

उद्धव—**(कुछ लज्जित हो)** चाहिए तो ऐसा ही, पर, मनुष्य अपनी कृतियों के कारण दुखी हो ही जाता है। जो कुछ भी हो, हम लोग तो सदा इसीके इच्छुक रहते हैं कि अभी आप अनेक वर्ष इस भूतल पर विराजें और जगत् का कल्याण करें।

कृष्ण—**(मुस्कराकर)** हर मनुष्य अपने निश्चित कार्य के लिए ही जगत् में आता है और वह कार्य हो चुकने के पश्चात् एक क्षण भी नहीं रह सकता। अब तो मुझे संसार में अपने रहने का कोई प्रयोजन नहीं दिखता। इस समय दुष्टों एवं अधर्म और अन्याय का नाश हो चुका है; धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम की विजय हो चुकी है। उत्तर दिशा में इतने दीर्घ काल से जो सुर और असुरों का कलह चल रहा था, वह भी सम्राट् बाण की उदारता के कारण अनिरुद्ध और उषा के विवाह से समाप्त हो गया; सुरों को उनका राज्य मिल गया एवं सुरेश और असुरेश में भी स्थायी संधि तथा गाढ़ मित्रता हो चुकी है। मेरा अब कोई कार्य तो शेष नहीं दिखता; हाँ, इस देश के रहनेवाले यादव अवश्य दिनों दिन मदमत्त होते जा रहे हैं।

उद्धव—(**घबड़ाकर**) तब क्या इनका भी अनिष्ट होगा, भगवन् ?

कृष्ण—जो मदोन्मत्त हो संसार के दुःखों का कारण होते हैं, उनका नाश अवश्यंभावी है।

उद्धव—परन्तु, प्रभो, आप सदृश उनका रक्षक होने पर भी ?

कृष्ण—मैं धर्म, न्याय और सत्य की रक्षा कर सकता हूँ; अधर्म, अन्याय और असत्य की रक्षा करने जाऊँ तो स्वयं भी उसीके संग नष्ट हो जाऊँ।

उद्धव—परन्तु, नाथ, यादवों के सुधार का प्रयत्न कीजिए।

कृष्ण—सो तो कर ही रहा हूँ, पर, वे सुधर नहीं रहे हैं। जब बिगड़ी हुई वस्तु सुधार के परे चली जाती है, तब उसका नाश ही होता है। मुझे तो यदुकुल का कल्याण नहीं दिखता।

[वृद्ध बलराम का प्रवेश। उनके केश भी श्वेत हो गये हैं और उनके मुख पर भी झुर्रियाँ दिखती हैं।]

बलराम—प्रभास-क्षेत्र की यात्रा का समय हो गया, कृष्ण, इस वर्ष तो तुम्हारे जन्मोत्सव के कारण सारा देश प्रभास की ओर उलट पड़ा है। सभी स्नान करने और तुम्हारे दीर्घजीवी होने की मंगल-प्रार्थना करने जा रहे हैं। तुम तो, बन्धु, लोगों की दृष्टि में सचमुच भगवान् के पूर्णावतार हो गये हो।

कृष्ण—सो तो मैं नहीं जानता, आर्य, मेरी दृष्टि में तो सारा विश्व ही भगवान् है, और यदि इसका पूर्ण अनुभव ही भगवान् का पूर्णावतार होना है, तो मुझे आप या कोई भी भगवान् का पूर्णावतार मान सकते हैं। पर, चलिए, प्रभास पर अवश्य चलूँगा।

[तीनों का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र का एक वन-मार्ग

समय—संध्या

[दो व्याधों का धनुष-बाण लिए हुए प्रवेश।]

एक—ऐसा युद्ध कहीं देखा, बन्धु, कभी सुना भी? पशु भी इस प्रकार तो नहीं लड़ते।

दूसरा—मदिरा से मदमत्त थे। मत्तता में कुछ सूझता है?

पहला—ऐसा मद कि पिता-पुत्र, भ्राता-भ्राता, ससुर-जामात्र, मित्र-मित्र, आपस में लड़कर मर गये और जब आयुध नहीं बचे तो ऐरक घास से लड़े।

दूसरा—भयानक युद्ध हुआ, भयानक! कदाचित् ही कोई यादव बचा हो! सभी समाप्त हो गये! भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-गाँठ के उत्सव का यह परिणाम! **(लंबी साँस लेता है। कुछ ठहरकर दाहनी ओर देख)** देखना, वह दूर पर क्या दिखता है?

पहला—**(देखकर)** मृग है मृग। दिन भर में आज कुछ न मिला। ऐसा बाण छोड़ो कि जिससे वह एक ही बाण का हो।

दूसरा—लो, अभी लो

[बाण छोड़ता है। दोनों जिस ओर बाण छोड़ा जाता है, उसी ओर दौड़ते हैं। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र की एक पहाड़ी

समय—संध्या

[बलराम और उद्धव का शीघ्रता से प्रवेश ।]

बलराम—(रोते हुए) हाय ! हाय ! सब समाप्त हो गया, सब समाप्त हो गया ! कृष्ण अब कितनी देर के, उद्धव! यादव लड़कर मर गये; कृष्ण उस व्याध के बाण के आखेट हुए ! अरे ! यदि वे ही रहते तो सब कुछ था, पर गया, सब कुछ गया ! हा ! कृष्ण की जन्म-गाँठ के उत्सव का यह परिणाम होना था !

उद्धव—(रोते हुए) महाराज, भगवान् कृष्ण ने कहा था कि यादव बड़े मदमत्त हो गये हैं; इनका अब कल्याण नहीं दिखता।

बलराम—मद यादवों को अवश्य हो गया था, पर यदि वारुणी न पी होती, तो यह दशा न होती। पर, बन्धु, कृष्ण की जन्म-गाँठ का उत्सव था। मुझे ही वारुणी बड़ी प्रिय है, मैंने ही आग्रह से सबों को पिलायी। हा ! व्रज के जीवन से लेकर आज तक की सारी घटनाएँ आज मेरे नेत्रों के सम्मुख घूम रही हैं । हम सबके जाने का समय ही था, पर, पुत्र-पौत्रादि भी नष्ट हो गये।

[नेपथ्य में मुरली की ध्वनि सुनायी पड़ती है ।]

बलराम—यह लो, उद्धव, यह लो। बन्धु-बांधव, पुत्र-पौत्रों के नष्ट होने पर भी, स्वयं मरण के समीप होने पर भी, कृष्ण की मुरली ही बज रही है! महा अद्भुत हृदय है !

उद्धव---चलिए, महाराज, इस समय उनके निकट चलना चाहिए।

बलराम---नहीं, नहीं, उद्धव, मेरा साहस उनके निकट जाने का नहीं है। मुझे अब समुद्र में ही शांति मिलेगी, और कहीं नहीं, और कहीं नहीं। (**शीघ्रता से प्रस्थान।**)

उद्धव---महाराज! महाराज!

[**पीछे-पीछे दौड़ते हैं। परदा उठता है।**]

सातवाँ दृश्य

स्थान---प्रभास-क्षेत्र पर समुद्र का किनारा

समय---सन्ध्या

[**समुद्र और क्षितिज मिला हुआ-सा दिखता है। समुद्र में लहरें उठ रही हैं और क्षितिज पर बादल। सूर्य अस्त हो रहा है। आसपास के पर्वत, झरने और वृक्ष उसकी किरणों से चमक रहे हैं। कभी-कभी बादलों में बिजली चमक जाती है। इधर-उधर अनेक लाशें और मनुष्य-शरीर के कटे हुए अवयव पड़े हैं। एक वृक्ष के नीचे कृष्ण पत्थर से टिके, आधे लेटे हुए मुरली बजा रहे हैं, उनके पैर से रक्त बह रहा है। अधीर उद्धव का प्रवेश।**]

उद्धव---(**निकट जाकर ज़ोर से रो पड़ते हैं**) भगवन्! भगवन्!

कृष्ण---(**मुरली हटाते हुए मुस्कराकर**) कौन, उद्धव? क्यों, रोते क्यों हो? यादवों के नष्ट होने का रुदन है अथवा मेरे वियोग का? रोने का तो कोई कारण नहीं है।

उद्धव—महाराज, क्या रहा ? कुछ नहीं रह गया, सब गया, भगवन्, सब गया। यादव नष्ट हो गये, वीरवर बलराम ने आपकी यह दशा देख समुद्र में समाधि ले ली और आप जाने को प्रस्तुत हैं, नाथ। यह मंद भाग उद्धव ही रह गया।

कृष्ण—(**मुस्कराते हुए**) जिसका कार्य समाप्त हो जाता है, उसे जाना ही पड़ता है, जिसका कार्य शेष रहता है, उसे रहना। मैंने तुमसे कहा ही था कि मदोन्मत्त यादवों का मैं कल्याण नहीं देखता, यह भी कहा था कि मेरा भी कोई कार्य शेष नहीं दिखता, आर्य का भी कदाचित् कोई कार्य शेष न था, पर अभी तुम्हारी आवश्यकता जान पड़ती है। तुम्हें बचे हुए यादवों को मथुरा ले जाना है, क्योंकि प्राकृतिक अवस्थाओं के कारण द्वारका की भी कुशलता नहीं दिखती, फिर मेरे जाने के दुःख में, संसार को, ज्ञान-द्वारा तुम्हीं सान्त्वना दे सकते हो। अभी तुम्हारा कार्य है, उद्धव।

उद्धव—(**रोते हुए**) परन्तु, भगवन्, मैं सदा आपके संग रहा, आपका अनुचर रहा, आपके बिना कैसे रहूँगा ?

कृष्ण—यदि इतने दीर्घ काल तक मेरे संग रहने पर भी आज तुम्हें यह मोह उत्पन्न हो रहा है, तो मेरे संग रहने से तुम्हें लाभ ही क्या हुआ ? जब तुम्हारा कर्तव्य समाप्त हो चुकेगा, तब तुम चाहोगे, तो भी इस भूतल पर इस स्वरूप में न रह सकोगे। जो सामने कर्तव्य आये, उसे निष्काम हो करते जाओ। (**कुछ ठहरकर**) अच्छा, उद्धव, अब जाता हूँ। देखते हो, सामने का विशाल आकाश-मण्डल और विशाल समुद्र; इसी आकाश में मैं भी व्याप्त हो जाऊँगा, इसी सागर की तरंगों में मैं भी विचरण करूँगा। देखते हो, उठते हुए बादल; इन्हीं बादलों के संग मैं भी क्षितिज पर उठूँगा। देखते हो, बिजली, इसीके संग मैं भी चमकूँगा।

देखते हो, सूर्य की किरणें, इनके संग में भी आलोकित होऊँगा। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में झलका करूँगा और तारों की दमक में दमका करूँगा। पर्वतों, नदियों, झरनों, वृक्षों, लताओं में व्याप्त हो जाऊँगा, और इन सब के परे भी जो कुछ इस सारे विश्व में दर्शनीय तथा अदर्शनीय, वर्णनीय तथा अवर्णनीय है, मैं समस्त में प्रविष्ट हो जाऊँगा। सृष्टि के परे भी यदि कुछ होगा तो वहाँ भी मैं होऊँगा। मुझे जाने में कोई क्लेश नहीं हो रहा है, कोई नहीं। इस वाण से शरीर को जो कष्ट मिल रहा है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, कोई नहीं। बड़े सुख, बड़े उल्लास, बड़े आनंद से मैं जा रहा हूँ। जाता हूँ, उद्धव, जाता हूँ, ऐसे स्थान को जाता हूँ, जहाँ धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, प्रेम-द्वेष, पाप-पुण्य ऐसा द्वंद्व नहीं है; जहाँ सभी निर्द्वंद्व है, एक है। इस मुरली के स्वरों के साथ ही जाता हूँ।

[कृष्ण नेत्र बंदकर मुरली बजाते हैं। कुछ देर में मुरली बंद हो जाती है।]

यवनिका-पतन

समाप्त

श्रीः

धर्मोंजय

वा

वीरविजय नाटक ।



महल सूत्रधार ।

सूत्रधार— वंदना ।

जय जय जय शिवनायक, जय श्रीब्रह्म सुरेश ।
जय त्रिशला सुत सिद्धारथ नृप के कुल-कमल दिनेश ॥
जयति जयति जग-ईश कृपानिधि वर्द्धमान विश्वेश ।
जय जय गुरुदेव तुम्हीं मम इष्टदेव हृदयेश ॥
श्याद बाद शतभंग त्रिभंगी जिन निज मुख उच्चारी ।
विपत विदारी, हो सुखकारी कुंजबिहारी, तुमपर वारी ॥

जय०—

सूत्रधार—(दर्शकों की ओर देख कर) अहा ! आज का दिन क्या ही शुभ समागम का है, मानो आनन्द की लहरें चारों तरफ से उमड़ कर उपस्थित सभा-सज्जनों का स्वागत कर रही है। अतः इस रंगभूमि को इतने गुणवानों तथा बुद्धिमानों

हर्ष

श्रीः

धर्मोजय

वा

वीरविजय नाटक ।



महल सूत्रधार ।

सूत्रधार— वंदना ।

जय जय जय शिवनायक, जय श्रीब्रह्म सुरेश ।
जय त्रिशला सुत सिद्धारथ नृप के कुल-कमल दिनेश ॥
जयति जयति जग-ईश कृपानिधि वर्द्धमान विश्वेश ।
जय जय गुरुदेव तुम्हीं मम इष्टदेव हृदयेश ॥
श्याद बाद शतभंग त्रिभंगी जिन निज मुख उच्चारी ।
विपत विदारी, हो सुखकारी कुंजबिहारी, तुमपर वारी ॥

जय०—

सूत्रधार—(दर्शकों की ओर देख कर) अहा ! आज का दिन क्या ही शुभ समागम का है, मानो आनन्द की लहरें चारो तरफ से उमड़ कर उपस्थित सभा-सज्जनों का स्वागत कर रही है । अतः इस रंगभूमि को इतने गुणवानों तथा बुद्धिमानों

निवेदन

यह नाटक मेरी तीसरी जेल-यात्रा के समय नागपुर-जेल में लिखा गया है। मैंने इस बात पर ध्यान रखने का प्रयत्न किया है कि सम्राट् हर्ष के चरित्र का जैसा वर्णन इतिहासकारों ने किया है, मेरा वर्णन उसके विपरीत न हो। सम्राट् हर्ष भारत के उन सम्राटों में हैं जिनका, वीरता और सच्चरित्रता दोनों ही दृष्टियों से, इतिहास में सर्वोच्च स्थान है। महाकवि बाण और चीनी-यात्री यानचांग दोनों ने, उनके चरित्र का जो वर्णन किया है उससे पद-पद पर उनके इन महत् गुणों का परिचय मिलता है।

हर्ष विवाहित थे या अविवाहित इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मत-भेद है। महाकवि बाण के 'हर्ष-चरित' में यद्यपि हर्ष की बहन राज्यश्री के विवाह का विस्तार से वर्णन है तथापि हर्ष के विवाह के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं। यानचांग ने भी उनके विवाह अथवा उनकी रानी का कोई उल्लेख नहीं किया। एक स्थान पर उन्होंने यह अवश्य लिखा है कि हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह वल्लभी-नरेश सेनापति ध्रुवसेन से किया था। मैंने हर्ष को अविवाहित ही माना है और उनकी इस पुत्री को उनकी पालित पुत्री।

इतिहासकारों ने यह भी माना है कि हर्ष ने अपनी बहन राज्यश्री के साथ आर्यावर्त का राज्य किया। नाटक में सौन्दर्य लाने के लिए मैंने राज्यश्री का अभिषेक कराया है।

हर्ष का शिव, सूर्य एवं बुद्ध का संयुक्त-पूजन, सर्वस्व-दान तथा कुछ धर्मान्ध ब्राह्मणों-द्वारा हर्ष की हत्या का यत्न एवं इस संयुक्त-पूजन के

समय मंडप में अग्नि लगाया जाना ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। हाँ, शिव, सूर्य एवं बुद्ध का संयुक्त-पूजन कान्यकुब्ज में तथा सर्वस्व-दान प्रयाग में होता था। सुविधा और सौंदर्य-वृद्धि के विचार से मैंने इन दोनों घटनाओं का एकीकरण कर दिया है।

हर्ष और शशांक नरेन्द्रगुप्त का संघर्ष तथा हर्ष के मित्र माधवगुप्त का गुप्तवंशज होना ये भी ऐतिहासिक बातें हैं। माधवगुप्त का पुत्र आदित्यसेन भी ऐतिहासिक व्यक्ति है। हर्ष का आर्य और बौद्ध-धर्म पर समान रूप से प्रेम तथा शशांक नरेन्द्रगुप्त की आर्य-धर्म में कट्टरता, बौद्ध-धर्म से द्वेष और बुद्ध-गया के बोधि-वृक्ष को कटवाना ये बातें भी इतिहास-सिद्ध हैं। हाँ, वर्द्धन और गुप्त-वंश के संघर्ष का जो स्वरूप नाटक में दिया गया है उसके लिए मैं ज़िम्मेदार हूँ।

राज्यश्री की सखी अलका को छोड़कर शेष सब पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। हर्ष की पालित पुत्री और माधवगुप्त की स्त्री के नाम ज्ञात न हो सकने के कारण मैंने उनके नाम जयमाला और शैलबाला रख दिये हैं।

इस प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम में परिवर्तन न करते हुए भी, सुविधा और सौंदर्य के लिए, मैंने उन्हें आगे-पीछे करने की स्वतंत्रता ली है, परन्तु यथाशक्य इससे भी बचने का प्रयत्न किया है।

मेरा मत है कि नाटक, उपन्यास या कहानी लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी भी पुरानी कथा को तोड़-मरोड़कर उसे एक नयी कथा ही बना दे। हाँ, कथा का अर्थ (Interpretation) वह अवश्य अपने मतानुसार कर सकता है। मैंने इस नाटक के लिखने में यही नीति अपने समक्ष रखी है तथा सर्वत्र इसका इसी प्रकार पालन किया है।

प्राचीनता की झलक लाने के लिए मैंने सम्बोधन प्राचीन काल के ही रखे हैं; साथ ही, प्राचीनता की यही झलक लाने के लिए भाषा में

अरबी और फ़ारसी शब्दों से बचने का यत्न किया है। भाव, दृश्य और वेश-भूषा भी प्राचीन काल के अनुरूप रहे इसका भी ध्यान रखा है।

इस नाटक के पद्यों में दो पद्यों को छोड़कर शेष मेरे लिखे हुए हैं। लकड़ी उठानेवाली स्त्रियों-द्वारा गाया हुआ पद्य कविता-कौमुदी के पाँचवें भाग ग्राम-गीत से लिया गया है और दूसरे अंक के पहले दृश्य में, नेपथ्य में गाया हुआ गीत मेरी पुत्री रत्नकुमारी का लिखा हुआ है।

इस नाटक के लिखने में, निम्नलिखित ग्रन्थों से सहायता ली गयी है—(१) विन्सेन्ट स्मिथ-द्वारा लिखित 'हिस्ट्री ऑफ़ एन्शेण्ट इण्डिया', (२) सी० वी० वैद्य-द्वारा लिखित 'हिस्ट्री ऑफ़ मेडिवल हिन्दू-इण्डिया', (३) महाकवि बाण-द्वारा लिखित 'हर्ष-चरित' और (४) चीनी-यात्री यानचांग का, थॉमस वाल्टर्स-द्वारा संपादित, यात्रा-वर्णन।

गोविन्ददास

नाटक के मुख्य पात्र, स्थान

पुरुष—

(१) **शिलादित्य**—स्थाण्वीश्वर का राजकुमार, पीछे से हर्षवर्द्धन नाम धारण कर स्थाण्वीश्वर का राजा

(२) **माधवगुप्त**—शिलादित्य का मित्र

(३) **अवन्ति**—स्थाण्वीश्वर का महामंत्री

(४) **सिंहनाद**—स्थाण्वीश्वर का महासेनापति

(५) **भण्डि**—स्थाण्वीश्वर का सेनापति, पीछे से कान्यकुब्ज का महासेनापति

(६) **आदित्यसेन**—माधवगुप्त का पुत्र

(७) **शशांक नरेन्द्रगुप्त**—गौड़ का राजा

(८) **यशोधवलदेव**—गौड़ का सेनापति

(९) **यानचांग**—चीनी-यात्री

स्त्री—

(१) **राज्यश्री**—शिलादित्य की बहन, पीछे से उत्तर भारत की सम्राज्ञी

(२) **अलका**—राज्यश्री की सखी

(३) **जयमाला**—शिलादित्य की पालित पुत्री

(४) **शैलबाला**—माधवगुप्त की स्त्री, आदित्यसेन की माता

अन्य पात्र—

स्थाण्वीश्वर की राजसभा के सदस्य और सैनिक, विन्ध्याटवी के राजा और सैनिक, कान्यकुब्ज के ब्राह्मण, पुरवासी और बौद्ध-भिक्षु, नालन्द के अध्यापक और विद्यार्थी, महाधर्माध्यक्ष, प्रतिहारी इत्यादि

स्थान—

स्थाण्वीश्वर, विन्ध्याटवी, कान्यकुब्ज, कर्णसुवर्ण

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—स्थाण्वीश्वर के राज-प्रासाद में राज-सभा-कक्ष

समय—सन्ध्या

[विशाल कक्ष है। कक्ष की छत स्थूल पाषाण-स्तंभों पर स्थित है। प्रत्येक स्तंभ के नीचे गोल कमलाकार कुंभी (चौकी) और ऊपर भरणी (टोड़ी) है। प्रत्येक भरणी में दोनों ओर पाषाण की एक-एक गज-शुण्ड बनी है, जो ऊपर की ओर उठकर छत को स्पर्श किये हुए है। कुंभियों, भरणियों और स्तंभों पर खुदाव का काम है। तीन ओर भित्ति (दीवाल) हैं। छत और भित्ति सुन्दर रंगों से रँगी हुई हैं, जिनपर चित्रावली है। दाहनी और बाँयीं ओर की भित्ति के सामने के सिरों पर एक-एक द्वार है। द्वार खुले हुए हैं और उनमें से बाहर के उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है, जो डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों से रँग रहा है। द्वारों की चौखटों और कपाटों की लकड़ियों में भी खुदाव का काम है। कक्ष की पृथ्वी पर हरित रंग की बिछावन बिछी हुई है और उसपर तीन पंक्तियों में दस आसंदियाँ (चौकियाँ) रखी हैं; सामने की पंक्ति में चार और

उसके दोनों ओर की दो पंक्तियों में तीन-तीन। आसंदियाँ काष्ठ की हैं और उनपर गद्दियाँ बिछी हैं, जिनपर तकिये लगे हैं। गद्दियाँ और तकिये श्वेत वस्त्र से ढँके हुए हैं। सामने की पंक्ति के बीच की दो आसंदियों पर अवन्ति और सिंहनाद बैठे हुए हैं। अवन्ति की अवस्था लगभग ५५ वर्ष की है। वह गौर वर्ण का ऊँचा, किन्तु इकहरे शरीर का मनुष्य है। सिर, मूछों और दाढ़ी के लम्बे बाल आधे श्वेत हो गये हैं। श्वेत रंग का उत्तरीय (दुपट्टा) और अधोवस्त्र (धोती), इस प्रकार दो वस्त्र, धारण किये हैं। इनकी किनार सुनहरी है। सिर खुला है और मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड है। कानों में कुंडल, गले में हार, भुजाओं पर केयूर, हाथों में वलय और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ धारण किये हुए हैं। सब भूषण रत्न-जटित हैं। पैरों की काष्ठ-पादुका आसंदी के नीचे उतरी हुई रखी है। सिंहनाद की अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। वह गेहुँएँ रंग का ऊँचा और गठे हुए शरीर का कुछ मोटा व्यक्ति है। सिर, मूँछों और गलमुच्छों—सबके बाल काले हैं। उसके वस्त्राभूषण भी अवन्ति के सदृश ही हैं। सिर खुला है और मस्तक पर वह भी त्रिपुण्ड लगाए है। वह आयुध भी धारण किये है। बाँयें कन्धे पर धनुष, पीठ पर तरकश और कमर में खड्ग है। शेष आठ आसंदियों पर राज-सभा के अन्य सदस्य बैठे हैं। सबकी अवस्था ४० और ४५ वर्ष के बीच में है और सबकी वेश-भूषा अवन्ति और सिंहनाद के समान है, परन्तु सभी आयुधों से रहित हैं। किसीका वर्ण गौर है और किसीका गेहुँआँ। किसीके केवल मूँछें हैं, किसीके गलमुच्छे और किसी-के दाढ़ी भी। सबकी काष्ठ-पादुकाएँ आसंदियों के नीचे उतरी हुई रखी हैं। सबके मुख कुछ नीचे झुके हुए हैं और उनपर गहरी चिन्ता झलक रही है। सभा-कक्ष में निस्तब्धता छायी हुई है।]

अवन्ति—(कुछ समय पश्चात् सिर उठाते हुए धीरे-धीरे) तो इस समय गौड़ाधिपति शशांक नरेन्द्रगुप्त से बदला लेने के विचार को

छोड़कर केवल राज्य-रक्षा की ओर लक्ष रखा जाय, यही राज-सभा का निर्णय है?

एक सदस्य—(**सिर उठाकर**) हाँ, महामात्य, और तो कोई उपाय नहीं दिखता।

अवन्ति—परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन के कैलाश-वास होते ही स्थाण्वीश्वर के राज्यवंश और राज्य की यह दशा होगी कि हम परमभट्टारक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के हत्यारे शशांक से बदला तक न ले सकेंगे, यह मैं स्वप्न में भी न सोच सकता था। स्थाण्वीश्वर के भूत-काल की शक्ति और वैभव की यह दुर्दशा!

सिंहनाद—(**सिर ऊँचाकर**) यदि हम लोग राजपुत्र शिलादित्य को किसी प्रकार सिंहासन ग्रहण करा सकें तो भविष्य के पुनः उज्ज्वल होने में, कम से कम मुझे सन्देह नहीं है। महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन ने सिंहासनासीन होकर मालवेश देवगुप्त से कान्यकुब्जाधिपति के वध करने एवं राजपुत्री राज्यश्री के वैधव्य का तथा उन्हें बन्दी बनाने का तत्काल बदला लिया ही था, महामात्य। यह तो शशांक ने छल से परमभट्टारक की हत्या की, अन्यथा उन्होंने समस्त भारत के दिग्विजय करने के लिए प्रस्थान ही किया था।

अवन्ति—आप ठीक कहते हैं, महाबलाधिकृत। यदि हम राजपुत्र शिलादित्य को सिंहासन पर बिठा सकें तो अभी भी सब कुछ सम्भव है, परन्तु उनका सिंहासन ग्रहण करना ही तो सबसे बड़ी कठिनाई है। महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वध का समाचार पाते ही उन्हें सिंहासनासीन होना था। राज्यसिंहासन तो क्षणमात्र भी रिक्त नहीं रह सकता, परन्तु वे स्वीकार कहाँ कर रहे हैं? जब महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के सदृश सहोदर भ्राता के नीचतापूर्वक वध होने और राजपुत्री राज्यश्री-सदृश

सहोदरा भगिनी के बन्धन-मुक्त न होने पर भी राजपुत्र सिंहासन ग्रहण न करने की अपनी टेक पर स्थिर हैं तब यह आशा कैसे की जा सकती है कि भविष्य में वे सिंहासन ग्रहण करने के लिए तैयार हो जायँगे।

सिंहनाद—यद्यपि मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता, किन्तु राजपुत्र का सिंहासन ग्रहण करना कदाचित् अब सम्भव हो सकेगा।

अवन्ति—**(उत्सुकता से)** यह कैसे, महाबलाधिकृत ?

एक सदस्य—यही यदि हो जाय तो क्या पूछना है ?

दूसरा सदस्य—अवश्य।

अन्य कुछ सदस्य—**(एक साथ)** निस्सन्देह, निस्सन्देह।

सिंहनाद—बात यह है कि महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वध और राजपुत्री राज्यश्री के बन्धन का राजपुत्र के हृदय पर कोई प्रभाव न पड़ा हो, यह बात नहीं है।

अवन्ति—प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक बात है, महाबलाधिकृत। सहोदर भ्राता के इस प्रकार वध और सहोदरा भगिनी के इस प्रकार वैधव्य और बन्दी होने का प्रभाव भला क्योंकर न पड़ता ? परन्तु इन प्रभावों की अपेक्षा बौद्ध-धर्म तथा कुछ विचित्र विचारों का प्रभाव उनके हृदय पर कहीं अधिक है।

एक सदस्य—हाँ, अब तो राजवंशजों के सदृश वेश-भूषा तक उन्होंने परित्याग कर दी है। बौद्ध-भिक्षुओं के सदृश पीत चीवर धारण किये हुए, बिना किसी आभूषण और आयुध के, बिना परिचारकों और वाहन के, वे यत्र-तत्र घूमा करते हैं।

सिंहनाद—परन्तु, मुझे विश्वसनीय सूत्र से पता चला है कि इधर

एक-दो दिवसों से उनकी मानसिक अवस्था में परिवर्तन हो रहा है।

अवन्ति—यह पता आपको किससे लगा?

सिंहनाद—उनके परम मित्र कुमारामात्य माधवगुप्त से।

[माधवगुप्त का नाम सुनकर सब लोग चौंक पड़ते हैं। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है और सब लोग विचारमग्न हो जाते हैं।]

अवन्ति—**(कुछ देर पश्चात् धीरे-धीरे)** देखिए महाबलाधिकृत, राजसभा के सम्मुख तो सब बातें स्पष्ट कही जा सकती हैं, अतः मैं माधवगुप्त के सम्बन्ध में स्पष्ट ही कहूँगा, क्योंकि किसीके कथन पर विचार करने के पूर्व कहनेवाला कौन है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

सिंहनाद—हाँ, हाँ, अवश्य।

अवन्ति—माधवगुप्त की ज्ञान-शक्ति उनकी अवस्था से कहीं आगे चलती है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु उनपर मेरा थोड़ा भी विश्वास नहीं है, यह बात, कम से कम, राज-सभा के अधिकांश सभ्य जानते हैं। जिस समय से परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन ने मालव देश पर विजय कर उन्हें और उनके भ्राता कुमारगुप्त को मालव देश से लाकर राजपुत्रों के संग रखा उसी समय से मैं इस सहवास को उचित नहीं समझता। मगध के प्राचीन गुप्त-वंशज, चाहे वे मालव देश में राज्य करते हों और चाहे गौड़ में, पराजित होकर कहाँ तक वर्द्धन-वंश के शुभचिन्तक रहेंगे यह विचारणीय है, क्योंकि मौखरि वंश और गुप्त-वंश की परम्परागत शत्रुता है और मौखरि तथा वर्द्धन-वंश का निकट का सम्बन्ध।

सिंहनाद—परन्तु, कुमारगुप्त और माधवगुप्त अपने ज्येष्ठ भ्राता मालवेश देवगुप्त के वध होने पर भी वर्द्धनों के शुभचिन्तक रहे और

माधवगुप्त तो महाराजाधिराज राजवर्द्धन के कारण कुमारगुप्त के वध होने पर भी राजपुत्र शिलादित्य के स्नेह के कारण उनके संग हैं।

अवन्ति—महाबलाधिकृत, क्षमा कीजिएगा, यदि मैं यह कह दूँ कि सैनिक राजनैतिक दाव-पेंचों से प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। मुझे माधव-गुप्त पर अत्यधिक सन्देह है और जब उन्होंने यह संवाद दिया है कि राजपुत्र की मानसिक अवस्था में परिवर्तन हो रहा है तब मैं इस संवाद को केवल सन्देह ही नहीं, भय की दृष्टि से देखता हूँ। आप जानते हैं कि माधवगुप्त का राजपुत्र पर कितना अधिक प्रभाव है?

सिंहनाद—परन्तु, महामात्य, मुझे तो यही संवाद मिला है कि राज-पुत्र की मानसिक अवस्था में सिंहासन ग्रहण करने के पक्ष में परिवर्तन हो रहा है, इसमें माधवगुप्त का क्या षड्यंत्र हो सकता है?

अवन्ति—**(कुछ सोचते हुए)** सो तो कहना इस समय कठिन है, परन्तु माधवगुप्त से प्रभावित होकर ही राजपुत्र ने सिंहासन न ग्रहण करने का निश्चय किया था और अब माधवगुप्त ही संवाद लाते हैं कि सिंहासन ग्रहण करने के पक्ष में राजपुत्र की प्रवृत्ति हो रही है। इन सब बातों में मुझे कुछ न कुछ रहस्य दिखायी देता है।

[फिर कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है]

अवन्ति—**(कुछ देर पश्चात्)** अच्छा, इस समय माधवगुप्त का विषय छोड़ दीजिए, क्योंकि आप तथा मैं सभी जानते हैं कि राजपुत्र उनपर अत्यधिक प्रेम रखते हैं और यह सहवास छूटना सरल नहीं है। इस समय तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि जब तक राजपुत्र अपने सिंहासन ग्रहण न करने के निश्चय पर स्थित हैं, तब तक राज-सभा राज-रक्षा के अतिरिक्त और कुछ करने के लिए तैयार नहीं, यह तो अन्तिम निर्णय है न?

सिंहनाद—(सब सदस्यों की ओर देखते हुए) यही तो सबका मत जान पड़ता है।

एक सदस्य—हाँ, क्योंकि अन्य कोई उपाय ही नहीं है। हूण-युद्ध में हमारी बहुत-सी शक्ति का व्यय हो गया, रही-सही शक्ति मालवेश देवगुप्त से युद्ध करने में लग गयी, महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के संग में गयी हुई सेना और बलाधिकृत भण्डि अब तक लौटे नहीं हैं। इसके अतिरिक्त हमारे पास इस समय न यथेष्ट सेना है, न धन।

दूसरा सदस्य—और जन एवं धन देकर शशांक से बदला लेने के लिए प्रजा को हम उत्तेजित कर सकेंगे इसकी हमें आशा नहीं।

तीसरा सदस्य—हमें प्रतिकार के प्रयत्न में इस समय सफलता मिल ही नहीं सकती; शत्रु-पक्ष अत्यन्त प्रबल है।

चौथा सदस्य—और यदि हम असफल हुए तो स्थाण्वीश्वर पर भयानक आपत्ति आने में कोई सन्देह ही न रहेगा।

तीन सदस्य—(एक साथ) ठीक।

अवन्ति—(कुछ ठहरकर विचार करते हुए) तब मैं राज-सभा के सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित करना चाहता हूँ कि हम लोग राजपुत्र से स्पष्ट कह दें कि या तो वे सिंहासनासीन होना स्वीकार करें अथवा हम सब राजसभा से अपने-अपने पदों का त्याग करते हैं।

[अवन्ति का प्रस्ताव सुनते ही कुछ सदस्य चौंक पड़ते हैं, कुछ विचार-मग्न हो जाते हैं। कुछ देर को फिर निस्तब्धता छा जाती है।]

सिंहनाद—(धीरे-धीरे) महामात्य का यह प्रस्ताव कितना गम्भीर है, इस पर हम सबोंको अत्यन्त ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। (कुछ

ठहरकर) यदि राजपुत्र ने सिंहासन ग्रहण करना स्वीकार कर लिया तब तो कोई बात ही नहीं, परन्तु यदि उन्होंने यह न किया तो फिर हम सबोंको अपने पद छोड़ने ही होंगे और ऐसी अवस्था में स्थाण्वीश्वर के राज्य की क्या दशा होगी ?

अवन्ति—देखिए, महाबलाधिकृत, शताब्दियों से इस देश में प्रजा-तन्त्र सत्ता नहीं है। हमारी यह राज-सभा तथा इस सभा के सदृश जितनी भी राज-सभाएँ इस देश में हैं, वे सब एक प्रकार से राजाओं को मंत्रणामात्र देने का अधिकार रखती हैं। राजा ही उन्हें नियुक्त और वे ही उनमें परिवर्तन करते हैं। सम्राटों और राजाओं के हाथों में सारी सत्ता के केन्द्रीभूत होने के कारण प्रजा का राज-कार्यों में बहुत थोड़ा अनुराग रह गया है। वह केवल वीर-पूजक हो गयी है और सच्चे वीर ही उसका उपयोग करने की क्षमता रखते हैं। यही कारण है कि किसी भी वंश में वीर के न रहते ही सत्ता उस वंश के हाथ से दूसरे वंश के हाथ में तत्काल चली जाती है और जो भी राजा होता है प्रजा आँख मूँद कर उसका अनुगमन करती है। हमारा स्थाण्वीश्वर का राज्य भी आज इसी परिस्थिति का आखेट हो रहा है। हमारे राजा का वध हो गया है, परन्तु जिसने यह किया है उससे प्रतिकार लेने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं। इसीलिए न कि हमारे राज्य पर इस समय किसी वीर राजा का छत्र नहीं, जो प्रजा के जन और धन का उपयोग कर शत्रुओं को नीचा दिखा सके ? राज-सभा के सदस्यों की बात प्रजा मानेगी ऐसा हम सदस्यों तक को विश्वास नहीं। क्या आप लोग समझते हैं कि बिना राजा के हम राज्य-रक्षा कर सकेंगे ? मुझे तो इसकी बहुत कम आशा है। यदि राज-सभा, बिना राजा के, शत्रु से बदला लेकर राज्य-रक्षा कर सके तो इससे अच्छी कदाचित् कोई बात न होगी, क्योंकि यह, एक प्रकार से , शताब्दियों पूर्व इस देश में जो प्रजातंत्र थे, उनकी ओर बढ़ना और किसी भी राजा का अनुगमन करनेवाली प्रजा की प्रवृत्ति के

मूलोच्छेदन का आरम्भ होगा। परन्तु, राज-सभा की आज की चर्चा सुनकर मुझे इसकी थोड़ी भी आशा नहीं है। जब कि कुछ दिनों में अन्य किसी न किसी वीर का स्थाण्वीश्वर पर अधिकार होना ही है, और हमारे पद जाने ही हैं, तब आज ही यदि वह समय आ जावे तो कौनसी बड़ी भारी हानि हो जायगी ? आज तो हमें यह भी आशा है कि कदाचित् राजपुत्र शिलादित्य ही सिंहासन ग्रहण कर लें। परन्तु, यदि अन्य किसीने आकर हमारे पद छीन लिए तब तो यह आशा भी न रह जायगी।

[कुछ देर तक फिर निस्तब्धता रहती है।]

एक सदस्य—मैं महामात्य से सहमत हूँ।

दूसरा सदस्य—(सिर हिलाते हुए) मुझे भी महामात्य का कथन उचित जान पड़ता है, विशेषकर इसलिए कि महाबलाधिकृत को विश्वसनीय सूत्र से पता चला है कि राजपुत्र की मानसिक अवस्था में परिवर्तन हो रहा है।

तीसरा सदस्य—और यदि सचमुच ही उनकी मानसिक अवस्था में परिवर्तन हो रहा है तो राज-सभा के समस्त सदस्यों के पद-त्याग का यह निर्णय सुन उस परिवर्तन में सहायता पहुँचाना निश्चित है।

चौथा सदस्य—(सिर हिलाकर) महामात्य का कथन ही ठीक जान पड़ता है।

अन्य कई सदस्य—(एक साथ) यही किया जाय, यही किया जाय।

अवन्ति—अच्छी बात है। राज-सभा के इस निर्णय को मैं राजपुत्र की सेवा में उपस्थित कर दूँगा। मेरे साथ यदि महाबलाधिकृत भी जायँगे तो अधिक उपयुक्त होगा।

सिंहनाद—मैं तैयार हूँ।

अवन्ति—(कुछ ठहरकर) तब आज का कार्य समाप्त हुआ ?

[अवन्ति उठता है। शेष सब सदस्य भी उठते हैं। सबका पादुका पहन कर दाहनी ओर के द्वार से प्रस्थान। पट-परिवर्तन होता है। दीवालें उद्यान के हरित कोट; छत, आकाश और स्तम्भ, अशोक वृक्षों में परिवर्तित हो, सभा-भवन का दृश्य उद्यान में परिणत हो जाता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—स्थाण्वीश्वर के राजोद्यान का अशोक-कुंज

समय—सन्ध्या

[साधारणतया सुन्दर उद्यान है। दूरी पर उद्यान का हरित कोट दृष्टिगोचर होता है। बीच में अशोक-वृक्षों का कुंज है। नीचे, हरे घास की भूमि पर दस आसंदियाँ रखी हुई हैं। सारा दृश्य डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों से आलोकित है। शिलादित्य और माधवगुप्त का प्रवेश। दोनों गौर वर्ण और गठीले शरीर के अत्यन्त सुन्दर युवक हैं। दोनों की मूँछों की रेख निकल रही है। शिलादित्य की अवस्था लगभग सोलह वर्ष की है और माधवगुप्त की अठारह, परन्तु दोनों अपनी अवस्था की अपेक्षा अधिक वय के जान पड़ते हैं। दोनों के मुखों पर गाम्भीर्य का पूर्ण साम्राज्य है। शिलादित्य पीत रंग का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। सिर खुला है और सिर के केश भी बहुत बड़े नहीं हैं। समस्त शरीर भूषणों से रहित है। माधवगुप्त श्वेत रंग का उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने हैं, जिनकी सुनहरी किनार है। उसका भी सिर खुला हुआ है और उसपर लम्बे बाल लहरा रहे हैं। वह कुण्डल, हार, केयूर, वलय और

मुद्रिकाएँ भी धारण किये है। सारे भूषण स्वर्ण के तथा रत्नजटित हैं। दोनों काष्ठ की पादुका पहने हैं।]

शिलादित्य—(लम्बी साँस लेकर) माधव, इस शोकमय काल में, इस अशोक-कुंज के नीचे, सन्ध्या समय कुछ शान्ति मिल जाती थी, किन्तु तुमने इधर दो दिवसों से हृदय में कुछ ऐसे विचारों की उत्पत्ति कर दी है, कुछ ऐसा आन्तरिक संघर्ष मचवा दिया है कि वह शान्ति भी योजनों दूर चली गयी। **(आगे बढ़कर एक आसंदी पर बैठता है।)**

माधवगुप्त—(दूसरी आसंदी पर बैठते हुए) राजपुत्र, मुझे बाल्यकाल से ही आपके पूज्य पिता कैलाशवासी परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन ने मालव देश से लाकर आपकी सेवा में इसीलिए रखा और शिक्षित कराया है कि मैं समय-समय पर आपको मंत्रणा दे सकूँ। मैं जानता हूँ कि वर्द्धन-वंश के प्राचीन राजकर्मचारी मुझे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, आपका जो मुझ पर यह स्नेह है उसे आपके लिए हितकर न समझ अहितकर समझते हैं, परन्तु......।

शिलादित्य—(बीच ही में) जब-जब तुम्हें सम्मति देने का अवसर आता है तब-तब तुम्हारे मन में यह अविश्वास की बात उठे बिना नहीं, रहती, माधव!

माधवगुप्त—(लम्बी साँस लेकर) मेरी मानसिक स्थिति की कल्पना, प्रयत्न करने पर भी, आप नहीं कर सकते, राजपुत्र। कुटुम्बी जनों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रख, सदा आपकी मंगल-कामना में दत्तचित्त रहते हुए भी जब मैं अपने प्रति सन्देह देखता हूँ तब......।

शिलादित्य—(फिर बीच ही में) परन्तु, मेरे हृदय में तो तुम्हारे प्रति कोई सन्देह नहीं है न? मेरा हृदय तो तुम्हारे शुद्ध प्रेम से ओत-प्रोत भरा हुआ है न?

माधवगुप्त—यदि आपके हृदय में भी मेरे प्रति सन्देह रहता, यदि आपका भी मेरे प्रति सच्चा प्रेम न होता तो स्थाण्वीश्वर के इस वायुमण्डल में क्या मैं एक क्षण भी निवास कर सकता था ? राजपुत्र, क्या कहूँ ? आपके प्रेम ने मुझे इस प्रकार बाँध रखा है कि मेरे ज्येष्ठ भ्राता मालवेश देवगुप्त का महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वध करने और उन्हींके कारण बन्धु कुमारगुप्त का वध होने पर भी, मैं आपका सहवास न छोड़ सका। शशांक का बन्धुत्व भी इस स्नेहरूपी हिमालय के सम्मुख रजकण के तुल्य भी नहीं है, राजपुत्र।

[शिलादित्य उठकर माधवगुप्त को हृदय से लगा लेता है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है। फिर दोनों अपनी-अपनी आसंदी पर बैठ जाते हैं।]

शिलादित्य—अच्छा, अब काम की थोड़ी बात हो जाय। तुम जानते हो कि तुमने जो सम्मति इस समय मुझे दी है, उससे मेरी दशा कैसी हो गयी है ?

माधवगुप्त—कैसी राजपुत्र ?

शिलादित्य—उस पथिक के सदृश जो अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए एक पथ से विदा हो चुका हो और बीच में कोई विश्वासपात्र जन आकर उससे यह कह दे कि वह एक अन्य पथ से अपने निर्दिष्ट स्थान पर अधिक शीघ्रता और सुविधा से पहुँच सकता है।

माधवगुप्त—यदि उस पथिक को यह बात सचमुच ही उसका कोई विश्वासपात्र जन कहता है, तथा कहनेवाले के कथन से उस पथिक को भी यदि अपने पथ में सन्देह उत्पन्न हो जाता है, तो जितने शीघ्र वह पथिक अपना पथ परिवर्तित कर दे उतना ही उत्तम है।

शिलादित्य—**(कुछ ठहरकर मुस्कराते हुए)** क्यों, माधव, तुम्हें

यह विश्वास है कि मैं जिस पथ पर चल रहा हूँ उसकी अपेक्षा अब अन्य पथ मुझे अपने निर्दिष्ट स्थान पर अधिक शीघ्रता और सुविधा से ले जायगा ?

माधवगुप्त—यदि मुझे यह निश्चय न होता, आर्य, तो मैं आपको अपनी सम्मति इतने स्पष्ट शब्दों में न देता; आज तक क्या कभी मैंने इस प्रकार का दुस्साहस किया है ?

शिलादित्य—मानता हूँ, कभी नहीं, माधव, तुम्हारी अवस्था की अपेक्षा तुम्हारा ज्ञान कहीं आगे बढ़ा हुआ है, इसे प्रौढ़ जन भी स्वीकार करते हैं।

माधवगुप्त—यह आपकी और प्रौढ़ जनों की कृपा है।

शिलादित्य—**(कुछ ठहरकर विचार करते हुए)** तो तुम्हारा स्पष्ट और निश्चित मत है कि इस समय मेरा राज्य ग्रहण न करना कर्तव्य से च्युत होना है ?

माधवगुप्त—सर्वथा स्पष्ट और निश्चित। देखिए, राजपुत्र, धर्म और कर्तव्य-पथ से चलकर ही जीवन व्यतीत करना, आपने अपना लक्ष बनाया है। अब तक आपके राज्य ग्रहण न करने के निश्चय को मैं सदा और भी दृढ़ करने का उद्योग इसलिए करता रहा कि आपके अग्रज थे। मैं नहीं चाहता था कि इन दिनों जिस प्रकार अन्य अनेक राजाओं में राज्य के लिए सहोदर भ्राताओं के बीच कलह हो जाता है वैसा स्थाण्वीश्वर में भी हो। आपके अग्रज सिंहासनासीन रह, सारे भारत को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का यत्न करते और आप उनके इस महान् कार्य में सहायता कर उनकी छत्रच्छाया में प्रजा की सेवा में दत्तचित्त रहते; परन्तु, आज तो राज्य की नींव ही हिल रही है। महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के हत्यारे, चाहे वे मेरे आत्मीय ही क्यों न हों, मैं तो उन्हें महाराजाधिराज

का षड्यन्त्र से वध करने के कारण हत्यारा ही मानता हूँ, चक्रवर्ती सम्राट् होने की आकांक्षा कर रहे हैं और राजपुत्री राज्यश्री भी बन्धन में पड़ी हुई हैं। यदि ऐसे आततायियों को दंड न मिला तो फिर संसार का कार्य नियमित रूप से किस प्रकार चल सकेगा? वर्तमान परिस्थिति में, आपका वर्तमान जीवन कर्तव्य-पथ पर न चलकर इसके विपरीत पथ पर ही चल रहा है। मैं आपके विरागपूर्ण जीवन को सदा श्रेष्ठ मानता रहा, क्योंकि मेरा निश्चय है कि मनुष्य को विषय-वासना के उपभोगों से सच्चा और स्थायी सुख मिलना असम्भव है। मैं आपकी स्वाभाविक परोपकार प्रवृत्ति को सदैव उत्तेजित करता रहा, कारण कि मेरा विश्वास है कि इस संसार में परोपकार के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में सच्चा और स्थायी सुख मिल ही नहीं सकता। आज भी मैं आपको अपने दो अन्तिम विचारों में कोई परिवर्तन के लिए नहीं कह रहा हूँ, केवल अपने प्रथम निर्णय को परिवर्तित करने का निवेदन करता हूँ।

शिलादित्य—परन्तु, माधव, प्रथम निर्णय के परिवर्तित होते ही अन्तिम निर्णय तो आपसे आप बदल जायँगे।

माधवगुप्त—यह आवश्यक नहीं है। अनेक सम्राट् तथा राजा राज्य करते हुए भी विरागी एवं परोपकार में दत्तचित्त रहे हैं। उन्होंने राज्य को सदा अपने पास प्रजा की धरोहर और अपने को प्रजा का सेवक माना है।

शिलादित्य—ऐसे दृष्टान्त बहुत कम हैं। अधिकांश नरेश या तो विषयों में अनुरक्त रहे हैं या अपनी शक्ति और साम्राज्य बढ़ाने के लिए रक्तपात में दत्तचित्त।

माधवगुप्त—नहीं, आर्य, भारतीय सम्राटों तथा राजाओं का यह आदर्श कभी भी नहीं रहा। विषय-लोलुप सम्राट् एवं राजाओं का चाहे अन्य देशों में उत्कर्ष हुआ हो, मिश्र के फरोह और रोमक के सीज़र आदि विषय-

लोलुप रहते हुए भी चाहे उन्नत हो सके हों, परन्तु भारत के इतिहास में आपको एक भी ऐसे सम्राट् या राजा का उदाहरण न मिलेगा, जिसका विषय-लोलुप रहते हुए उत्थान हुआ हो। अत्यन्त प्राचीन काल के भारतीय सम्राट् रघु, राम, युधिष्ठिर आदि अथवा आधुनिक काल के चन्द्रगुप्त अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त इत्यादि किसीके जीवन की ओर आप देखें, इनमें से एक भी विषय-लोलुप न था। हाँ, रक्तपात इस देश के भी अनेक सम्राटों द्वारा हुआ है, पर वह अधिकतर या तो आततायियों को दण्ड देने के लिए अथवा समस्त देश में सभ्यता और संस्कृति के एकीकरण रखने के उद्देश से; किसीके राज्य का अपहरण करने के निमित्त नहीं। आततायियों को दण्ड देकर उनका राज्य उन्हींके निकटवर्ती सम्बन्धियों को दे दिया जाता था। किष्किन्धा और लंका में राम ने यही किया था। इसी प्रकार जो चक्रवर्ती होकर समस्त देश में एक सभ्यता और संस्कृति स्थित रखने के लिए अश्वमेध या राजसूय-यज्ञ करना चाहते थे वे भी उनसे युद्ध करनेवालों के पुत्रादिकों को ही उनके राज्य सौंप देते थे। पाण्डवों ने मगध के जरासिन्ध से युद्ध कर उसके पुत्र सहदेव को ही तो मगध का सिंहासन दिया था। यज्ञों के बन्द होने के पश्चात् भी चक्रवर्ती सम्राटों की यही पद्धति रही। उन्होंने किसीके राज्य का अपहरण न कर सबको माण्डलीक ही बनाया।

शिलादित्य—फिर भी तुम यह नहीं कह सकते कि सभी सम्राट् और राजा विषयोपभोगों और अपनी सत्ता-वृद्धि के लिए रक्तपात के दोषों से मुक्त रहे हैं। अतः क्या यह सबसे अच्छी बात न होगी कि इस समय पुनः प्राचीन भारत के लिच्छिवि, वज्जिक और मद्रक आदि राज्यों के समान प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली को स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय?

माधवगुप्त—प्रजा को अब इस प्रणाली का अभ्यास नहीं रह गया है और इस समय, जब कि चारों ओर शत्रु प्रबल हो रहे हैं तब, इस प्रकार के

कार्य का समय नहीं है। ऐसे अवसरों पर तो एक ही व्यक्ति के अधिकार में सत्ता का रहना आवश्यक है, फिर प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ है, इसका भी कोई प्रमाण नहीं।

शिलादित्य—यह कैसे?

माधवगुप्त—यदि यही प्रणाली सर्वश्रेष्ठ होती तो इसके विकास के अनन्तर फिर सत्ता एक मनुष्य के अधिकार में क्यों जाती? भारत में लिच्छिवि, वज्जिक, मद्रक आदि राज्यों में प्रजातन्त्र के पश्चात् भी राजाओं के हाथ में सत्ता गयी। यही बात हमें यवनक और रोमक आदि देशों के इतिहास से ज्ञात होती है। बात यह है, राजपुत्र, कि संसार में हरएक वस्तु पूर्ण न होने बरन् परिवर्तनशील होने के कारण इन शासन-प्रणालियों में भी परिवर्तन होता रहता है। एक बात सदा निर्दोष रह ही नहीं सकती। बहुत काल तक एक मनुष्य के अथवा अनेक मनुष्यों के हाथ में सत्ता रहते-रहते दोनों ही प्रकार की पद्धतियों में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जन-समुदाय जब एक मनुष्य के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है तब प्रजातन्त्र की स्थापना और जब अनेक मनुष्यों के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है तब एक मनुष्य के हाथ में सत्ता देने का प्रयत्न करता है। **(कुछ ठहरकर)** मुझे विश्वास है, राजपुत्र, कि यदि आपने राजसिंहासन ग्रहण किया तो भी आप कभी विषय-वासनाओं के आखेट न होंगे, न कभी आपके हाथों व्यर्थ का रक्तपात ही होगा वरन् सदा सच्चे धर्म और कर्तव्य-पथ पर चलकर ही आप अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे। आप तो इस काल के विदेह हो सकते हैं, राजपुत्र।

शिलादित्य—**(कुछ विचारते हुए)** यह तुम निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हो?

माधवगुप्त—आपकी अब तक की मानसिक अवस्था के ज्ञान के कारण।

शिलादित्य—परन्तु, तुम्हींने अभी कहा कि संसार में हर वस्तु परिवर्तनशील है; परिवर्तन पर परिवर्तन होते हैं। आज मनुष्य एक बात विचार कर उसे उत्तम समझ उसके अनुसार व्यवहार करने का निश्चय करता है, कल उसीकी उत्तमता में उसे सन्देह उत्पन्न हो जाता है और वह अपने निश्चय को परिवर्तित कर देता है। आज मुझे ही अपने सिंहासन ग्रहण न करने के निश्चय की उत्तमता में सन्देह उत्पन्न हो गया है। कल अन्य निश्चय भी न बदल जायँगे, यह कैसे कहा जा सकता है?

माधवगुप्त—परिस्थिति के अनुसार निश्चयों को बदलना ही बुद्धि-मत्ता है, आर्य, किन्तु, हाँ, यदि मनुष्य जीवन-शकट के दो चक्रों को न बदले तो अन्य निश्चयों के परिवर्तन से भी उसका जीवन-शकट कभी सच्चे पथ से भ्रष्ट नहीं हो सकता।

शिलादित्य—कौनसे चक्र, माधव?

माधवगुप्त—जिनपर आप अपने जीवन को चला रहे हैं। व्यक्तिगत आधिभौतिक विलासों के उपभोग की लालसा से निवृत्ति और परोपकार की प्रवृत्ति।

शिलादित्य—किन्तु, राज्य ग्रहण करने के पश्चात् यह निवृत्ति और यह प्रवृत्ति कहाँ तक स्थिर रह सकेगी?

माधवगुप्त—मैंने कहा न, आर्य, कि यह अनेक सम्राटों तथा राजाओं में रही है।

शिलादित्य—और मैं भी उन्हीं में एक होऊँगा इसका तुम्हारे पास क्या प्रमाण है?

माधवगुप्त—(मुस्कराकर) मेरे पास तो आपकी अब तक की मानसिक अवस्था का प्रमाण है, किन्तु आप वैसे न होंगे इसका आपके पास क्या

प्रमाण है ? फिर, राजपुत्र, आप तो अकेले नहीं हैं। चाहे किसीका मुझ पर अविश्वास भी हो, पर आपका मुझ पर पूर्ण विश्वास है। हम दोनों एक दूसरे को पथ-भ्रष्ट न होने देने में क्या सहायक न होंगे ?

[प्रतिहारी का प्रवेश। वह ऊँचा-पूरा साँवले रंग का वृद्ध मनुष्य है। सिर पर लम्बे बाल और मुख पर बड़ी-बड़ी मूँछें तथा दाढ़ी है। सब केश श्वेत हो गये हैं। गले से पैर तक, नीचा, श्वेत रंग का कंचुक (एक प्रकार का अँगरखा) पहने हुए है, और सिर पर श्वेत पाग बाँधे है। कमर में सुनहरी रंग का कमर-पट्टा है, जिससे खड्ग लटक रहा है। कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये है। सब भूषण सुवर्ण के हैं। दाहने हाथ में एक मोटी सुवर्ण की छड़ी लिए है।]

प्रतिहारी—(सिर को बहुत नीचे तक झुका, अभिवादन कर) राजपुत्र की जय हो। श्रीमान, महासन्धिविग्रहक महामात्य और महाबलाधिकृत श्रीमान के दर्शन किया चाहते हैं।

शिलादित्य—(अभिवादन का, कुछ सिर झुकाकर, उत्तर देते तथा सोचते हुए) उन्हें ले आओ, प्रतिहारी।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर प्रस्थान। पुनः अवन्ति और सिंहनाद के साथ प्रवेश तथा उन्हें पहुँचा कर पुनः अभिवादन कर प्रस्थान। दोनों शिलादित्य को मस्तक झुकाकर अभिवादन करते हैं। शिलादित्य भी सिर झुका अभिवादन का उत्तर देते हैं। माधवगुप्त खड़े होकर अवन्ति और सिंहनाद का इसी प्रकार अभिवादन करता है। दोनों, माधवगुप्त के अभिवादन का भी सिर झुकाकर उत्तर देते हैं।]

शिलादित्य—आइए, बैठिए, महामात्य और महाबलाधिकृत।

[दोनों दो आसंदियों पर बैठ जाते हैं।]

अवन्ति—राज-सभा की आज की बैठक का निर्णय सुनाने के लिए हम लोग सेवा में उपस्थित हुए हैं।

माधवगुप्त—(**खड़े-खड़े ही**) यदि कोई गुप्त बात हो तो मैं आज्ञा लेता हूँ, राजपुत्र।

शिलादित्य—नहीं, नहीं, तुमसे कोई गुप्त बात रह ही नहीं सकती, माधव, तुम भी बैठो।

[माधवगुप्त भी एक आसंदी पर बैठ जाता है।]

शिलादित्य—कहिए, महामात्य, क्या निर्णय हुआ है ?

अवन्ति—(**कुछ ठहरकर खखारते हुए**) श्रीमन्, हम दोनों तथा राज-सभा के अन्य सदस्य आपके पिता परमभट्टारक महाराजाधिराज के समय से अपने-अपने वर्तमान पदों पर नियुक्त हैं। अब तक इस वंश और राज्य की हम लोगों ने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सेवा करने का प्रयत्न किया है, किन्तु हम लोग देखते हैं कि अब हम लोगों से यह सेवा न हो सकेगी।

[अवन्ति चुप होकर सिर झुका लेता है।]

शिलादित्य—यह क्यों ?

सिंहनाद—यह इसलिए, राजपुत्र, कि देश की वर्तमान परिस्थिति में बिना राजा के कार्य चलना असम्भव है। राज्य पर चारों ओर से आपत्ति के मेघ मँडरा रहे हैं और श्रीमान सिंहासनासीन होना अस्वीकार करते हैं। इसीलिए राज-सभा के समस्त सदस्यों ने निश्चय किया है कि वे भी अपने-अपने पदों को त्याग देवें।

[सिंहनाद भी चुप हो जाता है। शिलादित्य विचारमग्न हो जाता है। कुछ समय के लिए निस्तब्धता छा जाती है।]

शिलादित्य—(धीरे-धीरे कुछ अटक-अटककर) महामात्य और महाबलाधिकृत, पूज्यपाद राजवर्द्धन के निधन के पश्चात् और चिरजीवी राज्यश्री के बन्धन से मुक्ति की सूचना न पाने के कारण उसी समय से यह प्रश्न मेरे सम्मुख है। (कुछ ठहरकर) अभी आप लोगों के आने के पूर्व (माधवगुप्त की ओर संकेत कर) इनसे मेरा इसी विषय पर वाद-विवाद चल रहा था। यद्यपि आपके आने के पूर्व मैं इस विषय में कोई निश्चयात्मक निर्णय न कर सका था, परन्तु (लम्बी साँस लेकर) अब मैंने निर्णय कर लिया है।

अवन्ति—(उत्सुकता से) वह क्या है, राजपुत्र?

सिंहनाद—मैं आशा करता हूँ, श्रीमान ने शुभ निर्णय ही किया होगा!

शिलादित्य—(रूखी मुस्कराहट के साथ) शुभ निर्णय है या अशुभ यह तो मैं ठीक नहीं कह सकता, परन्तु वह आप लोगों की रुचि के अनुकूल है, इतना मैं जानता हूँ। मैं अब राज्य ग्रहण करने के लिए तैयार हूँ।

माधवगुप्त—(मुस्कराते हुए) और प्रणाली के अनुसार राजपुत्र हर्षवर्द्धन नाम धारण कर सिंहासनासीन होवेंगे।

अवन्ति—(प्रसन्न होकर) धन्य हमारा भाग्य!

सिंहनाद—(उत्साह से) धन्य राज्य का सौभाग्य!

[कुछ देर को निस्तब्धता छा जाती है। शिलादित्य विचारमग्न हो जाता है।]

शिलादित्य—(कुछ सोचते हुए) महामात्य और महाबलाधिकृत,

राज्य ग्रहण करना तो मैंने स्वीकृत कर लिया, पर, फिर भी मैं दो बातें न करूँगा।

अवन्ति—वे क्या, राजपुत्र ?

सिंहनाद—उन्हें और बता दीजिए।

शिलादित्य—पहली बात विवाह और दूसरी व्यर्थ का युद्ध।

अवन्ति—(**कुछ विचार करते हुए**) दूसरी बात तो ठीक है। व्यर्थ का रक्तपात हो यह कोई नहीं चाहता, परन्तु विवाह आप क्यों न करेंगे ?

सिंहनाद—(**आश्चर्य से**) हाँ, विवाह करने में क्या हानि है ?

शिलादित्य—मैं अपने को राज्य का संरक्षकमात्र मानना चाहता हूँ और राज्य को अपने पास प्रजा की धरोहर। मैं अपने और अपने वंश को राज्य का स्वामी और राज्य को अपनी सम्पत्ति नहीं मानना चाहता।

सिंहनाद—विवाह करने के पश्चात् भी आप यही मान सकते हैं।

शिलादित्य—नहीं, राज्य-सिंहासन पर बैठने के पश्चात् एक तो यों ही इस भावना की रक्षा कठिनाई से हो सकती है, फिर पुत्र-पौत्रादि हों तब तो इस भावना का चित्त में ठहरना और भी कठिन हो जाता है। पुत्र-पौत्रादि यदि अयोग्य हों तो भी राज-सत्ता उन्हींके अधिकार में रहे, इस लोभ की उत्पत्ति होती है।

अवन्ति—परन्तु, श्रीमान, यदि आपने विवाह न किया तो आपके पश्चात् राज्य का अधिकारी कौन होगा ?

शिलादित्य—इसका निर्णय उस समय हो जायगा।

सिंहनाद—किन्तु, श्रीमान, योग्य सन्तान के होने पर तो एक प्रकार

से आप अपने पश्चात् के लिए भी सुशासन की व्यवस्था कर जायँगे।

शिलादित्य—और यदि अयोग्य सन्तान हुई तो, महाबलाधिकृत, अयोग्य सन्तान होने पर भी राजसत्ता उसीके अधिकार में रहे, इस आसक्ति की उत्पत्ति हो जायगी। देखिए, महामात्य और महाबलाधिकृत, राजसत्ता सदैव एक ही वंश के अधिकार में, उस वंश में सन्तान के रहते हुए भी, नहीं रही है। किसी वंश में, अयोग्य के उत्पन्न होते ही, वह उस वंश के अधिकार के बाहर चली गयी है। फिर मैं ही अपने हृदय में आसक्ति की उत्पत्ति कर, जो थोड़ी-बहुत प्रजा की सेवा करना चाहता हूँ, उस भावना के नाश का आयोजन क्यों कर लूँ? मैं तो प्राचीन भारत की प्रजातन्त्र-राज्य-प्रणाली का पक्षपाती हूँ, परन्तु यदि यह वर्तमान परिस्थिति में सम्भव नहीं है तो मैं सिंहासनासीन होकर राज्य-संरक्षक के रूप में प्रजा-सेवा के लिए तैयार हूँ, पर, विवाह कर, मैं अपने हृदय में राज्य के लिए आसक्ति की उत्पत्ति नहीं करना चाहता। (खड़े होते हुए) मैं सिंहासन ग्रहण करूँगा, परन्तु विवाह नहीं, कदापि नहीं।

[परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—एक जंगली मार्ग

समय—सन्ध्या

[राज्यश्री का प्रवेश। उसकी अवस्था लगभग १५ वर्ष की है, किन्तु अवस्था से उसका वय अधिक जान पड़ता है। वह गौर वर्ण की सुन्दर युवती है, परन्तु इस समय उसका शरीर क्षीण है और मुख अत्यधिक

उतरा हुआ है। उसपर शोक-सहित उन्माद का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है। शरीर पर श्वेत सूती साड़ी है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्ष-स्थल पर बँधा हुआ है; साड़ी अस्त-व्यस्त-सी है। सिर के बाल अव्यवस्थित-रूप से फैले हुए हैं और सारा शरीर भूषणों से रहित है। वह गा रही है।]

रेशम-डोरी में मुक्ता-हार।

(बार-बार उपर्युक्त चरण गाते हुए और टहलते हुए बिना हार के ही अँगूठे को अँगुलियों पर फेरती तथा हाथों को देखती है, मानों हाथों में हार हो। फिर एकाएक खड़ी होकर बैठ जाती और गाती है।)

चुन-चुन मोती, अहो! पिरोये, मैंने पानीदार॥

(बिना मोतियों के ही मोती चुनने और पिरोने का अभिनय करती तथा बार-बार उपर्युक्त चरण गाती है। फिर एकाएक सारा अभिनय और गाना बन्दकर, खड़ी होकर सामने की ओर देखने और सिर हिलाने तथा पुनः गाने लगती है।)

लेकर गयी उसे पहनाने जब प्रियतम के पास—

(टहलते तथा सिर हिलाते हुए)

मिले न वे, हा! मेरे मन का, मिटा सभी उल्लास॥

(एकाएक खड़े होकर दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँध सामने देखते हुए)

आकर उसी समय सजनी ने एक सुनायी बात।

(मुट्ठियाँ खोलकर हाथों को शीघ्रतापूर्वक नीचे से ऊपर की ओर हिलाते तथा पुनः शीघ्रतापूर्वक टहलते हुए)

लगी हृदय में अनल जिसे सुन, दग्ध हुआ सब गात ॥

(फिर एकाएक रुककर आँखें फाड़-फाड़ हाथों को देखते हुए)

इन हाथों में हार लिए थी, तप्त हुए इस भाँति ।
रेशम-डोरी दग्ध हुई झट, चटकी मुक्ता-पाँति ॥

(एकाएक बैठकर गाना बन्द करते हुए सिर घुमा, चारों ओर देखती और लम्बी साँस लेकर पुनः गाने लगती है।)

हृदयानल से मोती चटके, कौन सकेगा मान ।
पर, मेरे मुक्ता ही ऐसे, नहीं सकेगा जान ॥

(डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों का प्रकाश फैल जाता है। गाना बन्द कर आँखें फाड़-फाड़कर सामने की ओर देखते हुए एकाएक खड़े होकर)

हैं! हैं! अनल! अनल! वही अनल किस प्रकार फैल गयी है। इतनी भीषण अनल! (सामने की ओर देखकर) सामने अनल! (पीछे देखकर) पीछे भी अनल! (दाहनी ओर देखकर) इस ओर भी अनल! (बाँयीं ओर देखकर) इस ओर भी अनल! (नीचे देखकर) यहाँ भी अनल! (ऊपर देखकर) वहाँ भी अनल! चारों ओर अनल! नीचे अनल! ऊपर अनल! कहाँ जाऊँ? कहाँ जाऊँ? आह! जली जाती हूँ, झुलसी जाती हूँ! (एकाएक बैठते हुए) भस्म की ढेरी होने पर ही शान्ति मिलेगी। (फिर रुककर सामने की ओर देखकर एकाएक खड़े होकर तथा चारों ओर तथा ऊपर-नीचे देखकर) दसों दिशाएँ जल रही हैं! आह! कैसी भीषण ज्वालाएँ हैं; और धूम तक नहीं! ज्वालाएँ ही ज्वालाएँ! (कुछ ठहरकर पीछे के वन-वृक्षों को देख उँगली से दिखाते हुए जल्दी-जल्दी) यह देख, यह देख, सखि अलका, वन

किस प्रकार जल रहा है ! अरे-रे ! हरे-हरे वृक्ष शुष्क काष्ठ के समान जल रहे हैं ! कैसे लाल-लाल अंगारे हैं, कैसे लाल-लाल ! **(कुछ ठहरकर)** इन वृक्षों से भी धूम्र नहीं निकलता ! अंगारे ही होते हैं; पर, भस्म नहीं ! **(कुछ ठहरकर)** जली, जली, दग्ध हुई, मरी ! **(एकाएक पृथ्वी पर गिरकर मूर्च्छित हो जाती है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है। फिर पड़े-पड़े आँखें मूँदे हुए ही)** आ गये, आ गये, नाथ; देखो तो, तुम्हारे आते ही सारी अनल किस प्रकार बुझ गयी, मानों उसपर मूसलाधार वृष्टि हुई है ! **(कुछ रुककर)** आह ! मेरे दग्ध शरीर पर हाथ फेर रहे हो ! कितना शीतल हाथ है, प्रियतम ! हिम इसके सम्मुख कौन-सी वस्तु है ! **(कुछ ठहरकर)** वही तो हाथ है न, जिसका सर्वप्रथम पाणिग्रहण के समय स्पर्श हुआ था ! वही तो हाथ है न, जिसने सर्वप्रथम सुहागरात्रि के दिन आलिंगन किया था ! वही तो हाथ है न, जिसने न जाने कितने गजरे गूँथ-गूँथकर गले में पहनाए थे ! वही तो हाथ है न, जिसने न जाने कितने ताम्बूल मुख में खिलाए थे ! वही तो हाथ है न, जो ग्रीष्म में जल-विहार के समय जल को उछाल-उछालकर नेत्र मीलित कर देता था ! वही तो हाथ है न, जो वर्षा में झूले पर हाथ पकड़ कर चढ़ाता था ! वही तो हाथ है न, जो वसन्त के होलिकोत्सव में मुख पर गुलाल और अबीर मल देता था ! **(कुछ ठहरकर)** पकड़े रहूँगी, पकड़े रहूँगी, प्राणेश, आठों पहर और चौंसठों घड़ी पकड़े रहूँगी ! अब कभी क्षणमात्र को भी हाथ न छोड़ूँगी ! देखूँ, फिर तुम कैसे और कहाँ भागते हो ? **(एकाएक चौंककर उठ बैठती और अचम्भित-सी इधर-उधर देखने लगती है।)** हैं, चले गये ! कहाँ चले गये, हृदयनिधि, कहाँ चले गये ? **(फूट-फूटकर रोने लगती है।)** हाय ! हाय ! इतनी निष्ठुरता ! **(कुछ ठहरकर हिचकियाँ लेते हुए)** इतनी वज्र-हृदयता ! **(चुप होकर फिर एकाएक खड़ी हो जाती है।)** देख तो, सखि अलका, तू उनसे जाकर कह।

(फिर गाने लगती है और इस प्रकार गाती है मानों वह गायन किसी को सुनाकर गा रही है।)

भीनी-भीनी मधुर गन्धयुत, चटकीं-चटकीं कुछ कलियाँ।
झटक-झटक तोड़ीं निज तरु से, सुन्दर गूँथीं गलबहियाँ॥

(हाथ को बराबर, हृदय के निकट ले-जाकर तोड़ने का अभिनय करते हुए गाना बन्द कर) उन्हें शीघ्र ही ला, अलका। (फिर गाती है। बिना माला के ही हाथों को आगे कर, दिखाती हुई मानों हाथ में माला लिए हुए हो।)

ला तू प्राणाधिक को द्रुत ला, पहनाऊँ ये गलबहियाँ।
यदि विलम्ब कर देंगे वे तो सूख जायँगी ये कलियाँ॥

(फिर गाना बन्द कर उसी प्रकार हाथों को आगे किये हुए) नहीं, नहीं, ठहर जा, अलका, मैं ही वहाँ चलती हूँ। कदाचित् उनके आने में विलम्ब हो जाय।

[शीघ्रता से प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—गंगा-तट पर हर्ष का शिविर

समय—तीसरा पहर

[गंगा बह रही है, उसका श्वेत नीर सूर्य की किरणों में चमक रहा है। किनारे पर सघन वृक्ष हैं और वृक्षों के नीचे दूर-दूर तक सैनिकों के ठहरने

की तृण-निर्मित झोपड़ियाँ दिखायी देती हैं। गंगा के किनारे वृक्षों की छाया में कुछ काष्ठ की आसंदियाँ रखी हुई हैं। दो पर हर्षवर्द्धन और माधवगुप्त बैठे हुए हैं। दोनों ही शरीर पर लोह-कवच धारण किये हुए हैं, जिनमें सुवर्ण भी लगा है। दोनों आयुधों से सुसज्जित हैं। बाँयें कन्धे पर धनुष, पीठ पर तरकश और कमर में खड्ग है। हाथों में गोधांगुलित्राण (गोह के चमड़े के बने हुए एक प्रकार के दस्ताने) और पैरों में चर्म के जूते हैं। सिर खुला हुआ है।]

हर्ष—राज्य ग्रहण करते विलम्व न हुआ, माधव, और सारा समय उद्विग्नता में व्यतीत होने लगा।

माधवगुप्त—इसका कारण है, परमभट्टारक।

हर्ष—क्या?

माधवगुप्त—इस समय की असाधारणता। जब तक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वधिक को उचित दण्ड न मिल जायगा और राजपुत्री राज्यश्री की बन्धन-मुक्ति न हो जायगी तब तक उद्विग्नता का अन्त न होगा।

हर्ष—(**कुछ ठहरकर**) क्यों, माधव, कामरूप के कुमारराज भास्कर वर्मन का इस समय आकर मित्रता करने के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या मत है?

माधवगुप्त—(**कुछ सोचते हुए**) कुमारराज बड़े सज्जन व्यक्ति ज्ञात होते हैं, परमभट्टारक। यदि इस देश के अन्य नरपतिगण भी आपसे इसी प्रकार मित्रता कर लें तो जिस रक्तपात से आप घृणा करते हैं, उससे दूर रहकर भी आप चक्रवर्ती सम्राट् हो जायँगे।

हर्ष—और उस साम्राज्य का कोई भी माण्डलीक राजा अपने को

राज्य का स्वामी न मान कर संरक्षकमात्र मानेगा, तथा प्रजा की सेवा में ही आठों पहर और चौंसठों घड़ी दत्तचित्त रहेगा।

माधवगुप्त—इस सम्बन्ध में मैं अभी कुछ नहीं कह सकता।

हर्ष—यह क्यों?

माधवगुप्त—इसलिए, परमभट्टारक, कि सब आपके समान निस्वार्थी नहीं हैं।

हर्ष—और कुमारराज ने मेरे प्रति जो प्रेम दर्शाया है उस सम्बन्ध में तुम्हारी क्या सम्मति है?

माधवगुप्त—(**विचार करते हुए**) वे आपसे किसी प्रकार का छल न करेंगे इतना तो अवश्य जान पड़ता है, परन्तु इस मित्रता में कितनी निस्वार्थता है यह मैं अभी नहीं कह सकता।

हर्ष—यह किस प्रकार?

माधवगुप्त—आपने कदाचित् नहीं सुना कि कामरूप देश का सिंहासन किसे मिले यह विवाद उस देश में छिड़ा हुआ है।

हर्ष—अच्छा, मुझे यह ज्ञात नहीं था।

माधवगुप्त—मैंने भी, आज ही कुमारराज के आगमन के पश्चात् इसका पता पाया है।

हर्ष—(**मुस्कराकर**) तो कुमारराज को आते देर न हुई और तुमने उनके आगमन के उद्देश का पता लगा लिया?

माधवगुप्त—आपके साथ आँखें मूँदकर तो नहीं रहा जा सकता, महाराज।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—**(अभिवादन कर)** जय हो, महाराजाधिराज, बलाधिकृत भण्डि आये हैं और परमभट्टारक के दर्शन किया चाहते हैं।

हर्ष—प्रसन्न होकर) अच्छा, बलाधिकृत आ गये; उन्हें शीघ्र से शीघ्र उपस्थित करो।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर पुनः प्रस्थान।]

हर्ष—यह बड़ा ही शुभ संवाद है, माधव।

माधवगुप्त—इसमें सन्देह नहीं, महाराज।

हर्ष—कान्यकुब्ज में क्या हुआ अब इसका विश्वसनीय पता मिल जायगा; राज्यश्री के भी समाचार मिलेंगे।

[हर्ष उठकर इधर-उधर टहलने लगते हैं। माधवगुप्त भी साथ में टहलता है। प्रतिहारी के संग भण्डि का प्रवेश। प्रतिहारी भण्डि को छोड़ अभिवादन कर चला जाता है। भण्डि युवावस्था का ऊँचा-पूरा गेहुँएँ रंग का सुन्दर व्यक्ति है। छोटी-छोटी मूँछें हैं। हर्ष और माधवगुप्त के सदृश सैनिक वेश में है, परन्तु उसका सिर खुला हुआ नहीं है। सिर पर वह लोहे का सुवर्ण लगा हुआ शिरस्त्राण धारण किये हुए है, जिसपर सुनहरी कलगी लगी है।]

भण्डि—**(आगे बढ़कर खड्ग निकाल मस्तक पर लगाते हुए)** स्थाण्वीश्वर का यह बलाधिकृत, परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन का अभिवादन करता है।

हर्ष—**(अभिवादन का, सिर झुकाकर उत्तर दे, आगे बढ़कर भण्डि को हृदय से लगाते हुए)** बन्धु, भण्डि, न जाने तुम्हें कितने काल के पश्चात् देखा। कहो, कुशलपूर्वक तो हो? आह! इतने समय में तो न जाने क्या-क्या हो गया? कहो, बन्धु, राज्यश्री का क्या संवाद है?

भण्डि—विराजिए, परमभट्टारक, सब कुछ बताता हूँ।

[भण्डि और माधवगुप्त भी एक-दूसरे को हृदय से लगाते हैं। तीनों आसंदियों पर बैठ जाते हैं।]

भण्डि—महाराज, सर्वप्रथम तो सिंहासनासीन होने के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए।

हर्ष—मैं तो सिंहासन ग्रहण करना ही न चाहता था, भण्डि, परन्तु परिस्थिति ने विवश कर दिया।

भण्डि—वर्तमान परिस्थिति में इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता था, महाराज। **(कुछ रुककर)** अच्छा, अब राजपुत्री का संवाद सुनिए।

हर्ष—हाँ, उसीके लिए मैं अत्यन्त आतुर हूँ।

भण्डि—आतुरता सर्वथा स्वाभाविक है, परमभट्टारक; वे अब बन्धन में नहीं हैं।

हर्ष—**(कुछ सन्तोष से)** कान्यकुब्ज में ही हैं?

भण्डि—नहीं।

हर्ष—**(आश्चर्य से)** फिर?

भण्डि—उनका अब तक ठीक पता नहीं लगा है, महाराज। उन्हें कारागृह के दण्डपाशिक ने मुक्त कर दिया था और इतना ही सुना जाता है कि वे विन्ध्या की ओर चली गयी हैं।

हर्ष—**(कुछ सोचते हुए)** तब तो संवाद और भी भयानक है, बन्धु, कदाचित् शोकवश उसने आत्म-हत्या न कर ली हो।

भण्डि—अशुभ बात न विचारना ही अच्छा है, महाराज। उनकी विन्ध्या में खोज करनी होगी।

[कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

हर्ष—**(कुछ सोचते हुए)** और कान्यकुब्ज की क्या अवस्था है?

भण्डि—कान्यकुब्ज से अब शशांक हट गया है।

हर्ष—तो वह कर्णसुवर्ण चला गया?

भण्डि—हाँ, उसी ओर गया है।

[कुछ देर तक फिर निस्तब्धता रहती है।]

हर्ष—**(कुछ विचार करते हुए)** अच्छा, भण्डि, देखो, मैं थोड़ी-सी सेना लेकर राजपुत्री की खोज के लिए तत्काल विन्ध्या की ओर प्रस्थान करना चाहता हूँ, और तुम मेरी शेष सेना लेकर गौड़ पर आक्रमण करो। शशांक को महाराजाधिराज की हत्या का दण्ड तो देना ही होगा।

भण्डि—निस्सन्देह, परमभट्टारक, अन्यथा संसार में आततायी ही आततायी न हो जायँगे?

हर्ष—**(विचारते हुए)** तुम इस योजना को कैसी समझते हो?

भण्डि—**(कुछ सोचकर)** ठीक तो जान पड़ती है, महाराज।

हर्ष—**(माधवगुप्त से)** और तुम, माधव?

माधवगुप्त—**(विचारपूर्वक)** मुझे भी ठीक जान पड़ती है, परमभट्टारक।

हर्ष—और देखो, भण्डि, राजपुत्री का पता लगते ही मैं कर्णसुवर्ण की ओर प्रस्थान करूँगा।

भण्डि—उसके पूर्व ही आप शशांक का या तो बन्धन-वृत्त सुन लेंगे अथवा उसे अपने सम्मुख बन्दी पावेंगे, महाराज।

हर्ष—(**प्रसन्न होकर**) बलाधिकृत भण्डि के मुख से ही इतने शीघ्र इस प्रकार के आशावादी वचन निकल सकते हैं।

भण्डि—यह आपकी कृपा है, महाराज, कि आपके हृदय में मेरे लिए ऐसा स्थान है।

हर्ष—अच्छा, बन्धु, इसमें अब विलम्ब न होना चाहिए। मैं तत्काल विन्ध्या की ओर प्रस्थान करता हूँ। राजपुत्री के सम्बन्ध में मेरे हृदय में भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही हैं।

[हर्ष खड़े होते हैं। भण्डि और माधवगुप्त भी खड़े होते हैं।]

हर्ष—हाँ, जाने से पूर्व कुमारराज से बिदा लेनी होगी।

[परदा गिरता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—एक वन-मार्ग

समय—सन्ध्या

[हर्ष, माधवगुप्त और हर्ष के कुछ सैनिकों का विन्ध्याटवी के राजा …गुहिट तथा उसके सैनिकों के संग शीघ्रता से प्रवेश। हर्ष और माधवगुप्त की वही वेश-भूषा है जो चौथे दृश्य में थी, केवल वे मस्तकों पर शिरस्त्राण और लगाए हुए हैं। उनके सैनिकों की वेश-भूषा उन्हींसे मिलती हुई है,

मुख्य अन्तर इतना ही है कि उनके शिरस्त्राणों पर कलगी नहीं है। निर्गुहट और उसके सैनिक कवच और शिरस्त्राण नहीं पहने हैं, परन्तु आयुध लिए हैं। उनके वस्त्र और आयुध साधारण कोटि के हैं। निर्गुहट के मस्तक पर मोरपंख की कलगी लगी हुई है। निर्गुहट और उसके सैनिक अत्यधिक श्याम वर्ण के हैं।]

हर्ष—(**निर्गुहट से**) विन्ध्याधिराज, बिना आप और आपके राज्य की सहायता के इस विन्ध्य-पर्वत-प्रदेश में राजपुत्री की खोज करना मेरे लिए असम्भव-सा था। मैं आपकी कृपा का सदा अनुगृहीत रहूँगा।

निर्गुहट—मेरा राज्य और मेरे राज्य की सारी शक्ति हर कार्य के लिए आपके अधीन है, महाराज।

हर्ष—(**चारों ओर देखकर**) राजपुत्री इसी मार्ग से गयी हैं न ?

निर्गुहट—यही पता लगा था, महाराज, उस समय यह किसीको ज्ञात ही न था कि वे कौन हैं, अन्यथा आपको इतना कष्ट ही न करना पड़ता।

हर्ष—वे विक्षिप्त थीं, निर्गुहटराज ?

निर्गुहट—विक्षिप्त तो नहीं, पर उन्हें एक प्रकार का उन्माद अवश्य था, यही संवाद मिला था, महाराज।

हर्ष—ओह ! मेरे हृदय में शंकाओं पर शंकाएँ उठ रही हैं। (**सामने की ओर देखकर**) इसी मार्ग से बढ़ा जाय न ?

निर्गुहट—हाँ, इसी मार्ग से, महाराज।

[सबका शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान। परदा उठता है।]

आठवाँ दृश्य

स्थान—रेवा-तट

समय—प्रदोष

[सामने नर्मदा बह रही है। किनारे पर सघन वृक्ष हैं। यत्र-तत्र पर्वत के छोटे-छोटे शिखर दिखायी पड़ते हैं। अँधेरा होता जाता है। आकाश में षष्ठी का धनुषाकार चन्द्र तथा कोई-कोई तारे दिखायी देने लगे हैं। चन्द्र की किरणें नर्मदा में पड़ रही हैं, जिनसे उसका नीर चमक रहा है। कटी हुई लकड़ी के कुछ ठूँठ नर्मदा के तट पर पड़े हुए हैं। दो लकड़हारिनें कटी हुई लकड़ी का एक-एक गट्ठा बाँध रही हैं। दोनों केवल साड़ी पहने हुए हैं। दोनों गा रही हैं।]

धीरे बहु नदिया तैं धीरे बहु,
मोरा पिया उतरइ दे पार। धीरे बहु०।
काहे की तोरी नइया रे,
काहे की करुवारि।
कहाँ तोरा नइया खेवइया,
के धन उतरइँ पार। धीरे बहु०।
धरमै कइ मोरी नइया रे,
सत कइ लगी करुवारि।
सइयाँ मोरा नइया खेवइया रे,
हम धन उतरब पार। धीरे बहु०।

[गाते-गाते दोनों का कुछ लकड़ियों को छोड़, तथा दो गट्ठे लकड़ी सिर पर रखकर, दाहनी ओर प्रस्थान। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती

है। कुछ देर पश्चात् बाँयीं ओर से गाते हुए राज्यश्री का प्रवेश। उसकी वेश-भूषा और मुद्रा अभी भी पहले के समान ही है।]

सोने की सुन्दर इक माला, निज निकेत से मैं लायी।

(हाथों में कुछ न रहते हुए भी, हाथों को देखते हुए)

जड़ी हुईं इसकी लख मणियाँ, मन ही मन मृदु मुसकायी॥

(कुछ मुस्कराती है और फिर चौंककर हाथ को ध्यानपूर्वक देखते हुए)

प्रियतम निकट चली, पर यह तो गली, गली ही में माला—

(हाथ को नाक और मुख के निकट ले-जाकर जोर-जोर से साँस ले, साँस की वायु का स्पर्श करते हुए)

मेरी साँसों से—क्या मैं हूँ चर्म-धोंकनी, ये ज्वाला?

(गायन बन्द कर पृथ्वी की ओर आश्चर्य से देखते हुए)

जड़ी हुईं मणियाँ सब बिखरीं, मिलीं धूलि में गिर सारीं।

(फिर गायन बन्द कर पृथ्वी पर बैठ, बीनने का अभिनय करते हुए)

अहो! बीनती, पर नहिं बिनतीं, दृष्टि, शक्ति दोनों हारीं॥

(फूट-फूटकर रोने लगती है। कुछ देर में एकाएक चुपचाप खड़े होकर चन्द्रमा की ओर देखते हुए)

श्वेत धनुष है, श्वेत! (जोर से) अरी अलका! ओ अलका! देख तो, इससे श्वेत ही शर छूट रहे हैं! (शीघ्रतापूर्वक इधर-उधर घूमते हुए पर्वत-शिखरों के निकट जाकर) देख, यह देख, गिरि

शृंगों में लग रहे हैं ! (वृक्षों के निकट जाकर) देख, यह देख, वृक्षों में लग रहे हैं ! (नर्मदा के निकट जाकर) देख, यह देख, रेवा में लग रहे हैं ! (दोनों हाथों से अपना हृदय सँभालते, दीर्घ निश्वास लेते और बैठते हुए) और मेरे हृदय को विदीर्ण कर रहे हैं ! (फिर कुछ देर चुप होने के पश्चात्) अलका, उनके पास तो तीन धनुष थे न ? दो तो सदा नेत्रों के ऊपर ही रहते थे, वे तो श्वेत नहीं, श्याम थे, अलका। (कुछ ठहरकर) इतने पर भी उनका कार्य काला न होता था। उनके शर मुझे भी लगे थे, परन्तु उनसे तो पीड़ा न पहुँचती थी; हृदय में एक प्रकार की विचित्र गुदगुदी उठने लगती थी। (कुछ ठहरकर) पर, (फिर चन्द्रमा को देखते हुए) इसका वर्ण है श्वेत और इसके कार्य हैं काले ! (कुछ ठहरकर सामने देखते हुए) हाँ, उनका तीसरा धनुष, जो वे कभी-कभी अपने हाथों में उठाते थे, अवश्य भीषण था, परन्तु उसके शर बिना किसी भेद-भाव के (फिर चन्द्रमा की ओर देखते हुए) इस निगोड़े धनुष के समान सभी पर थोड़े ही चलते थे। (कुछ ठहरकर) वे तो शत्रुओं पर ही चलते थे, अलका। (फिर चुप होकर ध्यानपूर्वक नर्मदा-तट पर पड़े हुए लकड़ी के ठूँठों को देखती है और दौड़कर उनके निकट जाकर गाना आरम्भ करती है।)

था मेरा अद्भुत उच्छ्वास।
बढ़ता जाता था वह, तन का होता जाता था नित ह्रास ॥
सारे अंग-अंग घुल-घुल कर, जाते थे उसके ही संग,
पर, आया है काल आज वह जब मैं होकर निपट अनंग,
बिना किसीके देखे, जाकर हृदयेश्वर की सुखमय गोद—
कर लूँ ग्रहण, त्याग कर यह तन, पाकर चिता-अनल-संयोग ॥

(गाते-गाते लकड़ी इकट्ठी कर उसकी चिता बनाती और उसमें बैठती है। गाना बन्द कर)

जल, जल, अपने आप जल उठ। (न जलते देख) नहीं जलेगी,

नहीं जलेगी? अरे, सतियों की तो आज्ञामात्र से तू जल उठती थी। मैं तो सती हूँ, देवि, पूर्ण सती। मनसा, वाचा, कर्मणा हर प्रकार से शुद्ध हूँ। फिर क्यों नहीं जलती? **(कुछ ठहरकर ऊपर देख)** तारिकाओ, तुम्हीं में से एक टूट कर इसे जला दो। **(कुछ ठहरकर, एकटक तारों को देखते और सिर हिलाकर गिड़गिड़ाते हुए)** तुम्हारी बड़ी कृपा होगी, परम दया होगी, अवर्णनीय अनुकम्पा होगी। अरे, मेरे वर्तमान ताप से अग्नि-ज्वालाओं का ताप कहीं कम होगा, कहीं कम? भस्म ही मेरा ताप शीतल करेगी! **(कुछ देर तक फिर चुप रहती है। उसी समय नर्मदा में कुछ जलते हुए दीपक बहकर आते हैं, जिन्हें देख, प्रसन्न होकर, चिता से उठ, दीपक की ओर जाते हुए)** तू भी न जली, तारिकाएँ भी न टूटीं, पर, नर्मदा माता ने मेरी सुन ली। **(पानी को अँगुलियों से पीछे की ओर ठेलती है। धीरे-धीरे एक दीपक किनारे पर लगता है। उसे उठा चिता के निकट आकर उससे चिता जलाती और पुनः गाती है।)**

जल-जल अनल! दुखी-जन-त्राण।
दुखियों के हित तप्त-रूप तव, सागर-सम शीतलता-खान॥
अरुण-अरुण आभामय तेरी ज्वालाओं का यह उत्थान,
लहरों-सा लगता मम मन को, नाच रहा जो नाव-समान॥

(धक-धक करके जलनेवाली चिता को हाथ जोड़कर)

पहुँचा दो, पहुँचा दो, देवि, वहीं पहुँचा दो, जहाँ वे हैं। उनके बिना यह लोक कुम्भीपाक और रौरव से भी बुरा है। **(चिता की ओर आगे बढ़ती है।)**

[नेपथ्य में—'राज्यश्री! राज्यश्री!' ज़ोर का शब्द होता है।]

राज्यश्री—(चौंककर, पीछे की ओर देख) कौन, भ्राता शिलादित्य?

[नेपथ्य में 'हाँ, शिलादित्य ही है' पुनः यह शब्द होता है। शीघ्रता से

हर्ष का प्रवेश। राज्यश्री शीघ्रता से धधकती हुई चिता की ओर बढ़ती है, पर हर्ष दौड़कर उसे पकड़ लेता है।]

यवनिका-पतन

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—कर्णसुवर्ण में शशांक नरेन्द्रगुप्त के प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[दालान के पीछे की भित्ति रँगी हुई है। दालान में कोई द्वार नहीं है। दोनों ओर कुम्भी और भरणी से युक्त दो स्तम्भ हैं। भित्ति से लगा हुआ सुवर्णमण्डित रत्नों से जड़ा शयन (एक प्रकार का सोफ़ा) रखा है, जिस पर शशांक नरेन्द्रगुप्त बैठा है। शशांक की अवस्था लगभग ३५ वर्ष की है। वह गौर वर्ण का ऊँचा और हृष्ट-पुष्ट शरीर का व्यक्ति है। सिर, मूँछों और गलमुच्छों के बाल काले हैं। श्वेत रंग का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है। सिर खुला है और मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड है। कानों में कुण्डल, गले में हार, भुजाओं में केयूर, हाथों में वलय और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ हैं। सभी भूषण सुवर्ण के रत्न-जटित हैं। शयन के पास ही एक सुवर्णमण्डित आसंदी पर यशोधवलदेव बैठा है। यशोधवल-

देव की अवस्था लगभग ६५ वर्ष की है। वह भी गौर वर्ण का ऊँचा-पूरा हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति है। सिर, मूँछों और दाढ़ी के सब केश श्वेत हो गये हैं। दाढ़ी वक्षस्थल तक फैली हुई है। वह भी उत्तरीय और अधोवस्त्र तथा शशांक के सदृश ही भूषण धारण किये हैं। आयुध भी लगाए है। शशांक और यशोधवल दोनों के सिर झुके हुए हैं। दोनों के मुखों पर चिन्ता का साम्राज्य है। दो खाली आसंदियाँ शयन के सामने रखी हैं। दालान में निस्तब्धता छायी हुई है।]

यशोधवल—(धीरे-धीरे सिर उठाते हुए) तो वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करना ही परम प्रतापी गुप्त-वंश के वंशज, परमभट्टारक महाराजाधिराज शशांक नरेन्द्रगुप्त का अन्तिम निर्णय है?

शशांक—(सिर उठाते हुए) जिनकी गोद में मैं छोटे से बड़ा हुआ हूँ, जिनकी गोद में मैंने अगणित बाल-क्रीड़ाएँ की हैं, उनसे मैं वाक्युद्ध नहीं करना चाहता। महाबलाधिकृत, आप मेरे सेनानायक ही न होकर पितृव्य भी हैं। इस समय वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करने के अतिरिक्त मैं कोई अन्य उपाय ही नहीं देखता।

यशोधवल—(कुछ ठहरकर, सोचते हुए) 'इस समय' का क्या अर्थ है परमभट्टारक? एक बार अधीनता स्वीकार कर वर्द्धनों को अपना स्वामी मान कर फिर उनसे विश्वासघात करने की क्या आपकी इच्छा है? राज्यवर्द्धन की हत्या के समय आप उनके माण्डलीक न थे, परन्तु अब तो...।

शशांक—(बीच ही में) जिस प्रकार आप मुझसे 'इस समय' का अर्थ पूछते हैं उसी प्रकार वाक्युद्ध न करने की इच्छा रहते हुए भी मैं क्या आपसे 'विश्वासघात' शब्द का अर्थ पूँछ सकता हूँ?

यशोधवल—विश्वासघात, विश्वासघात शब्द का अर्थ? स्पष्ट है,

महाराजाधिराज। आपने अभी-अभी कहा कि इस समय वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं दिखायी पड़ता। इन शब्दों के उपयोग से ही स्पष्ट हो जाता है कि आप वर्द्धनों को केवल इस समय अपना स्वामी बना रहे हैं और समय परिवर्तित होते ही.... होते ही.......होते ही........।

शशांक—हाँ, समय परिवर्तित होते ही मैं इन वर्द्धनों के विरुद्ध विद्रोह करूँगा।

यशोधवल—यह क्या स्वामी के प्रति विश्वासघात न होगा?

शशांक—जब मैं आरम्भ से ही, इसी उद्देश से उनकी अधीनता स्वीकार कर रहा हूँ तब विश्वासघात कैसा?

यशोधवल—परन्तु, आप विद्रोह करेंगे यह आशंका रखकर वे आपको अपना माण्डलीक नहीं बना रहे हैं। माण्डलीक बनाने और बनने के पश्चात् चक्रवर्ती और माण्डलीक दोनों में एक प्रकार की मित्रता हो जाती है, दोनों के बीच विश्वास की एक ग्रन्थि बँध जाती है; दोनों के सुख-दुःख दोनों के आनन्द-कष्ट, एक हो जाते हैं। एक-दूसरे को सुखी करना, कष्टों के अवसर पर एक-दूसरे को सहायता पहुँचाना दोनों का कर्तव्य हो जाता है। अधीनता स्वीकार करने के पूर्व मस्तक को उन्नत रखने के प्रयत्न और इस प्रयत्न में यदि प्राण-विसर्जन करना पड़े तो इसके लिए भी पीछे न हटने के लिए मैं सहमत हूँ। **(एकाएक आसंदी पर से खड़े हो, कोष में से खड्ग निकालते हुए)** इस खड्ग की धार अभी भी वैसी ही पैनी है, परम-भट्टारक। **(हाथों को आगे बढ़ाकर)** इन हाथों में अभी भी वैसा ही बल है, महाराजाधिराज। निकलिए, कर्ण-सुवर्ण के इस राज-प्रासाद से बाहर निकल, गुप्त-वंश के मान और मर्यादा की रक्षा कीजिए। **(एकाएक जोश ठण्डा हो जाता है।)** परन्तु ... परन्तु यदि एक बार आप अधीनता

स्वीकार कर लेते हैं, एक बार . . . एक बार वर्द्धनों को अपना स्वामी बना लेते हैं तो . . . तो फिर 'इस समय' शब्दों का आश्रय लेकर विद्रोह की कल्पना का हृदय से मूलोच्छेदन कर दीजिए। राज्यवर्द्धन की हत्या के समान अन्य किसी षड्यन्त्र के विचार को भी हृदय से निकाल फेंकिए। **(लम्बी साँस लेकर आसंदी पर बैठ जाता है।)**

शशांक—(सिर नीचा कर, कुछ सोचते हुए फिर, सिर उठाकर) महाबलाधिकृत, आपसे वाक्युद्ध की इच्छा न रहते हुए भी, मुझे आज वह करना पड़ेगा, इसका मुझे बड़ा खेद है। देखिए, आर्य, जीवन के आपके और मेरे दृष्टि-कोण में बड़ा भारी अन्तर है। जिसे आप मेरा और मेरे वंश का गौरव कहते हैं उस गौरव की रक्षा यदि न होती हो तो आप प्राण देकर इस संकट से छुटकारा पाने के लिए तैयार हैं, परन्तु उस गौरव की रक्षा के लिए मैं इससे कहीं आगे बढ़ना चाहता हूँ। रही आपकी यह स्वामी-सेवक-सम्बन्ध की व्याख्या, सो यह तो मेरी समझ में ही नहीं आती। हमारा और वर्द्धनों का स्वामी-सेवक-सम्बन्ध कैसा ? वे इस समय प्रबल हो गये हैं, अतः हम तब तक के लिए उनकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं जब तक हमारा बल नहीं बढ़ जाता। अब रहा आपका विश्वासघात, सो, आर्य, मैं अपने किसी दैहिक सुख अथवा स्वार्थ के लिए किसीसे विश्वासघात करूँ तो पातकी हूँ। किसी महान् कार्य की सिद्धि के लिए, किन उपायों का अवलम्बन किया गया, यह बात गौण है; कार्य की सिद्धि मुख्य बात है। **(धीरे-धीरे)** राज्यवर्द्धन की हत्या किसी महान् कार्य के लिए की गयी थी। यदि वर्द्धनों के विरुद्ध विद्रोह और शिलादित्य की हत्या भी किसी महान् कार्य के लिए की जाय तो ये कर्म पाप न होकर पुण्य ही होंगे। फिर, महाबलाधिकृत, आप तो केवल मेरे और मेरे वंश के गौरव की रक्षा के लिए वर्द्धनों से युद्ध और युद्ध में प्राण त्याग करना चाहते हैं, परन्तु उनकी अधीनता स्वीकार करने में मेरा तो इससे भी कहीं महान्

उद्देश है, जो इस युद्ध और प्राण-त्याग से सिद्ध नहीं हो सकता।

यशोधवल—वह क्या ?

शशांक—आर्य-धर्म की रक्षा। आप जानते हैं, शिलादित्य और उसका सहचर गुप्त-वंश का वह कुल-कलंक माधवगुप्त दोनों बौद्ध हैं। यदि इस समय मैंने शिलादित्य से युद्ध किया तो उसकी विजय निश्चित है। मेरा युद्ध में निधन होते ही गुप्त-साम्राज्य माधव के हाथ में जायगा, वह वर्द्धनों का माण्डलीक होगा और उसके माण्डलीक होते ही सारे उत्तरापथ का राज्य-धर्म पुनः बौद्ध-धर्म होगा और पुनः आर्यावर्त पर बौद्ध-धर्म की ध्वजा फहराने लगेगी। इस समय वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करने और अवसर पाते ही उनके विरुद्ध विद्रोह कर शिलादित्य को भी राज्यवर्द्धन के मार्ग से ही भेज देने से आर्य-धर्म की भी रक्षा हो जायगी। यह तो सौभाग्य का विषय है कि वर्द्धन इस समय मुझे माण्डलीक बना लेना ही राज्यवर्द्धन की हत्या का समुचित दण्ड मानते हैं और युद्ध अथवा मेरा निधन उन्हें इष्ट नहीं है।

यशोधवल—परन्तु.....।

[प्रतिहारी का प्रवेश। उसकी वेश-भूषा स्थाण्वीश्वर के प्रतिहारी के सदृश ही है।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) परमभट्टारक की जय हो, गुप्त-चराधिपति परमभट्टारक के दर्शन किया चाहते हैं।

शशांक—उन्हें भेज दो।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर प्रस्थान। गुप्तचराधिपति का प्रवेश। वह अभिवादन करता है । वह लगभग ३० वर्ष की अवस्था का

गेहुँएँ रंग का साधारण उँचाई और शरीर का व्यक्ति है। वेश-भूषा यशोधवल के समान है।]

शशांक—कहो, क्या स्थाण्वीश्वर अथवा कान्यकुब्ज का कोई संवाद है?

गुप्तचराधिपति—हाँ, परमभट्टारक, अभी-अभी बड़े महत्व का संवाद आया है।

शशांक—बैठ जाओ और कहो।

गुप्तचराधिपति—**(एक आसंदी पर बैठकर)** राज्यश्री के मिल जाने तथा शिलादित्य को उसे लेकर कान्यकुब्ज जाने का संवाद तो आपके पास पहुँच ही चुका होगा।

शशांक—हाँ, उसे तो यथेष्ट समय भी हो चुका।

गुप्तचराधिपति—अव संवाद है कि राज्यश्री का उन्माद अच्छा हो गया है और शिलादित्य उसे कान्यकुब्ज के सिंहासन पर बैठाना चाहते हैं।

शशांक—**(चौंककर)** स्त्री को राज्यसिंहासन पर! एक विधवा स्त्री को!

गुप्तचराधिपति—हाँ, परमभट्टारक, यही संवाद है।

शशांक—**(यशोधवल से)** देखा, आर्य, देखा, यह बौद्ध-धर्म की पुनः स्थापना का श्रीगणेश है। गौतम ने पुरुषों के समान स्त्रियों को संन्यास का अधिकार दिया था, शिलादित्य पुरुषों के समान स्त्रियों को सिंहासनाधिकार देना चाहता है। आह! यह वर्णाश्रम और स्त्री-पुरुषों के कर्तव्यों में विभेद माननेवाले आर्य-धर्म पर उस बौद्ध-धर्म का, जिसमें न वर्ण है

और न आश्रम, जिसमें न पुरुषों के कर्तव्य भिन्न हैं और न स्त्रियों के, प्रधान आक्रमण है। देखता हूँ, देखता हूँ कि शिलादित्य इस देश में पुनः बौद्ध-धर्म की स्थापना में सफल होता है या मैं आर्य-धर्म की रक्षा में।

[नेपथ्य में भट्टचारण का गायन सुन पड़ता है। शशांक बड़े ध्यान से इस गायन को सुनता है। पल-पल पर उसके मुख पर उत्साह के भाव बढ़ते जाते हैं। यशोधवल सिर नीचा किये हुए इस गायन को सुनता है। उसके नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं। गुप्तचराधिपति कभी शशांक का मुख देखता है और कभी यशोधवल का।]

कहाँ था उस प्रताप का पार ?
गुप्त-वंश में अमला-धवला करतीं कीर्ति बिहार ॥
थे उद्भासित चण्ड-शौर्य के शुभ्र तेज़ से अंग,
परम पुनीत धर्म धृति अविचल रखती शान्ति अभंग,
कण-कण में थी ललित कला-रति करती मधु-संचार ॥
कहाँ था उस प्रताप का पार ?
पिता-पुत्रयुत चन्द्रगुप्त थे जिनके शौर्य निधान,
वे थे उदधि-गभीर वीर अति उदधि गुप्त मतिमान,
हिमगिरि से दक्षिण वारिधि तक फैलाया अधिकार ॥
कहाँ था उस प्रताप का पार ?
हूण-युद्ध की सघन निशा में स्कन्दगुप्त असिधार,
भारत-गगन-हृदय पर ध्रुव-सी चमकी थी अविकार,
परिणय-सुख तज, था अपनाया केवल शौर्य अपार ॥
कहाँ था उस प्रताप का पार ?

शशांक—(उत्साह से गद्‌गद् होकर) यह गुप्त-वंश का कीर्ति-गान है। (यशोधवल से) अभी भी, अभी भी, आर्य, देश में भट्टचारण मेरे वंश की कीर्ति गाते-फिरते हैं। अभी भी देश गुप्तों को नहीं भूला है, क्यों?

यशोधवल—और इतने पर भी, इतने पर भी, परमभट्टारक, वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करने के पक्ष में हैं।

शशांक—(कुछ सोचते हुए) मैं.....मैं, आर्य, मैं हृदय से शासित न होकर मस्तिष्क से शासित होता हूँ। (कुछ ठहरकर) अच्छा, अब शीत बढ़ रही है। कक्ष में चला जाय।

[तीनों का प्रस्थान। स्वच्छ छः वस्त्रधारी दासों का प्रवेश। दो शयन को तथा चार चारों आसंदियों को उठाकर ले जाते हैं। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—स्थाण्वीश्वर के राज-प्रासाद का एक कक्ष

समय—सन्ध्या

[यह कक्ष भी लगभग उसी प्रकार का है जैसा पहले अंक के पहले दृश्य में था। दाहनी और बाँयीं ओर की भित्तियों के सिरे पर एक-एक द्वार है, जिनके बाहर उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है। डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणें उसे रँग रही हैं। उस कक्ष और इस कक्ष में अन्तर इतना ही है कि इसकी भित्तियों का रंग उससे भिन्न है और आसंदियों के स्थान पर इसके बीच में काष्ठ का एक शयन रखा है। इसपर भी गद्दी बिछी है और तकिये लगे हैं, जो श्वेत वस्त्र से ढँके हैं। शयन के दोनों ओर कुछ आसंदियाँ रखी हुई हैं। शयन पर राज्यश्री बैठी हुई है। अब वह श्वेत रंग की कौशेय साड़ी पहने है और उसी रंग का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। भूषणों से अभी भी उसका शरीर रहित है। उसके वस्त्र अब अस्त-व्यस्त नहीं हैं, न केश ही फैले हुए हैं, मुख पर उन्माद के

चिन्ह भी नहीं हैं, पर, शोक अभी भी दृष्टिगोचर होता है और शोक के साथ अत्यधिक गाम्भीर्य। शयन के निकट की आसंदी पर उसकी सखी अलका बैठी है। अलका गेहुँएँ वर्ण की सुन्दर युवती है। वेश-भूषा राज्यश्री के समान ही है, केवल इतना अन्तर है कि इसके मस्तक पर टिकली है। राज्यश्री तम्बूरा बजाकर गा रही है।]

सच्चा इष्ट एक बलिदान।
इसी इष्ट से मानव-तन का हुआ सृष्टि में श्रेष्ठ स्थान॥
धन को जब धनवान,
विद्या को विद्वान्,
बल को जब बलवान,
करते हैं बलिदान,
तब उनके सुख का शब्दों में हो सकता क्या कभी बखान?
क्षुधितों, दलितों की सेवा में जो तज देता है निज प्रान।
उस बड़भागी के सम जग में किसका है सौभाग्य महान?

[गान पूर्ण होने पर तम्बूरा रख देती है।]

अलका—कितना सुन्दर गायन है, राजपुत्री; और फिर कितनी सुन्दरता से आपने गाया है।

राज्यश्री—(लम्बी साँस लेकर) यह गान-विद्या ही तो मेरी शान्ति का एक अवलम्ब है, अलका। अत्यधिक शोक में जब मुझे उन्माद-सा हो गया था तब कारागृह और विन्ध्य-पर्वत-प्रदेश, दोनों ही स्थलों पर इसीसे थोड़ी शान्ति मिलती थी। (कुछ ठहरकर सोचते हुए) पर नहीं, उस समय इसके अतिरिक्त एक और भी अवलम्ब था।

अलका—वह क्या, राजपुत्री?

राज्यश्री—तुम्हारा नाम। उस समय का मुझे पूर्ण स्मरण तो नहीं है, परन्तु कुछ-कुछ स्मरण अवश्य है। मुझे स्मृति आती है कि अनेक बार मुझे ऐसा भास होता था कि तुम मेरे संग ही हो और मैं जो कुछ कहना चाहती, तुम्हींको सम्बोधन कर कहती थी।

अलका—इसका कारण आपका मुझ पर अत्यधिक प्रेम है, राजपुत्री।

राज्यश्री—क्यों, अलका ? तुम्हारा भी तो मुझ पर उसी प्रकार का प्रेम है। क्या मैंने सुना नहीं है कि मेरे वियोग में तुम्हारी क्या दशा थी ? अब यदि मैंने भिक्षुणी होने का विचार किया है तो तुमने भी मेरा संग देने का निश्चय कर डाला। **(लम्बी साँस लेकर, नेत्रों में आँसू भर)** या तो वे जीवन के चिर-संगी थे या तुम हो।

अलका—**(आँसू भरकर)** राजपुत्री, परमभट्टारक की बात तो उनसे ही थी। वे दिन ही अब स्वप्न हो गये। आपके तो इस दुःख का वर्णन ही नहीं हो सकता, राजपुत्री। परन्तु, आपकी वर्तमान अवस्था देखकर मेरे हृदय की भी जो अवस्था है वह मैं ही जानती हूँ।

राज्यश्री—**(आँसू बहाते हुए)** क्या करोगी, अलका, अपना-अपना भाग्य तो है। वह सुख कदाचित् अत्यधिक था। दैव भी कदाचित् उसे न सह सकता था। उसे भी कदाचित् उससे ईर्षा उत्पन्न हो गयी थी। **(कुछ ठहरकर, चौंककर, आँसू पोंछते हुए)** पर, नहीं, सखि, मैंने अब जिस पथ पर चलने का विचार किया है उसमें तो शोक का कोई स्थान नहीं। ये समस्त लौकिक सुख अनित्य हैं, स्वप्न हैं। तुम जानती ही हो कि भगवान् बुद्ध के चार सत्यों का ज्ञान और अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण, जो यथार्थ में सर्वस्व बलिदान कर लोक-सेवा करना है, किसी दुःख को पास फटकने

ही नहीं दे सकता। जब मैं इस पथ की पथिक होने चली हूँ तब शोक का मेरे निकट स्थान ही कहाँ ?

अलका—आप जो कुछ कहती हैं, ज्ञान-दृष्टि से सत्य होने पर भी, उसे व्यवहार में लाने के लिए कदाचित् कुछ समय लगेगा। इसलिए हम दोनों भगवान बुद्ध के उपदेश का बार-बार स्मरण करके भी फिर उसी शोक-नद में बहने लगती हैं।

राज्यश्री—हाँ, अलका, जो वर्षों तक होता रहा है उसे एकाएक विस्मृत नहीं किया जा सकता। किसी बात का ज्ञान एक बात है और उस ज्ञान को पूर्णरूप से कार्य में परिणत करना दूसरी। परन्तु, इस ज्ञान-रूपी नौका के खेने में यदि हम दोनों एक दूसरे की सहायता करती रहीं तो एक न एक दिन इस शोक-नद को पार कर ही लेंगी।

[कुछ देर को दोनों चुप रहती हैं।]

अलका—राजपुत्री, परमभट्टारक तो आपको कान्यकुब्ज के सिंहासन पर बैठाना चाहते हैं न ?

राज्यश्री—हाँ, उन्हें सदा इसी प्रकार की नयी-नयी बातें सूझा करती हैं, परन्तु यह असम्भव बात है।

अलका—यह क्यों ?

राज्यश्री—पति के साथ पत्नी का राज्याभिषेक होना दूसरी बात है, परन्तु एक तो पृथक् रूप से अब तक इस देश में किसी स्त्री का राज्याभिषेक नहीं हुआ, दूसरे मैं विधवा, विधवा को आर्य-समाज में किसी भी मंगल-कार्य में भाग लेने का अधिकार नहीं। और, राज्य में तो अभिषेक से लेकर मृत्यु तक मंगल ही मंगल-कार्य करने पड़ते हैं। तीसरे मैं भिक्षुणी होने जा रही हूँ और वे मुझे महिषी बनाने चले हैं। यहाँ से

वहाँ तक सब असंगत बातें। कान्यकुब्ज के सिंहासन को मैं कदापि स्वीकार नहीं कर सकती।

अलका—उसे कौन स्वीकृत करेगा?

राज्यश्री—शिलादित्य।

अलका—परन्तु मैंने तो सुना है कि वे कान्यकुब्ज का राज्य इसलिए नहीं ग्रहण करना चाहते कि वह कनिष्ठा भगिनी का राज्य है।

राज्यश्री—ये सब निरर्थक बातें हैं। उन्हें कान्यकुब्ज का सिंहासन स्वीकार करना ही होगा।

[हर्ष का दाहने ओर के द्वार से प्रवेश। अब वे श्वेत कौशेय के उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। दोनों की सुनहरी किनार है। उत्तरीय के कोनों पर राजहंस बने हैं। साथ ही कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ भी पहने हैं। सब भूषण सुवर्ण के हैं जो रत्नों से जगमगा रहे हैं। सिर के बाल अब लम्बे हो गये हैं और सिर पर अर्द्ध चन्द्राकार-रूप में पगड़ी के समान पुष्पमाला बँधी हुई है। मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड है और पैरों में काष्ठ की पादुका। पादुकाओं में सुवर्ण और रत्न लगे हुए हैं। हर्ष को देखकर राज्यश्री और अलका दोनों खड़ी हो जाती हैं।]

हर्ष—**(शयन की ओर बढ़ते हुए)** कहो, राज्यश्री, कैसा स्वास्थ्य है? **(शयन पर बैठते हैं।)**

राज्यश्री—अच्छी ही हूँ। **(वह भी शयन पर बैठती है।)**

हर्ष—**(अलका से)** तुम भी बैठो, अलका, इस समय राजपुत्री को और तुम्हें एक आवश्यक संवाद सुनाने के लिए आया हूँ।

अलका—जो आज्ञा, परमभट्टारक। **(एक आसंदी पर बैठ जाती है।)**

हर्ष—राज्यश्री, मैंने तुम्हारे अभिषेक का मुहूर्त्त निकलवा लिया है। अक्षय तृतीया को यह अक्षय कार्य किया जायगा।

राज्यश्री—**(व्यंग से)** मेरे भिक्षुणी-पद का अभिषेक न ?

हर्ष—**(जल्दी से)** नहीं, नहीं, तुम्हारे कान्यकुब्ज के राज्य-पद का अभिषेक। तुम्हारी इच्छानुसार धर्म-शिक्षा के लिए मैंने तुम्हारे अध्यापक की नियुक्ति कर दी है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हारा भिक्षुणी होना भी मुझे स्वीकृत है।

राज्यश्री—शिलादित्य, तुम्हारी अवस्था मुझसे कुछ अधिक है, अतः मैं यह तो कैसे कहूँ कि तुम कई बार बालकों की-सी बातें करते हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेरे इस अभिषेक के सम्बन्ध में तुम कुछ इसी प्रकार की बातें किया करते हो।

हर्ष—इसमें बालकों की-सी क्या बात है ?

राज्यश्री—और नहीं तो क्या है ?

हर्ष—पर, क्यों ?

राज्यश्री—क्यों क्या, कहीं ऐसा हो सकता है ?

हर्ष—क्यों नहीं हो सकता ?

राज्यश्री—आज तक कभी ऐसा हुआ है ?

हर्ष—आज तक कभी कोई राजपुत्री भिक्षुणी हुई है ?

राज्यश्री—राजपुत्री चाहे न हुई हो, सहस्रों स्त्रियाँ हुई हैं, परन्तु पति के संग को छोड़कर, पृथक् रूप से आज-पर्यन्त इस देश में किसी स्त्री का राज्याभिषेक नहीं हुआ।

हर्ष—पति के संग तो हुआ है न ?

राज्यश्री—वह दूसरी बात है।

हर्ष—क्यों, दूसरी बात क्यों है ?

राज्यश्री—इसलिए कि उस समय यथार्थ में पति का राज्याभिषेक होता है, पत्नी का नहीं, वह तो उनकी सहधर्मिणी के समान केवल उनके संग सिंहासन पर बैठी रहती है।

हर्ष—और बिना पत्नी के अकेले पति का राज्याभिषेक होता है या नहीं ?

राज्यश्री—क्यों नहीं होता ? अभी तुम्हारा ही हुआ है।

हर्ष—तब पत्नी का भी पति के समान पृथक् रूप से राज्याभिषेक क्यों नहीं हो सकता ?

राज्यश्री—**(तीक्ष्ण स्वर में)** शिलादित्य, शिलादित्य, तुम कैसी बातें करते हो, कहीं विधवा का राज्याभिषक हो सकता है ?

हर्ष—विधुर का हो सकता है या नहीं ?

राज्यश्री—परन्तु विधवा को किसी मंगल-कार्य में भाग लेने का अधिकार नहीं है।

हर्ष—यह विधवा के प्रति घोर अन्याय है। जो विधवा समाज में ब्रह्मचर्य और सेवा का अद्‌भुत आदर्श उपस्थित करने के लिए समस्त लौकिक सुखों को तिलांजलि देकर आजन्म तपस्या करती है, उसे मंगल-कार्यों में भाग लेने का अधिकार नहीं ! आह ! सच तो यह है कि प्रत्येक मंगल-कार्य का आरम्भ ही आर्यों को उस तपस्विनी के हाथों कराना चाहिए। वह तो समाज के लिए साक्षात देवी है, राज्यश्री, साक्षात देवी।

राज्यश्री—(**कुछ ठहरकर**) शिलादित्य, इन सब बातों में तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है; इनका निर्णय परम्परागत परिपाटी से होता है।

हर्ष—जो परिपाटी तर्क के सम्मुख नहीं ठहर सकती उसका कोई मूल्य नहीं है।

राज्यश्री—यह तुम्हारा हठ है।

हर्ष—कदापि नहीं, मैं किसी बात पर निरर्थक हठ नहीं करना चाहता। या तो तर्क कर कोई मुझे यह सिद्ध कर दे कि मेरा अमुक मत ठीक नहीं है, या वह मेरा मत मान ले। अमुक बात आज-पर्यन्त नहीं हुई है इसलिए वह आज, और भविष्य में भी नहीं हो सकती, यह मैं नहीं मानता। यदि कोई बात आज-पर्यन्त नहीं हुई है और वह उचित है तो अवश्य होनी चाहिए। अब तक स्त्रियाँ पुरुषों की अनुगामिनी रही हैं। पुरुषों का स्थान समाज में ऊँचा और स्त्रियों का निम्न माना गया है। भगवान बुद्ध ने स्त्रियों को पुरुषों की अनुगामिनी न मान कर, संगिनी मान, उन्हें धार्मिक कार्यों में पुरुषों के समान ही अधिकार दे दिये हैं। सद्धम्म में यदि पुरुष भिक्षु हो सकते हैं तो स्त्रियाँ भी भिक्षुणी। मैं राज-काज में भी स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने की परिपाटी चलाना चाहता हूँ। यदि पुरुष सिंहासनासीन हो सकते हैं, तो स्त्रियाँ भी, विधवाएँ भी। मेरे इस प्रयत्न की सफलता तुम पर अवलम्बित है। तुम्हारा यह ज्येष्ठ भ्राता, तुम्हारा यह प्यारा भ्राता शिलादित्य, तुमसे कान्यकुब्ज के सिंहासन को ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करता है। (**उत्तरीय को दोनों हाथों से फैलाकर राज्यश्री के आगे करते हुए**) नहीं, नहीं, तुमसे इसे स्वीकार करने की भिक्षा माँगता है।

[राज्यश्री शीघ्रतापूर्वक अपने हाथ से हर्ष के उत्तरीय को समेट देती है। उसके नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं। वह सिर झुका लेती है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

राज्यश्री—(धीरे-धीरे) शिलादित्य, तुमने मुझे बड़ी कठिन परिस्थिति में डाल दिया।

हर्ष—किस प्रकार, राज्यश्री ?

राज्यश्री—(सिर उठाते हुए) परम्परागत परिपाटी को यदि मैं एक ओर रख भी दूँ तो तुम जानते हो, मैं अपने दुःख से निवृत्त होने के लिए पहले चितारोहण करना चाहती थी।

हर्ष—जानता हूँ।

राज्यश्री—वह तुमने न करने दिया, तब मैंने भिक्षुणी होने का विचार किया।

हर्ष—यह भी जानता हूँ।

राज्यश्री—और उसके स्थान पर तुम मुझे राज्य ग्रहण करने के लिए कह रहे हो। कह रहे हो इतना ही नहीं, अत्यधिक आग्रह कर रहे हो, और आग्रह कर रहे हो इतना ही नहीं, भिक्षा माँग कर बाध्य कर रहे हो।

हर्ष—देखो, राज्यश्री, मेरी भी इच्छा राज्य ग्रहण करने की न थी। मैं आर्य-धर्म का अनुसरण कर, संन्यासी हो, वन में जाकर केवल अपने कल्याण का चिन्तन नहीं करना चाहता था, क्योंकि वह तो स्वार्थ हो जाता। मैं भी वास्तव में भिक्षु होकर मठ में निवास कर संसार का कल्याण करना चाहता था। संसार के कल्याण में दत्तचित्त रहने पर अपना कल्याण तो आप-से-आप हो जाता है, उसके लिए चिन्तन करने के स्वार्थ में भी पड़ने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु, मैंने वह भी न कर उसी कार्य को, राज्य ग्रहण करके, करने का निश्चय किया है। तुम भी तो भिक्षुणी होकर संसार के कल्याण में ही दत्तचित्त होना चाहती हो न ?

राज्यश्री—अवश्य ।

हर्ष—वह तुम राज्य ग्रहण करने पर, यदि उसमें ममत्व न रखोगी तो, भिक्षुणी होने की अपेक्षा कहीं अधिक कर सकोगी । अन्त में यही सोचकर मैंने भी राज्य ग्रहण कर लिया और इतने ही दिनों के अनुभव से मैं देखता हूँ कि मैंने राज्य ग्रहण कर कोई भूल नहीं की है ।

[राज्यश्री फिर कोई उत्तर नहीं देती और सिर झुका लेती है । कुछ देर को फिर निस्तब्धता रहती है ।]

राज्यश्री—**(धीरे-धीरे)** क्या तुम्हारा विश्वास है कि मुझसे राज-काज चल सकेगा ?

हर्ष—तुम्हारे सदृश विचक्षण बुद्धिमती और विदुषी नारी से यदि राज-काज नहीं चलेगा तो फिर किससे चलेगा ? मुझे इस बात का विश्वास है कि तुम यह आदर्श उपस्थित कर सकोगी कि महिलाएँ भी उसी प्रकार राज-काज कर सकती हैं जिस प्रकार पुरुष, वरन् उनसे भी कहीं अच्छा । यदि मुझे इतना विश्वास न होता तो मैं तुमसे इस सम्बन्ध में इतना आग्रह न करता । फिर इस विषय में मैंने एक और निश्चय किया है ।

राज्यश्री—वह क्या ?

हर्ष—मैं स्वयं तुम्हारे संग कान्यकुब्ज में रहूँगा ।

राज्यश्री—और स्थाण्वीश्वर का राज्य ?

हर्ष—वह कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य होगा ।

राज्यश्री—**(चौंककर)** क्या कहते हो, क्या कहते हो, शिलादित्य ! यह त्याग ! यह अपूर्व त्याग !

हर्ष—इसमें इतना ही तो त्याग है न कि, मैं सम्राट् न हुआ और तुम सम्राज्ञी हुईं ?

राज्यश्री—यह क्या छोटा त्याग है ? एक-एक कौड़ी के लिए सहोदर भ्राता एक दूसरे का सिर काटने को उद्यत रहते हैं और तुम इतने बड़े साम्राज्य को ठोकर मार रहे हो।

हर्ष—राज्य का इस दृष्टि से मेरे सामने कभी महत्व ही नहीं रहा। मैंने उसे राजा के पास प्रजा की धरोहरमात्र माना है। **(कुछ ठहरकर)** तुम्हारे सम्राज्ञी और मेरे माण्डलीक होने में एक और बड़ा भारी उद्देश है।

राज्यश्री—वह क्या ?

हर्ष—तुम्हें स्मरण होगा कि मैंने तुमसे कहा था कि भारतवर्ष का कल्याण भारत को एक साम्राज्य में परिणत करने से ही हो सकता है।

राज्यश्री—हाँ, कहा था।

हर्ष—और तुम यह भी जानती हो कि मैं रक्तपात के विरुद्ध हूँ, क्योंकि एक तो सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्यवर्ग के कृत्यों में रक्तपात को मेरी दृष्टि से कोई स्थान ही नहीं है, फिर रक्तपात द्वारा जिस साम्राज्य की स्थापना होती है वह कभी चिरस्थायी नहीं रह सकता।

राज्यश्री—तुम्हारे इन मतों को मैं भलीभाँति जानती हूँ और तुम्हारे इन मतों से सहमत भी हूँ।

हर्ष—ऐसी परिस्थिति में, यदि मैं सारे देश में एक साम्राज्य की स्थापना के उद्देश को स्पष्ट कर स्वेच्छापूर्वक तुम्हारा माण्डलीक हो गया तो अन्य राज्यों के लिए एक उदाहरण हो जायगा और मैं अन्य राज्यों को

समझा-बुझा कर बिना रक्तपात के ही साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न करूँगा।

[कुछ देर तक फिर निस्तब्धता रहती है।]

हर्ष—फिर अब तो तुम्हें स्वीकार है न?

राज्यश्री—(**कुछ सोचते हुए**) मैं क्या कहूँ, कुछ कहा नहीं जाता। न जाने भाग्य मुझे कहाँ ले जा रहा है। चितारोहण से सिंहासनारोहण तक तो बात आ गयी है। भविष्य में न जाने और क्या होना है। (**कुछ ठहरकर**) तुमने मुझे इस प्रकार विवश किया है कि मैं कुछ कह ही नहीं सकती। जो तुम्हारी इच्छा हो, करो। तुम ज्येष्ठ भ्राता हो। मैं तुम्हारी आज्ञा का अनुसरण करूँगी। (**आँखों में आँसू भर आते हैं।**)

[परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज का मार्ग

समय—प्रातःकाल

[दूरी पर अनेक खण्डों के भवन दिखायी देते हैं। चौड़ा मार्ग है। अनेक पुरवासियों का, एक समूह में बाँयीं ओर से प्रवेश। इस समूह में सभी वर्णों और अवस्थाओं के व्यक्ति हैं। सब श्वेत रंग के उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं; कोई कौशेय के और कोई सूती; किसीके वस्त्र मोटे और किसीके पतले हैं; किसी-किसीके वस्त्रों पर सुनहरा और रुपहरा काम है। ब्राह्मण आभूषण

नहीं पहने हैं। चौड़ी शिखाओं के अतिरिक्त उनके सिर के शेष केश घुटे हुए हैं। किसी-किसीकी दाढ़ी-मूँछें भी घुटी हैं। वे मस्तक, वक्षस्थल और भुजाओं पर भस्म के त्रिपुण्ड लगाए हैं। किसी-किसीका मोटा यज्ञोपवीत भी दिखता है। अन्य वर्णों के व्यक्ति मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड लगाए हैं, तथा कुण्डल, हार, केयूर, वलय, मुद्रिकाएँ आदि आभूषण भी पहने हैं। सबके आभूषण सुवर्ण के हैं और किसी-किसीके भूषणों में रत्न भी जड़े हैं। आगे चलनेवाले के हाथ में चाँदी का एक थाल है, जिसमें कुंकुम, अक्षत, श्रीफल, कर्पूर और पुष्प-मालाएँ हैं। दाहनी ओर से चार ब्राह्मणों का प्रवेश। चारों की अधेड़ अवस्था है। इनकी वेश-भूषा भी समूह के ब्राह्मणों के सदृश ही है।]

दाहनी ओर से आया हुआ एक ब्राह्मण—(क्रोधित और उत्तेजित स्वर में) अच्छा, अन्त में कान्यकुब्ज के भी प्रायः सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति राज्यश्री के अभिषेक के इस घोर अधर्म-काण्ड में सहयोग करने को तैयार हो गये ?

उसका दूसरा साथी—और ब्राह्मण भी ?

समूह का एक ब्राह्मण—(आगे बढ़कर) देखिए बन्धुओ, आप वृथा का क्रोध कर रहे हैं।

दाहनी ओर का तीसरा—(क्रोध से) वृथा का क्रोध कर रहे हैं ! अरे ! धर्म के इस नाश का अवलोकन करके भी यदि ब्राह्मण को क्रोध न आयगा तो किसे आयगा ?

चौथा—(क्रोध से काँपते हुए) तुम क्रोध की बात करते हो। यदि ब्राह्मणों में सच्चा ब्राह्मणत्व होता, अरे ! यदि एक में भी होता, तो वह शाप देकर इस सारे आयोजन को भस्म कर देता।

समूह का पहला ब्राह्मण—ब्राह्मणों में जब से क्रोध का प्रादुर्भाव हुआ है तब से दूसरों का नाश करना तो दूर रहा उनका स्वयं नाश हो रहा है।

समूह का दूसरा ब्राह्मण—(**आगे बढ़कर**) हाँ, हाँ, हम लोगों के पतन का आरम्भ यथार्थ में दुर्वासा के समय से ही हुआ। इन्होंने जब वृथा के लिए राजा अम्बरीप को शाप दिया और जब भगवान का सुदर्शन-चक्र उन पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ा तब तीनों लोकों में भागने पर भी उन्हें शान्ति न मिली और अन्त में ब्राह्मण होकर उन्हें क्षत्रिय अम्बरीष के शरण आना पड़ा।

उसका पहला साथी—हाँ, वहीं से ब्राह्मणों का पतन आरम्भ हुआ, वहीं से; नहीं तो ब्राह्मण कभी क्षत्रिय के शरण जा सकता था?

समूह का तीसरा ब्राह्मण—(**आगे बढ़कर**) फिर, बन्धुओ, यह तो बतलाइए कि हम अधर्म का कौनसा कार्य कर रहे हैं?

दाहनी ओर का पहला—स्त्री का राज्याभिषेक अधर्म नहीं तो क्या है?

उसका तीसरा साथी—वह भी विधवा का, जिसे किसी भी मंगल-कार्य में भाग लेने का अधिकार नहीं है।

उसका चौथा साथी—आज-पर्यन्त कभी ऐसी घटना हुई है?

दूसरा—सर्वथा शास्त्र-निषिद्ध है, सर्वथा शास्त्र-निषिद्ध। नहीं तो महाराज दशरथ की मृत्यु और राम के वनवास के पश्चात् जब भरत ने अवध का राज्य ग्रहण न किया तब राम की पादुका अवध के सिंहासन पर क्यों रखी जाती, कौशल्या का अभिषेक न होता? महाराज पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् अन्धे धृतराष्ट्र हस्तिनापुर के सिंहासन पर क्यों बैठते, कुन्ती का अभिषेक न होता?

तीसरा—हाँ, हाँ, भारत के इतिहास में एक भी तो ऐसा दृष्टान्त दिखा दीजिए जहाँ पृथक् रूप से स्त्री का, और वह भी विधवा स्त्री का, राज्याभिषेक हुआ हो ?

समूह का तीसरा—परन्तु, किसी भी शास्त्र में यह कहीं नहीं लिखा कि स्त्री और विधवा का अभिषेक न किया जाय।

समूह का पहला—और फिर परिस्थिति के अनुसार शास्त्रों में सदा परिवर्तन भी तो होता है। जब हम स्मृतियों का अध्ययन करते हैं तब यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। एक स्मृति में यदि किसी विषय पर एक आज्ञा है तो दूसरी में ठीक उसके विपरीत।

समूह का दूसरा—हाँ, हाँ, ब्राह्मण चाणक्य ने शूद्र चन्द्रगुप्त को समस्त भारत का सम्राट् बना उसका राज्याभिषेक किया था। उसके पूर्व किसी शूद्र का राज्याभिषेक नहीं हुआ था। आज हम एक विधवा स्त्री के राज्याभिषेक में सहयोग देकर, स्त्रियों और विधवा स्त्रियों तक को, सिंहासनासीन होने का अधिकार है, यह सिद्ध कर देंगे।

समूह का तीसरा—और यह कार्य भी तो कान्यकुब्ज देश का एक परम विद्वान् ब्राह्मण, राज्य का महाधर्माध्यक्ष ही करा रहा है।

दाहनी ओर का पहला—राज-सत्ता ने उसे धन देकर मोल ले लिया है।

समूह का चौथा ब्राह्मण—(**आगे बढ़कर क्रोध से**) बस, बस, आगे एक शब्द नहीं, उन्हें मोल ले लिया है ! जिह्वा को थोड़ा वश में रखकर वाक्य मुख से निकालो। सारे कान्यकुब्ज देश में उनके समान विद्वान्, त्यागी और निस्पृह ब्राह्मण न मिलेगा, उनके लिए ऐसे वाक्य !

समूह का पहला—(**अपने साथी के कन्धे को थपथपाते हुए**)

शान्त, बन्धु, शान्त, हमको क्रोध नहीं करना है। हम जो उचित समझते हैं वह हम करें, दूसरे जो उचित समझते हैं वह उन्हें करने दें। मनुष्य जब अपने मार्ग पर बलपूर्वक दूसरे को चलाने का प्रयत्न करता है तभी कलह की उत्पत्ति होती है। हम कलह नहीं करना चाहते।

दाहनी ओर का दूसरा—देखिए, बन्धुओ, मैं आप लोगों को एक बात और भी सूचित कर देना चाहता हूँ।

समूह का पहला—क्या ?

दाहनी ओर का दूसरा—आप जिस कार्य में सहयोग देने जा रहे हैं वह हमारे आर्य-धर्म के प्रतिकूल है इतना ही नहीं, आप आर्य-धर्म के स्थान पर बौद्ध-धर्म को उत्तेजना देने का भी पातक कर रहे हैं।

समूह का पहला—यह कैसे ?

दाहनी ओर का दूसरा—हर्षवर्द्धन और राज्यश्री दोनों, यथार्थ में बौद्ध-धर्म के अनुयायी हैं। आपने सुना ही होगा कि हर्षवर्द्धन स्थाण्वीश्वर का राज्य ग्रहण करने के पूर्व, चाहे वे बौद्ध न हो गये हों, किन्तु बौद्ध-भिक्षुओं के समान चीवर पहने रहते थे। राज्यश्री तो बौद्ध-भिक्षुणी होना चाहती थी इसमें सन्देह ही नहीं। आज हर्षवर्द्धन स्त्री का अभिषेक करा, स्त्री-पुरुषों के विभिन्न धर्मों और कर्तव्यों पर कुठाराघात करने जा रहे हैं, और कल वे समस्त वर्णों को एक करने का प्रयत्न कर, जिस वर्णाश्रम की नींव पर आर्य-धर्म खड़ा हुआ है, उसीको खोद डालने का प्रयत्न करेंगे, क्योंकि बौद्ध-धर्म में वर्णाश्रम का कोई स्थान नहीं है। बौद्धों ने अब तक आर्य-धर्म को छिन्न-भिन्न करने का कम उद्योग नहीं किया। जिस गुप्त-साम्राज्य ने आर्य-धर्म का जीर्णोद्धार किया उस साम्राज्य का हूणों की सहायता कर बौद्धों ने ही नाश कराया है। आप लोग जो कुछ करने जा रहे हैं, उसे बहुत सोच-समझ कर कीजिए।

समूह का एक युवक—(आगे बढ़कर) यह सब आप क्या अनर्गल बक रहे हैं? आर्य-धर्म और बौद्ध-धर्म क्या कोई पृथक्-पृथक् धर्म है?

दाहनी ओर का दूसरा—पृथक् नहीं तो क्या हैं?

वही युवक—कदापि नहीं। बौद्ध-धर्म को मैं आर्य-धर्म की ही एक शाखा मानता हूँ। जब ब्राह्मणों ने यज्ञों की भरमार की, हिंसा को सर्वोच्च शिखर पर बैठा दिया तब भगवान ने गौतम का अवतार धारण कर आर्य-धर्म का संशोधनमात्र किया है। 'आर्य-धर्म नष्ट हो रहा है', 'वर्णाश्रम-धर्म पर आपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा है' इस प्रकार चिल्ला-चिल्लाकर ब्राह्मणों ने, और 'सद्धम्म संकट में है,' 'सद्धम्म का नाश करने पर ब्राह्मण कटिबद्ध हुए हैं' इस प्रकार चिल्ला-चिल्लाकर बौद्धों ने एक ही देश में रहनेवालों, एक ही जाति और सभ्यता के अनुयायियों में परस्पर झगड़ा मचवा देश को यथेष्ट हानि पहुँचायी है। अब क्षमा कीजिए, आप धर्माचार्यगण, क्षमा कीजिए।

दाहनी ओर का तीसरा—ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य वर्णों को धर्म पर विवाद करने का कोई अधिकार नहीं है।

समूह का दूसरा युवक—(आगे बढ़कर) देखिए, मैं तो इस सारे विषय को एक दूसरी ही दृष्टि से देखता हूँ। राज्यश्री हमारे कान्यकुब्ज देश की महिषी हैं। मौखरि वंश में यदि कोई पुरुष नहीं बचा तो स्त्री को कान्यकुब्ज के सिंहासन पर बिठा हर्षवर्द्धन कान्यकुब्ज देश पर बड़ा भारी उपकार कर रहे हैं। इतना ही नहीं, वे स्थाण्वीश्वर को हमारे देश का माण्डलीक राज्य बना, एक अपूर्व त्याग कर, हमारे देश के गौरव को बढ़ा रहे हैं। हमारे देश पर, हमारे देश की सत्ता रहे, और हमारे देश का महत्व बढ़े, हमें इससे अधिक हर्ष की और कोई बात ही न होनी चाहिए।

समूह का एक अधेड़ व्यक्ति—(आगे बढ़कर) देखिए, बन्धुओ, न तो यह स्थान शास्त्रार्थ का है और न अन्य चर्चाओं का। यह तो थोड़ा निर्जन पथ था अन्यथा यह झगड़ा सुनकर अभी यहाँ एक भीड़ इकट्ठी हो गयी होती। राज्याभिषेक का समय हो रहा है। ठीक समय हमें वहाँ पहुँचना है।

समूह का एक और व्यक्ति—हाँ, हाँ, इस प्रकार के विवादों का अन्त थोड़े ही हो सकता है।

समूह के कुछ व्यक्ति—(एक साथ) हाँ, हाँ, चलिए, चलिए।

[समूह का दाहनी ओर प्रस्थान। पर, समूह के ब्राह्मणों में से एक अधेड़ अवस्था का ब्राह्मण, जिसने इस विवाद में कोई भाग न लिया था, ठहर जाता है।]

ठहरा हुआ ब्राह्मण—(समूह के जाने के पश्चात् दाहनी ओर से आये हुए दूसरे ब्राह्मण से) आपकी सब बातों में बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी बात उपयुक्त थी। हर्ष अपने को शैव कहते हुए भी अवश्य बौद्ध है।

दाहनी ओर का दूसरा—हाँ, हाँ, प्रच्छन्न बौद्ध है।

ठहरा हुआ—और राज्यश्री का अभिषेक यथार्थ में आर्य-धर्म के मूलोच्छेदन और बौद्ध-धर्म को राज्य-धर्म बनाने का पुनः श्रीगणेश है।

दूसरा—इसमें सन्देह ही नहीं, परन्तु कठिनाई तो यह है कि लोग समझते नहीं।

ठहरा हुआ—आपके कथन का मुझ पर इतना प्रभाव पड़ा कि मैं उस समूह के संग जा ही नहीं सका। **(कुछ ठहरकर)** मेरे मन में तो एका-

एक यह बात उठी है कि जिस प्रकार बौद्धों ने गुप्त-साम्राज्य को नष्ट कर दिया उसी प्रकार हमें इस वर्द्धन-सत्ता का नाश करना चाहिए।

दूसरा—यदि ऐसा किया जा सके तो क्या पूछना है।

पहला—निस्सन्देह।

ठहरा हुआ—अवश्य किया जा सकता है। मैं अर्कमण्य होकर नहीं रह सकता। या तो मैं राज्यश्री के राज्याभिषेक में सम्मिलित हो इस राज्य से सहयोग करता या अब इस राज्य का नाश ही कर दूँगा।

पहला—**(प्रसन्न होकर)** यह किस प्रकार कीजिएगा, बन्धु ?

ठहरा हुआ—संगठन करके। आज कान्यकुब्ज में इस राज्य की स्थापना हो रही है और आज ही से हम इसके नाश का संगठन करेंगे।

पहला—मैं इस कार्य में योग देने को तैयार हूँ।

दूसरा—मैं भी।

तीसरा—मैं भी।

चौथा—और मैं भी।

ठहरा हुआ—और आप लोग जानते हैं कि हमारे इस शुभ कार्य में किससे सहायता मिलेगी ?

पहला—किससे ?

ठहरा हुआ—गुप्तवंशीय गौड़ाधिपति आर्य-धर्म के कट्टर भक्त परम-भट्टारक महाराजाधिराज शशांक नरेन्द्रगुप्त से।

दूसरा—परन्तु, शशांक ने तो वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार कर ली है। मैंने सुना है कि हर्ष के सदश वे भी राज्यश्री के माण्डलीक होंगे।

ठहरा हुआ—(**आश्चर्य से**) आर्य-धर्म के कट्टर भक्त शशांक, बौद्ध हर्ष के माण्डलीक! एक स्त्री के माण्डलीक! हो नहीं सकता; असम्भव है।

तीसरा—असम्भव; हर्ष की अधीनता उन्होंने स्वीकार कर ली है, यह तो सारा देश जानता है। न जाने आप ही इस बात से कैसे अनभिज्ञ हैं, और राज्यश्री के माण्डलीक होने वे यहाँ आ भी गये हैं। आज के राज्याभिषेक में अन्य माण्डलीकों के समान वे भी राज्यश्री का अभिवादन करेंगे।

चौथा—(**सिर नीचा कर कुछ सोचते हुए**) देखो, बन्धुओ, शशांक बड़े भारी राजनीतिज्ञ हैं। मैंने सुना है कि हर्ष की अधीनता स्वीकार करने में उनका आन्तरिक अभिप्राय समय पाकर इस सत्ता को उलट देना है। वही कदाचित् राज्यश्री के माण्डलीक होने में भी होगा।

ठहरा हुआ—(**प्रसन्न होकर**) हाँ, हाँ, यही बात है, यही बात है, अन्यथा आर्य-धर्म के कट्टर भक्त शशांक कभी ऐसा पातक कर सकते? कभी नहीं। मैंने बहुत सोच-विचार कर अपनी सहायता के लिए उनका नाम लिया था। उनसे अपने को सहायता मिलेगी, अवश्य मिलेगी।

तीसरा—देखो, बन्धुओ, इस सत्ता के नाश के लिए मैं आपमें-से किसीसे भी कम चिन्तित नहीं हूँ, परन्तु यदि हमारा कार्य ऐसी दिशा की सहायता पर अवलम्बित हो, जहाँ से सहायता के स्थल पर, उल्टा हमारा भण्डा-फोड़ हो जावे, तो मैं इस संगठन में सम्मिलित नहीं रह सकता। हर्ष ऐसे मूर्ख नहीं कि शशांक को बिना पूर्ण विश्वास के ऐसे अवसर पर अपना माण्डलीक बनाते, जब वे सहज में परास्त कर उनका वध कर सकते थे।

चौथा—कभी-कभी आप बड़ी बे-समझी की बात कह बैठते हैं। शशांक का वध हर्ष के लिए असम्भव था।

तीसरा—यह क्यों ?

चौथा—इसलिए कि वे माधवगुप्त के बान्धव हैं। माधवगुप्त शशांक को क्षमा कराना चाहते थे; फिर भला हर्ष उन्हें प्राण-दण्ड क्योंकर देते ? माधवगुप्त की इच्छा के विरुद्ध हर्ष कभी कोई कार्य कर सकते हैं? **(ठहरे हुए व्यक्ति की ओर संकेत कर)** हमारे इन बन्धु का कथन सर्वथा ठीक है। शशांक से हमें अपने कार्य में पूर्ण सहायता मिलेगी; इतना ही नहीं, शशांक के कारण माधवगुप्त से भी और इस प्रकार इस बौद्ध-साम्राज्य का शीघ्र ही नाश हो सकेगा।

[नेपथ्य में गायन की ध्वनि सुन पड़ती है।]

पहला—लीजिए, स्त्रियों का भी एक समूह आ रहा है। अब तो सहन-शक्ति के बाहर की बात हो गयी। चलो, बाबा, लौट चलें, जहाँ को जा रहे थे वहाँ अन्य किसी मार्ग से जायँगे। इन स्त्रियों से कौन विवाद करेगा।

[दाहनी ओर से आये हुए चारों, और समूह में का ठहरा हुआ एक, इस प्रकार पाँचों ब्राह्मण दाहनी ओर से जाते हैं। बाँयीं ओर से स्त्रियों का एक समूह आता है। सभी वर्णों और अवस्था की स्त्रियाँ हैं। सभी भिन्न-भिन्न रंगों की साड़ियाँ पहने हैं और वक्षस्थलों पर वस्त्र बाँधे हैं; किसीके वस्त्र कौशेय के हैं और किसीके सूती; किसीके पतले हैं, किसीके मोटे। किसी-किसीके वस्त्रों पर सुनहरा और रुपहरा काम भी है। सभी पटबन्ध, कर्ण-कुसुम, बेसर, चन्द्रहार, भुजबन्ध, कंकण, आरसी और मुद्रिकाएँ आदि आभूषण पहने हैं। सबके भूषण सुवर्ण के हैं, किसी-किसी में रत्न भी जड़े हैं। पैरों में सब स्त्रियाँ चाँदी के भूषण धारण किये हुए हैं। स्त्रियाँ गा रही हैं।]

आज हम होंगी धन्य महान,
प्राप्त कर सबसे ऊँचा स्थान।

अब तक मानव-वृन्द में, दक्षिण-वाम-विभाग—
न थे तुल्य, पर, अब खुला वाम-भाग का भाग।
हर्ष ने दोनों को सम जान,
किया यह राज्यश्री का मान ॥

[स्त्रियों का गाते हुए प्रस्थान। कुछ देर तक नेपथ्य से गायन-ध्वनि आती रहती है जो शनैः शनैः दूर जाकर बन्द हो जाती है। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज के राज-प्रासाद का सभा-कक्ष

समय—प्रातःकाल

[सभा-कक्ष लगभग उसी प्रकार का है जैसा स्थाण्वीश्वर का सभा-कक्ष था। दोनों ओर की भित्तियों के सिरों पर दो द्वार हैं जो अन्य कक्षों में खुलते हैं। इन कक्षों का बहुत थोड़ा भाग दिखायी देता है। पीछे की भित्ति के बीचोंबीच, उसके निकट ही, स्वर्णमण्डित सिंहासन रखा है। सिंहासन के पाये सिंहाकार बने हैं। सिंहासन पर सुनहरे काम की गद्दी बिछी है और उसी प्रकार के तकिये लगे हैं तथा उसके नीचे पैर रखने के लिए स्वर्ण का, गद्दीदार पादपीठ रखा है। सिंहासन के दाहनी ओर एक सुवर्ण के मोटे स्तम्भ पर केशरी रंग का ध्वज है, जिसपर वृषभ का चित्र बना है। ध्वज-स्तम्भ से लगी हुई, सिंहासन के दाहनी ओर, एक पंक्ति में अनेक सुवर्ण और सिंहासन के बाँयीं ओर एक पंक्ति में अनेक रजतमण्डित आसंदियाँ रखी हैं। सभी पर गद्दियाँ बिछी हैं तथा तकिये लगे हैं, जो श्वेत वस्त्र से

ढँके हैं। सिंहासन और सिंहासन के आसपास की आसंदियों की पंक्तियों के सामने अर्द्ध-चन्द्राकार-रूप में आसंदियों की कई पंक्तियाँ रखी हुई हैं। ये आसंदियाँ काष्ठ की हैं और इन पर भी श्वेत वस्त्र से ढँकी हुई गद्दियाँ बिछी हैं तथा उन पर श्वेत वस्त्र से ढँके हुए तकिये लगे हैं। इन आसंदियों का मुख सिंहासन की ओर है। इन आसंदियों की पंक्तियों के ठीक बीच से सिंहासन तक जाने के लिए मार्ग है जिससे ये पंक्तियाँ दो विभागों में बँट गयी हैं। सभा-कक्ष कदली वृक्षों, पल्लव-पुष्प के वन्दनवारों और मंगल-कलशों से सुसज्जित है। स्थान-स्थान पर सुवर्ण की धूपदानियों में धूप जल रही है। सिंहासन रिक्त है। ध्वज-स्तंभ के निकट की पहली आसंदी पर महाधर्माध्यक्ष बैठा हुआ है। यह गौरवर्ण का ऊँचा, वृद्ध ब्राह्मण है। लगभग ७० वर्ष की अवस्था है। सिर पर चौड़ी श्वेत शिखा और वक्ष-स्थल तक लम्बी श्वेत दाढ़ी है। शरीर की जो रोमावली दिखती है वह भी सब श्वेत हो गयी है। श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है। उत्तरीय में से श्वेत मोटा यज्ञोपवीत दिखायी देता है। मस्तक, वक्षस्थल और भुजाओं पर भस्म के त्रिपुण्ड लगे हैं। पैरों में काष्ठ की पादुका है। उसके निकट की आसंदी पर हर्ष बैठे हैं। उनकी वेश-भूषा इस अंक के दूसरे दृश्य के समान है, परन्तु आज सुनहरी कोष में कटि से खड्ग भी लटक रहा है जो उस समय नहीं था। हर्ष के निकट की दो आसंदियों पर कामरूप-नरेश कुमारराज भास्कर वर्मन और गौड़ाधिपति शशांक नरेन्द्रगुप्त बैठे हैं। इनके पश्चात् इस ओर की अन्य आसंदियों पर कुल-पुत्र विराजमान हैं। सभी की वेश-भूषा हर्ष के सदृश है। सिंहासन के बायीं ओर की आसंदियों पर सामन्तगण बैठे हैं। इन्हींमें अवन्ति, सिंहनाद भण्डि और माधवगुप्त दिखायी पड़ते हैं। सामन्तों की वेश-भूषा भी हर्ष के ही समान है। सिंहासन के सामने की आसंदियाँ, जो अर्द्धचन्द्राकार रूप में रखी हुई हैं, रिक्त हैं। नेपथ्य में पंच महावाद्य बाजे बज रहे हैं जिनका

थोड़ा-थोड़ा शब्द सभा-कक्ष में सुन पड़ता है। दाहने ओर के द्वार से प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी---(अभिवादन कर) जय हो, महाराजाधिराज, प्रजा के पुरुष-प्रतिनिधियों का समूह द्वार पर आया है।

[हर्ष खड़े होकर दाहनी ओर के द्वार तक जाते हैं। उनके खड़े होते ही अन्य व्यक्ति भी खड़े हो जाते हैं। प्रतिहारी अभिवादन कर दाहने ओर के द्वार से बाहर जाता है। प्रजा-प्रतिनिधियों का दाहने द्वार से प्रवेश। हर्ष ब्राह्मणों को हाथ जोड़कर अभिवादन करते हैं। वे दोनों हाथ उठा कर हर्ष को आशीर्वाद देते हैं। शेष लोग झुक-झुककर हर्ष का अभिवादन करते हैं। हर्ष मस्तक झुका उसका उत्तर देते हैं। हर्ष सबों को अर्द्धचन्द्राकार चौकियों के वाम-विभाग में बिठाकर पुनः अपने स्थान पर बैठते हैं। अन्य व्यक्ति भी बैठ जाते हैं। नेपथ्य में गायन की ध्वनि सुन पड़ती है। प्रतिहारी का पुनः दाहनी ओर के द्वार से प्रवेश।]

प्रतिहारी---(अभिवादन कर) जय हो, महाराजाधिराज, प्रजा के महिला-प्रतिनिधियों का समूह भी द्वार पर आ गया है।

[हर्ष खड़े होकर पुनः दाहनी ओर के द्वार तक जाते हैं। उनके खड़े होने पर अन्य व्यक्ति भी खड़े होते हैं। प्रतिहारी अभिवादन कर दाहनी द्वार से बाहर जाता है। दाहनी ओर से गायन गाते हुए महिला-समूह का प्रवेश। सभा-भवन में प्रवेश करते ही वे गायन बन्द कर देती हैं। हर्ष महिला-समूह के हाथ जोड़ते हैं। वे सब झुककर हर्ष का अभिवादन करती हैं। हर्ष उन्हें अर्द्धचन्द्राकार चौकियों के दाहने विभाग में बिठाकर अपने स्थान पर बैठते हैं। शेष सभासद भी बैठ जाते हैं। कुछ देर सभा-कक्ष में निस्तब्धता रहती है, परन्तु बाहर बजते हुए पंच महावाद्यों की धीमी-धीमी ध्वनि बराबर आती रहती है।]

महाधर्माध्यक्ष—(हर्ष से) मैं समझता हूँ, अब तो सभी आमंत्रित जन उपस्थित हो गये, अभिषेक का मुहूर्त्त-काल भी थोड़ा ही शेष है, परमभट्टारक।

हर्ष—मैं अभी राजपुत्री को लाता हूँ, आर्य।

[हर्ष का बाँयें द्वार से प्रस्थान। उनके उठते ही सब खड़े हो जाते हैं और उनके जाने पर फिर सब बैठ जाते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। बाँयें द्वार से प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—जय, परममाहेश्वरी, परमादित्य-भक्त, महिषी, राज्यश्री, महादेवी की जय!

[सब सभासद खड़े हो जाते हैं। शिविका पर राज्यश्री का प्रवेश। शिविका सुवर्ण की है। उसके ऊपर छाया नहीं है, अर्थात् ऊपर से खुली हुई है। उसे आठ शिविका-वाहक उठाए हुए हैं। वे श्वेत अधोवस्त्र पहने हैं और उनका उत्तरीय शिविका उठाने के कारण सिर पर बँधा हुआ है। वे भी कुण्डल, हार, केयूर और वलय पहने हैं। उनके भूषण सुवर्ण के हैं। शिविका में गद्दी बिछी है और तकिये लगे हुए हैं। तकिये के सहारे राज्यश्री बैठी हुई है। वह अभी भी श्वेत कौशेय की साड़ी पहने है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। भूषणों से अभी भी उसका शरीर रहित है। उसके मुख पर उदासी के चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। शिविका के एक बगल में हर्ष और दूसरे बगल में अलका हैं। अलका की वेश-भूषा पहले के समान ही है। राज्यश्री हाथ जोड़कर ब्राह्मणों का अभिवादन करती है। वे दोनों हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हैं। शेष स्त्री-पुरुष मस्तक झुकाकर राज्यश्री का अभिवादन करते हैं और वह थोड़ा-सा सिर झुका कर उनका उत्तर देती है। शिविका सिंहासन के निकट रखी जाती है। राज्यश्री उससे उतर कर सिंहासन के एक ओर खड़ी होती है। उसीके

निकट हर्ष और अलका खड़ी हो जाती है। शिविका-वाहक, शिविका उठा कर बाँयीं ओर के द्वार से बाहर जाते हैं। बाँयीं ओर के द्वार से सात स्त्रियों का प्रवेश। सातों स्त्रियाँ सुन्दरी हैं और उनकी अवस्था २० और २५ वर्ष के बीच में है। वे केशरी वस्त्र धारण किये हुए हैं, तथा सुवर्ण के भूषण पहने हैं। इन सात स्त्रियों में छै, दो-दो की पंक्ति में हैं, और एक सबके पीछे। पहली दो स्त्रियों के हाथों में सुवर्ण का एक-एक थाल है। एक थाल में रत्नों से देदीप्यमान राजमुकुट और राजदंड तथा दूसरे थाल में अभिषेक की सामग्री है। इन दोनों के पीछे की दो स्त्रियाँ कन्धों पर सुवर्ण की डाँड़ियोंवाले सुरागाय की पुच्छ के श्वेत चँवर रखे हैं। इनके पीछे की दो स्त्रियों के हाथ में चन्दन की डाँड़ियों के खश के दो व्यजन हैं और इनके पीछे की एक स्त्री के हाथ में हाथीदाँत की डाँड़ी का श्वेत छत्र है, जिसमें मोतियों की झालर लगी हुई है। सातों स्त्रियाँ सिंहासन के निकट बढ़ती हैं। पाँच तो सिंहासन के पीछे जाकर, छत्र-वाहिका बीच में तथा उसके उभय ओर एक-एक चामर-वाहिका और एक-एक व्यजन-वाहिका खड़ी हो जाती हैं और थालवाली दोनों स्त्रियाँ धर्माध्यक्ष के निकट खड़ी होती हैं।]

महाधर्माध्यक्ष—(राज्यश्री से) आप सिंहासनासीन हों, देवि।

[राज्यश्री काँपते हुए पैरों और उदास मुख से सिंहासन पर बैठती है। महाधर्माध्यक्ष थाल में से राजमुकुट उठाकर उसके मस्तक पर रख, राजदंड उसके हाथ में देता है। फिर दूसरे थाल में से सुवर्ण का कलश उठा कुश से मार्जन का मंत्र बोलते हुए उसका मार्जन करता है। इसके पश्चात् महाधर्माध्यक्ष अपने स्थान पर बैठता है। छत्र-वाहिका राज्यश्री के सिर पर छत्र लगाती तथा चामर और व्यजन-वाहिकाएँ चामर और व्यजन डुलाना आरम्भ करती हैं।]

प्रतिहारी—जय, परमभट्टारिका, परममाहेश्वरी, परमादित्य-भक्त, परमेश्वरी, महाराज्ञी, सम्राज्ञी, राज्यश्री महादेवी की जय !

सब सभासद—(एक स्वर से)—परमभट्टारिका, महाराज्ञी, सम्राज्ञी, राज्यश्री महादेवी की जय !

[प्रतिध्वनि होती हैं। हर्ष, कुमारराज भास्कर वर्मन और शशांक एक पंक्ति में तथा इन तीनों के पीछे कुल-पुत्र और सामन्तगण सिंहासन के सामने जाकर खड्ग निकाल, खड्ग मस्तक तक ले-जाकर राज्यश्री का अभिवादन करते हैं। राज्यश्री काँपते हुए परों से खड़े होकर मस्तक झुका अभिवादन का उत्तर देती है। प्रजा के स्त्री-पुरुष-प्रतिनिधि पुष्पों की वर्षा कर पुनः जय-जयकार करते हैं जिसकी प्रतिध्वनि होती हैं।]

यवनिका-पतन

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज के राज-प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[दालान उसी प्रकार की है जैसी दूसरे अंक के पहले दृश्य में थी, परन्तु इसकी भित्ति का रंग उससे भिन्न है। दालान में सुवर्णमण्डित शयन रखा हुआ है, जिसमें रत्न जड़े हैं। शयन पर सुनहरी काम की गद्दी बिछी है और इसी प्रकार के तकिये लगे हैं। शयन के निकट ही सुवर्णमण्डित एक आसंदी रखी है और उसपर भी इसी प्रकार की गद्दी बिछी तथा तकिये लगे हैं। राज्यश्री शयन पर बैठी हुई हैं। आसंदी पर अलका बैठी है। शयन के एक ओर एक दासी खड़ी हुई सुवर्ण की रत्नजटित डाँड़ीवाला चामर डुला रही है। राज्यश्री की अवस्था अब लगभग ४३ वर्ष की है। उसका शरीर यद्यपि वैसा ही है, पर, सिर के केश यत्र-तत्र श्वेत हो गये हैं और मस्तक पर कुछ रेखाएँ तथा नेत्रों के आसपास काले गढ़े एवं कुछ झुर्रियाँ पड़ गयी हैं। ४३ वर्ष की अवस्था में ही उसपर

वृद्धावस्था का प्रभाव दिखायी पड़ रहा है। वह श्वेत कौशेय की साड़ी धारण किये हुए है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। सदा के समान उसका शरीर आभूषणों से रहित है। अलका की अवस्था राज्यश्री से यद्यपि अधिक है, परन्तु देखने में कम जान पड़ती है। उसके केश अभी भी काले हैं और मुख पर झुर्रियाँ आदि नहीं हैं। उसकी वेश-भूषा भी पहले के समान ही है। दासी केशरी रंग की साड़ी और सुवर्ण के आभूषण पहने हुए है। राज्यश्री तम्बूरा बजाकर गा रही है।]

मधुप-मुकुल का कैसा संग ?
जहाँ स्वार्थ-परमार्थ-विरोधी, रँगे एक ही रंग ॥
ले मधु उड़-उड़ मधुप मुकुल-कुल कर विस्तृत यह सिद्ध-
गूँज-गूँज कर करता, जग में केवल स्वार्थ-निषिद्ध ॥
सतत विलोका, जड़-कृमि तक का यद्यपि यों सम्बन्ध ।
सकल सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ यह मानव तब भी अन्ध ॥

राज्यश्री—(गाना पूर्ण होने पर तम्बूरा रखते हुए) अलका, आज मुझे सिंहासन ग्रहण किये अट्ठाइस वर्षों के सात युग पूरे होते हैं। यद्यपि अब मैं कपिशा, काश्मीर और नैपाल से लेकर नर्मदा तक एवं पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक के परम सुन्दर एवं सभ्य आर्यावर्त की सम्राज्ञी हूँ, यद्यपि आज सारे आर्यावर्त में मेरे सिंहासनासीन होने के सातवें युग का उत्सव मनाया गया है तथापि मुझे आज सबसे अधिक अशान्ति और निराशा है।

अलका—वह तो मैं देख रही हूँ, परमभट्टारिका, सात युगों से लगातार आपकी मानसिक अशान्ति देखती आ रही हूँ और आज भी देख रही हूँ।

राज्यश्री—मेरा व्यक्तिगत दुःख तो अलग बात है, अलका, वह तो

सदा ही मेरे हृदय को आच्छादित किये रहता है। इतना ही नहीं, जब-जब मैं प्राणेश्वर के सिंहासन पर पैर रखती हूँ तब-तब वह और भी अधिक जाग्रत हो उठता है, जान पड़ता है, इस जन्म में वह कभी भी विस्मृत न होगा, परन्तु, उसके अतिरिक्त आज तो एक दूसरी ही अशान्ति और निराशा चित्त को व्यथित किये हुए है।

अलका—वह क्या, सम्राज्ञी ?

राज्यश्री—वह यह, अलका, कि शिलादित्य और मैं ठीक मार्ग से अपने कर्तव्यों का पालन कर रहे हैं या नहीं।

अलका—इस पर तो विचार करना ही निरर्थक है, परमभट्टारिका। सारा आर्यावर्त आज एक स्वर से कह रहा है कि आप भगिनी-भ्राता का यह संयुक्त-राज्य-संचालन सभी दृष्टियों से प्रजा के लिए हितकर हुआ है। सत्ता का प्रधान कार्य जो प्रजा में सुख-सम्पत्ति की वृद्धि है, वह हर प्रकार से हुई है। कृषि, व्यापार और कला-कौशल की आशातीत उन्नति के कारण प्रजा में अतुल धन बढ़ा है। प्रजा-जनों के कष्टों की सुनवायी के लिए पूर्ण व्यवस्था है। प्रजा में शिक्षा का महान् प्रचार हुआ है। उन्हें औषधोपचार के हर प्रकार के साधन उपलब्ध हैं। यात्रा एवं यात्रा के समय मार्ग में उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं।

राज्यश्री—यह सब तो हुआ है, अलका, परन्तु यह सारा कार्य उस पल्लवित और पुष्पित वृक्ष के सदृश है, जिसकी जड़ पृथ्वी के भीतर गहरी न जाकर किसी चट्टान पर हो। हाल ही में मौर्य और गुप्त-साम्राज्य में भी यह सब हुआ था। वह कितने दिनों तक टिका ? शिलादित्य की सम्मति के अनुसार मैंने सिंहासन ग्रहण करने के दिन घोषणा की थी कि यह राज्य समस्त भारतवर्ष में एक धर्म, एक भाषा और एक-से सामाजिक संगठन पर सारे देश में एक राष्ट्र की स्थापना का उद्योग करेगा, जिससे इस देश

का साम्राज्य चिरस्थायी रह सके । यद्यपि सारा आर्यावर्त अब एक साम्राज्य के अन्तर्गत है, परन्तु एक राष्ट्र का निर्माण मुझे अभी भी उतनी ही दूरी पर दिखता है जितना आज के अट्ठाइस वर्ष पूर्व था।

अलका—(**कुछ सोचते हुए**) यह तो सत्य जान पड़ता है, महाराज्ञी। परन्तु, इसका क्या कारण है?

राज्यश्री—मुख्य कारण एक ही है।

अलका—वह क्या?

राज्यश्री—शिलादित्य और मुझे जो आशा थी कि साम्राज्य में बराबरी के अधिकार देने से समस्त देश के नरपतिगण उसमें स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होने के लिए आगे बढ़ेंगे, वह आशा पूर्ण न हुई। अतः शिलादित्य के पहले छः वर्ष तथा उसके पश्चात् का भी बहुत-सा समय युद्ध तथा विप्लवों की शान्ति एवं अन्य राज्य-काज के पचड़ों में ही बीता। फिर जो नरपति साम्राज्य के अन्तर्गत आये हैं उनकी दृष्टि भी इस ओर न होकर अपना-अपना बल बढ़ाने की ओर ही है।

अलका—(**कुछ ठहरते और विचारते हुए**) तो जो व्यक्तिगत स्वार्थ हरएक महान् कार्य के मार्ग में बाधक होता है वही आपके और महाराजाधिराज के शुभ संकल्पों में भी बाधक हो रहा है।

राज्यश्री—हाँ, अलका। वही व्यक्तिगत स्वार्थ, अनेक बार आज का-सा विचार मेरे मन में उठता था, प्रत्येक युग के अन्त में, जब मैं युग भर के कार्यों का सिंहावलोकन करती थी, तब यह विचार और भी प्रबल हो जाता था, परन्तु अभी तक मुझे युद्ध समाप्त होने की आशा थी। युद्धों की समाप्ति होते ही हम दोनों इसी एक कार्य में लग जायँगे इसका भी विश्वास था। अभी वल्लभी की विजय के पश्चात् यह विश्वास और भी

दृढ़ हो गया था, परन्तु आज, जब से दक्षिण भारत पर आक्रमण करने का निर्णय हुआ है, तब से तो मैं बहुत ही अशान्त और निराश हो गयी हूँ।

[नेपथ्य में दूरी पर गायन की ध्वनि सुन पड़ती है, परन्तु गायन दूरी पर होने के कारण समझ में नहीं आता।]

राज्यश्री—जयमाला गा रही है, अलका।

अलका—हाँ, सम्राज्ञी, आप उसे भी इस विद्या में दक्ष बना रही हैं।

राज्यश्री—**(कुछ ठहरकर)** अलका, मनुष्य के हृदय में सन्तान की कितनी इच्छा होती है, ज्यों-ज्यों उसकी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों-त्यों बाल-लीला देखने का, उसके हृदय में कितना चाव होता जाता है। विवाह न कर यौवन-सुखों के समस्त भोगों की तिलांजलि देने पर भी, आठों पहर और चौंसठों घड़ी प्रजा की सेवा में दत्तचित्त रहने पर भी, शिलादित्य इस सुख से वंचित रहने का साहस न कर सके। यदि वे स्वयं विवाह कर सन्तान का सुख देखने में असमर्थ रहे तो उन्होंने परायी पुत्री को ही अपनी पुत्री मान कर इस अपूर्व सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है।

अलका—**(कुछ ठहरकर सोचते हुए)** क्यों, सम्राज्ञी, परमभट्टारक को सन्तान न होने के कारण क्या अब किसी प्रकार का दुःख रहता है?

[शनैः शनैः अब गायन की ध्वनि समीप आने लगती है।]

राज्यश्री—**(कुछ सोचते हुए)** यह कहना तो कठिन है, अलका, क्योंकि इस सम्बन्ध में वे कभी कोई बात ही नहीं करते, परन्तु उनका हृदय इतना महान् है कि उसमें कदाचित् अपने-पराये का भेद-भाव ही नहीं है। जय-

माला पर उनका उतना ही प्रेम है जितना अपनी निज की पुत्री पर हो सकता है।

[अब गायन की ध्वनि और भी समीप आती है।]

अलका—और आपका हृदय क्या कम महान् है, सम्राज्ञी ? आप भी तो जयमाला पर उतना ही स्नेह करती हैं जितना परमभट्टारक।

[जयमाला का प्रवेश। वह लगभग १२ वर्ष की अत्यन्त सुन्दर गौर वर्ण की बालिका है। रुपहरी कामवाली कौशेय की रेशमी साड़ी पहने हैं, तथा उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। श्वेत हीरे से जड़े हुए आभूषणों से उसके अंग-प्रत्यंग देदीप्यमान हैं। जयमाला गा रही है।]

कितना द्रव्य दिया भगवान ?
तुमने तो देने में रक्खा कभी न मितव्ययिता का ध्यान ॥
नित्य प्रात में कोसों तक तुम फैला देते कांचन-पत्र।
शुक्ल-शर्वरी-मध्य सतत ही छिटकाते चाँदी सर्वत्र ॥
निशा में नित अगणित हीरक,
दमकते द्यौ में चमक-चमक,
पयोधों में पन्ना-मानक,
चमकते नभ में दमक-दमक,
तृष्णा का तब भी अवसान
मानव-मन से हुआ न तो तुम कर सकते क्या कृपानिधान ?
कितना द्रव्य दिया भगवान ?

सोने-चाँदी के निर्जीव—
टुकड़े औ' कङ्कड़-पत्थर के संग्रह में जग व्यग्र अतीव;

निर्धन तथा महा धनवान,
गुणी तथा सम्राट् महान,
इसी कार्य में लगे हुए हैं धर्म-कर्म इसको ही मान।
लूटमार जो करते उसको नीति-युक्त कहते हा ! ज्ञान ॥
कितना द्रव्य दिया भगवान ?

राज्यश्री—(रूखी मुस्कराहट से) जयमाला, आज तो तूने सचमुच गायन को इस प्रकार गाया जैसे तू गान-विद्या में पण्डिता हो गयी है। (उसके मुख को ध्यानपूर्वक देखकर) पर, यह तो बता, इतनी गम्भीर क्यों है ?

[जयमाला खिलखिलाकर हँस पड़ती और दौड़कर राज्यश्री से लिपट जाती है।]

राज्यश्री—(उसका दृढ़ आलिंगन कर उसे अपने अत्यन्त सन्निकट शयन पर बिठाते हुए कुछ ठहरकर) हाँ, तो तूने बताया नहीं कि तू इतनी गम्भीर क्यों थी ?

जयमाला—तुम्हारा यह गायन ही ऐसा है, सम्राज्ञी, कि यह किसी को भी गंभीर बना देगा। बिना गंभीर हुए यह गाया ही नहीं जा सकता।

राज्यश्री—तो तू इस गायन का अर्थ भलीभाँति समझती है ?

जयमाला—बिना समझे कोई गम्भीर होकर गा सकता है ?

राज्यश्री—(कुछ ठहरकर फिर रूखी मुस्कराहट के साथ) किन्तु, जयमाला, इस गायन को समझने और गम्भीरतापूर्वक गाने पर भी तो तू स्वयं सोने-चाँदी के निर्जीव टुकड़ों और कंकड़-पत्थरों से अपने को सजाये हुए है।

[हर्ष का प्रवेश। उनकी अवस्था अब ४५ वर्ष की है। उनका शरीर

लगभग उसी प्रकार का है जैसा पहले था, परन्तु मूँछें अब बड़ी हो गयी हैं। यद्यपि उनके मुख पर राज्यश्री के सदृश झुर्रियाँ नहीं हैं, तथापि मस्तक पर रेखाएँ पड़ गयी हैं। केश अभी भी काले हैं और अवस्था राज्यश्री से अधिक होने पर भी उससे कम दिख पड़ती है। वेश-भूषा पहले के समान ही है। हर्ष को देखते ही राज्यश्री, जयमाला और अलका तीनों खड़ी हो जाती हैं। जयमाला हर्ष से लिपट जाती है तथा हर्ष, राज्यश्री एवं जयमाला शयन पर बैठते हैं और अलका आसंदी पर।]

हर्ष—कह, जयमाला, अब तेरी गान-विद्या का क्या हाल है?

जयमाला—यह सम्राज्ञी से पूछिए, पिताजी।

राज्यश्री—यह तो अब मुझसे भी अच्छा गाने लगी है।

जयमाला—इनकी बातें! इनकी बात न मानिएगा, पिताजी।

हर्ष—पर, अभी तूने ही कहा था न कि सम्राज्ञी से पूछो।

जयमाला—पर, मैं यह थोड़े ही जानती थी कि सम्राज्ञी भी झूठ बोलेंगी।

[हर्ष और अलका हँस देते हैं। राज्यश्री के मुख पर भी रूखी मुस्कराहट दिख पड़ती है।]

हर्ष—(**राज्यश्री के मुख को ध्यानपूर्वक देखते हुए**) और, राज्यश्री, तुम इतनी उदास क्यों दिखायी पड़ती हो, स्वास्थ्य तो अच्छा है?

राज्यश्री—हाँ, हाँ, स्वास्थ्य अच्छा है।

हर्ष—फिर इतनी उदास क्यों? आज तो तुम्हारे राज्याभिषेक के सातवें युग की समाप्ति का उत्सव है। सारा आर्यावर्त हर्ष से हिलोरें

ले रहा है। तुम्हारा मन तुम्हारे दुःख से तो व्यथित रहता ही है, यह मैं, जानता हूँ, तभी तो देखो न, इस तेतालीस वर्ष की अवस्था में ही, तुम वृद्धा के समान हो गयी हो, परन्तु दूसरे के सुख में प्रसन्न रहने का भी तो तुम निरन्तर प्रयत्न करती हो।

राज्यश्री—आज मैं अपने व्यक्तिगत दुःख से दुखित नहीं हूँ, शिलादित्य।

हर्ष—फिर?

राज्यश्री—वही पुराना एक राष्ट्र की स्थापनावाला प्रश्न व्यथित कर रहा है।

हर्ष—**(लम्बी साँस लेकर)** ओह!

राज्यश्री—अब, शिलादित्य, मैं इस सम्बन्ध में निराश हो चली हूँ।

हर्ष—यह क्यों?

राज्यश्री—इन नित्यप्रति के युद्धों के कारण कदाचित् हमें उसके लिए यथेष्ट प्रयत्न करने का समय ही न मिलेगा।

हर्ष—तुम जानती ही हो कि व्यर्थ के रक्तपात का मैं भी विरोधी हूँ, परन्तु क्या किया जाय, विवशता है।

राज्यश्री—परन्तु यदि दक्षिण पर आक्रमण न कर हम लोग पहले केवल आर्यावर्त में ही एक राष्ट्र के संगठन का प्रयत्न करें तो क्या उचित न होगा?

हर्ष—मैं भी इस विषय को सोचता रहा हूँ और तुम जानती हो कि दक्षिण पर आक्रमण करने का विचार भी मैंने बहुत दिनों तक स्थगित रखा, परन्तु पुलकेशिन का मालव, गुर्जर और कलिंग पर आक्रमण तो

दक्षिण के इस आक्रमण को अनिवार्य कर देता है। यदि हम दक्षिण पर आक्रमण न करेंगे तो कदाचित् उनका आक्रमण हम पर हो जाय। इसलिए एकाएक मैंने यह निर्णय किया है।

राज्यश्री—(**लम्बी साँस लेकर**) तब कदाचित् एक राष्ट्र के निर्माण का कार्य हमारे हाथ से होना ही नहीं है।

हर्ष—(**कुछ ठहरकर सोचते हुए**) राज्यश्री, मैं बड़ा आशावादी मनुष्य हूँ। यद्यपि गत अट्ठाइस वर्षों में हम इस कार्य को यथेष्ट रूप में नहीं कर सके हैं, परन्तु अभी भी मेरे हृदय में इसीका सबसे प्रधान स्थान है। अब तक जो कार्य हुआ है वह भी एक प्रकार से इस कार्य में सहायक ही होगा। बिना आर्यावर्त में एक साम्राज्य की स्थापना के यह कार्य होता भी कैसे? विशेष कर शिक्षा के प्रचार में जो वृद्धि हुई है, तथा शिक्षा जिस प्रणाली से दी जा रही है, उससे भावी सन्तति इसी विचार के अनुकूल बनेगी। फिर इस दशा में कुछ भी कार्य नहीं हो रहा है, यह बात भी नहीं है। अब दक्षिण भारत के भी साम्राज्य में सम्मिलित होने पर इस कार्य के लिए और अधिक साधन हो जायँगे। मैं आशा करता हूँ कि दक्षिण के युद्ध से निवृत्त हो हम इस कार्य को पूर्ण रूप से हाथ में ले सकेंगे।

[जयमाला जो अब तक चुपचाप एक-एक कर अपने सब आभूषण उतार रही थी एकाएक सबको पृथ्वी पर फेंक देती है। उसके शब्द से सब चौंक पड़ते हैं।]

हर्ष—(**फेंके हुए आभूषणों को देखते हुए**) यह क्या हुआ?

राज्यश्री—(**कुछ ठहरकर उसी प्रकार मुस्कराते हुए**) कुछ नहीं, मैंने यों ही हँसी में कुछ कह दिया था, इसीलिए ये आभूषण फेंके गये हैं।

हर्ष—(**जयमाला से**) क्यों, जयमाला, सम्राज्ञी से अप्रसन्न हो गयी हो?

जयमाला—सम्राज्ञी से अप्रसन्न ! वाह, पिताजी, वे तो मुझ पर आपसे भी अधिक प्रेम करती हैं, परन्तु अब मैं सोने-चाँदी के निर्जीव टुकड़ों और कंकड़-पत्थरों से अपने को नहीं सजाऊँगी।

[नेपथ्य में पंच महावाद्य बजते हैं। इन्हें सुनकर चारों हाथ बाँध कर खड़े हो जाते हैं।]

हर्ष—**(वाद्य बन्द होने पर)** अलका, जयमाला पागल हो गयी है। इन आभूषणों को उठा लो। इसे समझाना पड़ेगा तब यह समझेगी।

राज्यश्री—सायंकाल के पंच महावाद्य बज चुके। शरत्काल का समय है। शीत बढ़ रही है। हम लोग कक्ष में न चलें ?

राज्यश्री—हाँ, हाँ, चलो।

[हर्ष, राज्यश्री और जयमाला तीनों का प्रस्थान। अलका आभूषण उठाकर जाती है, उसके पीछे-पीछे दासी भी। दासी दो दासियों के संग, जिनकी वेश-भूषा उसीके समान है, पुनः लौटकर आती है। दो दासियाँ शयन तथा एक आसंदी को उठाकर ले जाती हैं। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—माधवगुप्त के प्रासाद का कक्ष

समय—तीसरा पहर

[कक्ष की बनावट वैसी ही है जैसी पहले अंक के पहले दृश्य के कक्ष की थी। तीनों भित्तियों में दो-दो द्वार हैं, जो अन्य कक्षों में खुलते हैं और

इनसे अन्य कक्षों के थोड़े-थोड़े भाग दिखायी देते हैं। कक्ष की छत, भित्तियों आदि का रंग पहले अंक के कक्ष से भिन्न है। कक्ष में अनेक काष्ठ की आसंदियाँ रखी हैं जिन पर गद्दे तकिये लगे हैं। बाँयीं ओर की भित्ति के निकट रखी हुई एक आसंदी पर, हर्ष का एक बड़ा-सा चित्र रखा है। चित्र पर पुष्पहार चढ़ा हुआ है। दाहनी ओर की भित्ति के निकट चित्र की ओर मुख किये हुए आदित्यसेन खड़ा है। आदित्यसेन की अवस्था लगभग २० वर्ष की है। वह गौर वर्ण तथा गठीले शरीर का ऊँचा-पूरा सुन्दर युवक है। श्वेत रंग और सुनहरी किनार के उत्तरीय और अधोवस्त्र एवं रत्नजटित आभूषण धारण किये है। रेख निकल रही है और सिर पर लम्बे केश हैं। मुख पर तेज और नेत्रों में कान्ति है। उसके हाथों में धनुष है, जिस पर बाण चढ़ा है। वह चित्र पर बाण चलानेवाला है। अतः चित्र की ओर एकटक देख रहा है। बाँयीं ओर के द्वार से शैलबाला का प्रवेश। शैलबाला की अवस्था ४५ वर्ष की है। वह गौर वर्ण की, शरीर में कुछ स्थूल, सुन्दर स्त्री है। कौशेय की रंगीन साड़ी पहने है और वैसा ही वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। आभूषण रत्नजटित हैं।]

शैलबाला—(आदित्यसेन को बाण चलाने पर उद्यत देख शीघ्रता से आगे बढ़ते हुए) हैं! हैं! आदित्य, यह क्या करनेवाला है, यह क्या करनेवाला है? तेरी उद्दण्डता तो नित्यप्रति बढ़ती ही जाती है।

आदित्यसेन—(धनुष की ज्या को ढीला करते हुए) कहाँ तक क्रोध को रोकूँ, माँ, कहाँ तक क्रोध को रोकूँ? पिताजी की दासत्व-प्रवृत्ति तो सीमा लाँघ रही है। अपने पूर्वजों की सारी प्रतिष्ठा, सारी मान-मर्यादा को एक ओर रख गुप्तों के कट्टर शत्रु हर्षवर्द्धन की मित्रता के नाम पर वे वर्द्धनों के केवल आश्रित बने हैं, इतना ही नहीं, पर अब तो उन्होंने हर्ष का

प्रतिमा-पूजन भी आरम्भ किया है। कहाँ तक क्रोध को रोकूँ, माँ, कहाँ तक क्रोध को रोकूँ ?

शैलबाला—(**आगे बढ़कर आदित्यसेन से धनुष लेते हुए**) पर, बेटा, यह पुष्प-माला तो इस चित्र पर तेरे पिता ने नहीं, मैंने चढ़ायी है। परम-भट्टारक के गुण ही ऐसे हैं कि उनका पूजन करने को हृदय आपसे-आप उत्कंठित हो उठता है।

आदित्यसेन—(**घृणा से हँसकर**) माँ, तेरे हृदय में भी ऐसी भावनाओं की उत्पत्ति दासत्व-वृत्ति की जीती-जागती मूर्ति है; गुप्त-वंश के अधःपतन की चरम सीमा है। नरों के पतन को रोकने की क्षमता नारियाँ ही रखती हैं, परन्तु यदि उनका भी पतन हो जाय तब तो उत्थान की सम्भावना ही नहीं रह जाती। माँ, मेरे बाल्यकाल में तो तेरे हृदय में ऐसी भावनाएँ न थीं। मेरे सामने परमभट्टारक, महाराजाधिराज समुद्रगुप्त, परमभट्टारक महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कीर्ति के न जाने कितने गीत तू गाया करती थी, उनके यश से भरी न जाने कितनी गाथाएँ तू सुनाया करती थी; अब क्या तेरे हृदय पर भी पिताजी के सदृश दासता का साम्राज्य हो गया है ?

शैलबाला—तू तो आज बहुत उत्तेजित हो रहा है, बेटा; चल, बैठ तो। क्या तू यह समझता है कि परम प्रतापी गुप्त-सम्राटों के प्रति अब मेरी भक्ति नहीं रह गयी है ?

[दोनों आसंदियों पर बैठ जाते हैं। आदित्यसेन अपने धनुष पर के चढ़े हुए बाण को उतार कर तरकश में रख धनुष आसंदी से टिकाकर रख देता है।]

आदित्यसेन—कहाँ रह गयी है ? मुझे तो वह लवशेषमात्र भी नहीं

दिखायी देती। यदि पूर्वजों के प्रति तेरी भक्ति होती तो तू हर्ष के चित्र पर पुष्प-माला चढ़ा सकती थी, जिसके पिता ने हमारे पूर्वजों को परास्त किया, जिसके भाई राजवर्द्धन ने हमारे पितृव्य मालवेश देवगुप्त का वध किया, जिस राजवर्द्धन के कारण हमारे पितृव्य कुमारगुप्त का वध हुआ, जिस हर्ष ने हमारे पितृव्य गौड़ेश शशांक नरेन्द्रगुप्त को अपना माण्डलीक और पूज्य पिताजी को अपना दास बना रखा है।

शैलबाला—(**आदित्यसेन की पीठ को थपथपाते हुए**) बेटा, युवावस्था की उत्तेजना के कारण ही तू मुझसे ऐसी बात कह रहा है। मेरे कक्ष में, तुझे पूज्यपाद परमभट्टारक महाराजाधिराज समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के चित्रों पर भी इसी प्रकार की पुष्प-मालाएँ चढ़ी हुईं नहीं दिखतीं क्या? आज परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन का चित्र बन कर आया, मैंने इस पर भी माला चढ़ा दी। हमारे पूर्वज महापुरुष थे और परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन भी, चाहे इन्होंने हमारे कुल के कुछ आततायियों को दण्ड दिया हो, महापुरुष हैं। मैंने उनके साथ ही, इनका भी पूजन कर दिया तो बुरी बात क्या हुई?

आदित्यसेन—आह! माँ, आह! माँ, यही तो तू समझती नहीं, यही तो तू समझती नहीं।

शैलबाला—क्या नहीं समझती?

आदित्यसेन—मैं तुझे कदाचित् पूर्णरूप से समझा न सकूँ, पर स्वयं समझ सकता हूँ।

शैलबाला—क्या समझ सकता है?

आदित्यसेन—यह कि हम लोग, गुप्त लोग—समझी—हम लोग—गुप्त लोग।

शैलबाला—हाँ, हम लोग, गुप्त लोग, पर, हम लोग गुप्त लोग, क्या ?

आदित्यसेन—हम, गुप्त लोग जिस प्रकार गुप्त-सम्राटों का पूजन कर सकते हैं उस प्रकार वर्द्धन-सम्राटों का नहीं।

शैलबाला—यह भेद-भाव क्यों ? सभी महापुरुष पूज्यनीय हैं।

आदित्यसेन—नहीं, कदापि नहीं, सभी पूज्यनीय नहीं हो सकते। कुछ के पूजन से हमारा उत्कर्ष होता है और कुछ के पूजन से हमारा पतन। यदि पिताजी ने परमभट्टारक महाराजाधिराज, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के संग ही हर्ष का भी पूजन न किया होता, तो वे समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त और स्कंदगुप्त के समान होते, वर्तमान माधवगुप्त के समान नहीं।

शैलबाला—बेटा, महापुरुष जन्म से ही होते हैं, पूर्वजों का पूजन और अन्यों की घृणा से कोई महापुरुष नहीं होता।

आदित्यसेन—केवल पूर्वजों के पूजन से कोई महापुरुष नहीं होता, यह मैं भी मानता हूँ, परन्तु उसीके साथ अन्यों का पूजन महापुरुष होने में सबसे बड़ी बाधा है, इसमें भी मुझे सन्देह नहीं। पिताजी में क्या नहीं है ? वे बुद्धिमान हैं, बलवान हैं, सभी कुछ हैं, परन्तु उनकी बुद्धि, उनका बल अन्यों की सेवा में जाता है, और इस सेवा का फल क्या है ? तू तो प्रासादों में रहती है, माँ, तू जन-समुदाय में कहाँ विचरण करती है ? मैं जानता हूँ कि जन-समुदाय उन्हें कैसा समझता है।

शैलबाला—कैसा, बेटा ?

आदित्यसेन—कई बार तुझसे कहा होगा और फिर कहता हूँ—हर्षवर्द्धन का क्रीतदास ! किसी महान् वंश में जन्म लेकर, महापुरुषों की सन्तति होकर अन्य की सेवा से अधिक निकृष्ट कार्य कदाचित् और कोई नहीं है। फिर वे अन्य भी कैसे ? जिनसे हमारे वंश का नाश तथा हमारी कीर्ति का ह्रास हुआ है और इस वंश-नाश एवं कीर्ति-ह्रास में पिताजी का पूर्ण सहयोग होते हुए भी वर्द्धनों के प्रधान कर्मचारीगण उन्हें अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। परम प्रतापी गुप्त-वंश के वंशजों की यह अवनति, अधःपतन की पराकाष्ठा है। **(पुनः अपना धनुष सँभालते हुए)** माँ, हमारा उत्थान इन वर्द्धनों के पतन पर अवलम्बित है। हमारा उत्कर्ष हर्षवर्द्धन की सेवा से सम्भव नहीं, परन्तु उसके नाश से ही हो सकता है। पिताजी ने यह सेवा-वृत्ति ग्रहण कर, अपने शत्रुओं की सेवा-वृत्ति ग्रहण कर, जो पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त मैं करूँगा। **(खड़े होकर बाँयें हाथ में धनुष लिए तथा दाहना हाथ शैलबाला के पैरों पर रख)** माँ, तेरे चरणों की शपथ कर, तेरा यह पुत्र आदित्यसेन, आज यह प्रतिज्ञा करता है कि वर्द्धन-सत्ता का अंत कर मैं फिर आर्यावर्त में गुप्त-साम्राज्य की स्थापना···।

शैलबाला—**(बीच ही में शीघ्रता से)** बेटा, बेटा, तू क्या कहता है ? यदि तेरे पिता आ गये और उन्होंने सुन लिया तो फिर कलह······।

[माधवगुप्त का प्रवेश। उसकी अवस्था अब ५० वर्ष की है। यद्यपि उसका शरीर और वेश-भूषा वैसी ही है, तथापि दाढ़ी के कारण मुख में परिवर्तन दिखायी देता है। सिर और दाढ़ी-मूँछों के बाल कहीं-कहीं श्वेत हो गये हैं। मस्तक पर रेखाएँ और नेत्रों के दोनों कोनों पर कुछ झुर्रियाँ दिखायी देती हैं। माधवगुप्त को देखते ही आदित्यसेन चुप हो जाता है। शैलबाला घबड़ाकर खड़ी हो जाती है।]

माधवगुप्त—मेरे पाप का प्रायश्चित्त करेगा, गुप्त-वंश का यह सुपूत

अपने कुपूत पिता के पाप का प्रायश्चित्त करेगा; आज तो तूने उद्दण्डता की पराकाष्ठा ही कर दी आदित्य।

[माधवगुप्त गम्भीर मुद्रा से उपर्युक्त वाक्य कह, एक आसंदी पर बैठ जाता है। शैलबाला अपना सिर झुका लेती है। आदित्यसेन उसी प्रकार खड़ा रहता है। कक्ष में कुछ देर को सन्नाटा छाया रहता है।]

माधवगुप्त—(आदित्यसेन से) बेटा, बैठ जा और चौथेपन को प्राप्त होनेवाले अपने पिता की आज अन्तिम बार कुछ स्पष्ट बातें सुन ले। शैलबाला, तुम भी बैठ जाओ।

[बिना एक शब्द भी कहे आदित्यसेन और शैलबाला एक-एक आसंदी पर बैठ जाते हैं। फिर कुछ देर तक निस्तब्धता छा जाती है।]

माधवगुप्त—(एक लम्बी साँस लेकर) बेटा, यद्यपि इसके पूर्व भी इस विषय पर तेरा और मेरा कई बार वाद-विवाद हो चुका है, पर आज मैं तुझे इस विषय को दार्शनिक दृष्टि से समझाना चाहता हूँ।

आदित्यसेन—जो आज्ञा, पिताजी।

माधवगुप्त—देख बेटा, एक ही वाक्य में कह देता हूँ—अपने कुल का गर्व, अपने बान्धवों से सहानुभूति बुरी बातें नहीं हैं, परन्तु इन भावनाओं के कारण यदि अन्य कुलों से ईर्षा की उत्पत्ति हो और इस ईर्षा से अन्धे होने के कारण यदि अन्यों के न्याययुक्त कार्य भी अन्यायपूर्ण दिखें तो यह कुल-गर्व एवं बान्धव-सहानुभूति न अपने लिए कल्याणकारी हो सकती है और न किसी दूसरे के लिए।

[आदित्यसेन घृणा से मुस्करा देता है।]

माधवगुप्त—(आदित्यसेन की मुस्कराहट को ध्यानपूर्वक देखकर)

जान पड़ता है, वर्द्धनों के प्रति ईर्षा का तेरे हृदय पर ऐसा प्रभाव हो गया है, कि किसी निष्पक्ष बात को भी तू सुनने के लिए तैयार नहीं है।

आदित्यसेन—स्पष्टवादिता के लिए क्षमा कीज़िए पिताजी, परन्तु स्पष्ट तो मैं कहूँगा ही।

माधवगुप्त—अवश्य।

आदित्यसेन—इस निष्पक्षता की दुहाई आज ही आपने दी हो यह नहीं, आप सदा ही इसकी दुहाई दिया करते हैं। आज मैं यह जानना चाहता हूँ कि हर्ष के पिता ने किस निष्पक्षता के सिद्धान्तानुसार आपके पूज्य पिताजी पर आक्रमण कर उन्हें माण्डलीक बनाया था? किस निष्पक्षता के सिद्धान्त पर उन्होंने आपको और पितृव्य कुमारगुप्त को यहाँ लाकर दासत्व की इन शृंखलाओं में जकड़ा था?

माधवगुप्त—परन्तु, इसके लिए हर्षवर्द्धन उत्तरदाता नहीं है।

आदित्यसेन—वे चाहे उत्तरदाता न हों, पर वर्द्धन-वंश अवश्य उत्तरदाता है, जिसके वे उत्तराधिकारी हैं।

माधवगुप्त—पर, इस प्रकार तो गुप्त-वंश ने भी अनेक राज्यों पर आक्रमण किया था, अनेकों को पराजित कर माण्डलीक बनाया था; यदि वर्द्धन-वंश का यह कार्य अनुचित है तो गुप्त-वंश का भी था।

आदित्यसेन—मैं इसके औचित्य और अनौचित्य की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, मैं तो केवल यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि निष्पक्षता की दृष्टि से संसार में कोई बात देखी ही नहीं जा सकती। आपकी कृपा से इस छोटी-सी अवस्था में भी मुझे भूत और वर्तमान, दोनों का, यथेष्ट अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। और, मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि यह संसार बुद्धिमानों और बलवानों के लिए है। जिनमें बुद्धि है,

जिनमें बल है, वे दूसरों पर अत्याचार कर सकते हैं; उनका अत्याचार, पक्षपात तथा स्वार्थपूर्ण होते हुए भी संसार न्यायपूर्ण मानता है। पिताजी, मैं तो इस संसार में महत्त्वाकांक्षा से अधिक महत्त्वशाली और सफलता से अधिक सफल वस्तु और कोई है, यह मानता ही नहीं। महत्त्वाकांक्षा से भरा हुआ व्यक्ति जीवन-संग्राम में जब सफलता प्राप्त कर लेता है तब वह महापुरुष-पद को प्राप्त करता है। संसार उसी का अनुसरण करता है, और चाहे इने-गिने व्यक्ति उसे बुरा कहें, पर जन-समुदाय, उसीका पूजन करता है। सारे संसार के इतिहास में जिन्हें महापुरुष-पद-प्राप्त हैं वे सब इसी कोटि के हैं। निष्पक्षता और निस्वार्थता ढकोसला है—विडम्बना है।

माधवगुप्त—और इसी महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत होकर वर्द्धन-सत्ता को उलटने में सफलता प्राप्त करना तेरा अन्तिम निर्णय है?

आदित्यसेन—**(दृढ़ता से)** सर्वथा अन्तिम!

शैलबाला—**(घबड़ाकर)** बेटा, बेटा......।

माधवगुप्त—**(बीच ही में)** हर्षवर्द्धन की निस्वार्थ प्रजा-सेवा, उनसे तेरे पिता की मैत्री, ये बातें भी तेरे इस निर्णय में कोई बाधा नहीं पहुँचाती?

आदित्यसेन—**(और भी दृढ़ता से)** लेशमात्र भी नहीं, पिताजी।

शैलबाला—**(और भी घबड़ाहट से)** ओह! ओह!

माधवगुप्त—तू जानता है कि ऐसी परिस्थिति में मेरा क्या कर्तव्य हो जाता है।

आदित्यसेन—**(घृणा भरे स्वर में)** बहुत काल से जानता हूँ। वर्द्धनों की दासता ने आपको अपने बन्धु शशांक नरेन्द्रगुप्त की स्वाधीनता हरण

करने के लिए बाध्य किया, वही पुत्र की स्वाधीनता हरण करने के लिए बाध्य करेगी।

माधवगुप्त—(**उत्तेजना भरे स्वर में**) वर्द्धनों की दासता नहीं, कदापि नहीं। हर्षवर्द्धन का साथ देने के लिए मेरी अन्तरात्मा मुझे प्रोत्साहन देती है, हर्षवर्द्धन की न्यायपरायणता एवं उनके सच्चे स्नेह तथा शशांक नरेन्द्रगुप्त के अत्याचार एवं उसके विश्वासघात के कारण। तेरी स्वतंत्रता का यदि अपहरण होगा तो उसका कारण होगा तेरी उद्दण्डता और बार-बार मेरी सम्मति की उपेक्षा।

आदित्यसेन—(**अत्यन्त दृढ़ता से**) मैं इसके लिए तैयार हूँ, पिताजी।

शैलबाला—(**बहुत ही घबड़ाकर खड़े होते हुए**) यह क्या, यह क्या हो रहा है? (**माधवगुप्त की ओर देखकर गिड़गिड़ाते हुए**) क्या कह रहे हैं, नाथ, आप! (**आदित्यसेन की ओर देख, गिड़गिड़ाते हुए**) और क्या कहता है, बेटा, तू! पिता पुत्र की स्वतंत्रता का अपहरण करेगा और पुत्र, पिता की आज्ञा का उल्लंघन!

आदित्यसेन—(**रूखे स्वर में**) यह कर्तव्य-क्षेत्र है, माँ, जिसे पिताजी अपना कर्तव्य समझते हैं उसे वे, और जिसे मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, उसे मैं करूँगा।

शैलबाला—(**जल्दी-जल्दी**) यह कैसा कर्तव्य-क्षेत्र है? कर्तव्य-क्षेत्र में क्या हृदय को कोई स्थान नहीं है। क्या यह क्षेत्र हृदयहीनता से ही भरा हुआ है? (**माधवगुप्त से**) नाथ, क्या पुत्र के लिए पिता के हृदय में माता के हृदय का-सा स्नेह नहीं रहता? आदित्य की बाल्यावस्था में तो यह नहीं जान पड़ता था। उस समय तो, नाथ, इसकी एक-एक मुस्कान पर, इसकी एक-एक बाल-क्रीड़ा पर आप सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहते थे।

क्या इसके युवा होते ही वह सारा स्नेह कर्पूर हो गया! आजकल तो नित्यप्रति इसी प्रकार का कोई न कोई प्रसंग उपस्थित रहता है। आपका पुत्र, आपके प्राणों से प्यारा पुत्र आपके द्वारा ही बन्दी बनाया जावे, आपके द्वारा ही परतंत्र किया जावे, पिता पुत्र को कारावास भिजवावे, यह सब क्या है, यह सब क्या है, नाथ!

[शैलबाला मूर्च्छित होकर गिरने लगती है। माधवगुप्त दौड़कर उसे सँभालता है। आदित्यसेन घृणापूर्ण दृष्टि से माधवगुप्त की ओर देखता है। माधवगुप्त ऐसी दृष्टि से, जिसमें किसी प्रकार का भाव नहीं है, पहले आदित्यसेन की ओर, फिर तत्काल उसे हटा कर सामने की ओर देखने लगता और एक लम्बी साँस छोड़ता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—कर्णसुवर्ण में शशांक नरेन्द्रगुप्त के प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[वही दालान है जो दूसरे अंक के पहले दृश्य में थी। शशांक का शीघ्रता से प्रवेश। उसकी अवस्था अब ६५ वर्ष की है। केश लगभग श्वेत हो गये हैं। मस्तक और नेत्रों के चारों ओर झुर्रियाँ दिखायी देती हैं, परन्तु, शरीर वैसा ही हृष्ट-पुष्ट है, जैसा ३० वर्ष पूर्व था। वेश-भूषा पहले के समान है। उसके पीछे-पीछे गुप्तचरों का वही अधिपति आता है, जो दूसरे अंक के पहले दृश्य में आया था। उसकी अवस्था अब ६० वर्ष के ऊपर है और उसके केश भी श्वेत हो गये हैं। उसकी वेश-भूषा भी पहले के समान है। इन दोनों के पीछे दो दास शयन और एक आसंदी लिए हुए आते हैं

और इनके पीछे एक दासी हाथ में चन्दन की डंडीवाला खश का व्यजन। डंडी पर श्वेत हाथीदाँत का काम है।]

शशांक—**(उत्तेजित स्वर में)** हाँ, यहाँ कहो, यह सुख-संवाद यहाँ कहो। ग्रीष्म में कक्ष इतना तप्त और उसके कारण रुधिर का तापमान भी इतना ऊँचा हो गया था कि यह शुभ संवाद कक्ष में ही सुन मैं उसे और ऊँचा करने का साहस न कर सकता था। सात युग, सात युग से भी अधिक समय के पश्चात्, इतना दीर्घ काल, विचार ही विचार में खो देने के पश्चात्, यह शुभ संवाद सुना है—हर्ष की पुलकेशिन से पराजय। शशांक उसी शरीर के रहते, उन्हीं कानों से यह संवाद सुन रहा है न? मिथ्या समाचार तो नहीं है? कहीं दूसरा समाचार तो न पहुँच जायगा जो इस समाचार का खण्डन कर देगा? सत्य, पूर्ण-रूप से सत्य संवाद है न कि पुलकेशिन ने हर्ष को हरा दिया? **(समीप के रखे हुए शयन पर बैठते हुए)** कहो, कहो, मुझे ब्यौरेवार, ब्यौरेवार बताओ। हर्ष की दक्षिण की इस हार का पूरा वृत्तान्त वर्णन करो, और बैठ जाओ गुप्त-चराधिपति, क्योंकि वह तो बड़ा लम्बा वर्णन होगा न, बहुत लम्बा।

[गुप्तचरों का अधिपति आसंदी पर बैठ जाता है। शयन और आसंदी लानेवाले दास शयन और आसंदी रखकर चले गये हैं। दासी शशांक पर व्यजन डुलाने लगती है।]

गुप्तचराधिपति—पूरा और ब्यौरेवार वृत्तान्त तो अभी ज्ञात नहीं है, परमभट्टारक, परन्तु इस समाचार के सत्य होने में सन्देह नहीं है कि हर्ष ने पुलकेशिन से भारी हार खायी है। साथ ही, इस समाचार का खण्डन करने के लिए अन्य समाचार अब आ भी नहीं सकता, क्योंकि हर्ष सेना-सहित उत्तरापथ को लौट रहे हैं।

शशांक—तो अब कम से कम इतना तो निश्चित है कि हर्ष को पुल-केशिन पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती ?

गुप्तचराधिपति—इस युद्ध में तो नहीं, महाराजाधिराज, यदि यही सम्भव होता तो वे दक्षिणापथ से लौटते ही क्यों ?

[शशांक चुप होकर, विचारमग्न हो जाता है। कुछ देर तक निस्तब्धता छायी रहती है।]

शशांक—(**शान्त होते हुए**) देखो, गुप्तचराधिपति, मैं सदा यह सोचा करता था कि मैं हृदय से नहीं, किन्तु मस्तिष्क से शासित होता हूँ, परन्तु मैं देखता हूँ कि आज के इस संवाद ने मुझे हृदय से शासित करा दिया। मुझे सबसे अधिक हर्ष इस कारण हुआ है कि आज भी आर्य-धर्म की विजय सम्भव है, अभी भी बौद्ध-धर्म की जड़ इस देश से उखाड़ी जा सकती है। हर्ष इस पराजय से निर्बल हो जायगा। कदाचित् विद्रोह···(**रुक जाता है, फिर शान्त होते हुए**) ओह! ओह! अभी भी मेरा मस्तिष्क अपने ठीक स्थान पर नहीं आया दिखता।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(**अभिवादन कर**) जय हो, परमभट्टारक, कान्यकुब्ज के जो ब्राह्मण यहाँ निवास करते हैं, वे श्रीमान के दर्शन करना चाहते हैं।

शशांक—(**गुप्तचराधिपति से**) अच्छा, तो तुम इस समय जा सकते हो। हर्ष की दक्षिण की पराजय का ब्यौरेवार समाचार ज्ञात होते ही मेरे सम्मुख उपस्थित करना।

गुप्तचराधिपति—(**खड़े होते हुए**) जो आज्ञा। (**अभिवादन कर प्रस्थान।**)

शशांक—(प्रतिहारी से) ब्राह्मणों को उपस्थित करो और दासों को आज्ञा दो कि यहाँ और कुछ आसंदियाँ रख दें।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (अभिवादन कर प्रस्थान।)

[शशांक कुछ देर विचारमग्न बैठा रहता है। फिर एकाएक खड़ा हो धीरे-धीरे टहलने लगता है। कुछ ही देर में टहलने की गति तीव्र हो जाती है और इसीके साथ वह दोनों हाथों को मलने लगता है। धीरे-धीरे टहलने की गति फिर धीमी हो जाती है और वह अनेक बार दीर्घ निश्वास छोड़ता है। दास तीन आसंदियाँ लाकर रखते हैं। तीन ब्राह्मणों का प्रवेश। ये ब्राह्मण, राज्यश्री के अभिषेक के समय जिन पाँच ब्राह्मणों ने कान्यकुब्ज के साम्राज्य को उलट देने के लिए संगठन किया था, उन्हींमें से हैं। ये भी अब वृद्ध हो गये हैं। सबके केश श्वेत हैं और मुखों तथा शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं।]

शशांक—(ब्राह्मणों का अभिवादन कर) आइए, पधारिए ब्रह्मदेव।

[शशांक शयन पर और तीनों ब्राह्मण शशांक को आशीर्वाद दे तीनों आसंदियों पर बैठते हैं।]

एक ब्राह्मण—परमभट्टारक, आज हम लोग आपसे अपने देश को लौटने की आज्ञा लेने आये हैं।

शशांक—यह क्यों, देव, क्या मेरा कोई अपराध हो गया है?

पहला—नहीं, परमभट्टारक, परन्तु हम लोग जिस कार्य के लिए यहाँ आये थे, और जिस कार्य के लिए हम लोगों ने यहाँ इतने दीर्घ काल तक निवास किया, उसकी सफलता की अब कोई आशा नहीं है। इस चौथेपन में, अब हम लोग काशीवास करना चाहते हैं। हमारा इहलोक बिगड़ ही गया, परमभट्टारक, धर्म की हमारे द्वारा कोई सेवा न हो सकी, हम में से दो के

प्राण भी यहीं गये और उनका परलोक भी बिगड़ा। अब हम तीनों काशी-वास कर, भगवती भागीरथी के तट पर ही शरीर छोड़ना चहाते हैं, नहीं तो हमारा भी परलोक बिगड़ेगा।

शशांक—आप जानते हैं, आर्य, कि आपके और मेरे जीवन के उद्देश में कोई अन्तर नहीं है। जिस धर्म की सेवा आप चाहते हैं उसीकी मैं भी। यही विषय इस दीर्घ काल तक मेरी भी दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न रहा है। परन्तु, प्रभो, मैं हृदय से नहीं, मस्तिष्क से शासित होता हूँ। अब तक उस कार्य का अवसर ही नहीं आया था, भगवान की कृपा से जब अब अवसर आया तब आप प्रस्थान किया चाहते हैं।

पहला—परन्तु, यह तो आपने न जाने कितने बार कहा कि शीघ्र ही अवसर आने की सम्भावना है।

शशांक—परन्तु, अब तो सम्भावना की बात नहीं है, आर्य, अवसर आ ही गया।

पहला—**(उत्कंठा से)** किस प्रकार, महाराजाधिराज ?

शशांक—दक्षिण-युद्ध में हर्ष की पराजय हुई है। वह हार कर ससैन्य उत्तरापथ को लौटा है। अब तक सर्वत्र उसकी जय ही सुन पड़ती थी, यह उसकी पहली पराजय है। नीति कहती है कि शत्रु पर निर्बलता के अवसर पर आक्रमण किया जाय। मैंने आपसे कहा न कि मैं हृदय से नहीं, मस्तिष्क से शासित होता हूँ। अब हर्ष के विरुद्ध विद्रोह का ठीक अवसर आ गया है, उसके निधन-कार्य का भी ठीक समय उपस्थित हुआ है। अब बौद्ध-धर्म के मूलोच्छेदन और आर्य-धर्म की नींव दृढ़ करने का समय भी आ गया है। इतने वर्षों और युगों तक जिस घड़ी की प्रतीक्षा की, सौभाग्य से वही अब आ गयी है। अब हमें निराश होने की

आवश्यकता ही नहीं है, देव। चलिए, वृद्ध पितृव्य यशोधवलदेव के पास चल, उन्हें हर्ष की पराजय का यह समाचार सुनावें और भावी कार्य-क्रम निश्चित करें। आप कान्यकुब्ज से जितने परिचित हैं, हम लोग नहीं। अतः सारे कार्य-क्रम का निर्णय आपकी सम्मति से ही होगा। मैं तो यह संवाद सुनते ही आपको बुलानेवाला था, पर आप आ ही गये। अब धर्म के उद्धार में विलम्ब नहीं दिखता, सर्वथा नहीं, प्रभो। (खड़ा होता है।)

पहला—(खड़े होते हुए) धन्य हमारा भाग्य।

दूसरा—(खड़े होते हुए) अन्त में धर्म की जय निश्चित ही है।

तीसरा—(खड़े होते हुए) इसमें कोई सन्देह है?

शशांक—हो ही नहीं सकता, हो ही नहीं सकता, आर्य।

[तीनों ब्राह्मणों के साथ शशांक का प्रस्थान। दासी दूसरी ओर जाती है और पाँच दासों के साथ पुनः आती है। दो दास शयन को और शेष तीन-तीन आसंदियों को उठाकर ले जाते हैं। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज नगर का मुख्य चतुष्पथ

समय—सायंकाल

[बीच में संगमर्मर का चबूतरा बना है और इस चबूतरे के पीछे एक, और दोनों ओर दो मार्ग हैं। मार्ग बहुत चौड़े नहीं हैं। तीनों ओर के मार्गों का छोर नहीं दिखता। मार्गों के दोनों ओर गृहों की पंक्तियाँ हैं। निकट के

गृहों के एक खण्ड और दूर के गृहों के दो तथा तीन खण्ड भी दिखते हैं। पीछे के मार्ग में दूरी पर आर्य और बौद्ध-मन्दिरों के शिखर दिख पड़ते हैं। जिन गृहों के सामने के भाग दिखायी पड़ते हैं, उनके नीचे के खण्ड में दूकानें हैं जिनमें विविध प्रकार की वस्तुएँ सजी हुई हैं। सारा दृश्य सन्ध्या के प्रकाश से प्रकाशित है। मार्गों पर, स्त्री-पुरुष आ-जा रहे हैं। कोई-कोई व्यक्ति दूकानों से कुछ खरीदने के लिए किसी-किसी दूकान पर कुछ देर को ठहर जाते हैं और कोई किसी दूकान के भीतर चले जाते हैं। कई व्यक्ति चबूतरे पर बैठे हैं। कुछ बैठते और कुछ बैठकर चले जाते हैं। इधर-उधर से अनेक प्रकार के शब्द और वाक्य सुनायी देते हैं। पुरुषों में प्रायः सभी श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने हैं, कोई-कोई केवल अधोवस्त्र। अनेक व्यक्ति आभूषण भी पहने हैं। स्त्रियाँ विविध प्रकार की साड़ियाँ पहने और उसी प्रकार के वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। प्रायः सभी आभूषण धारण किये हैं। बाँयीं ओर के मार्ग से यानचांग आता है, वह चबूतरे के निकट खड़ा हो जाता है। यानचांग की अवस्था लगभग ५० वर्ष की है। सिर और दाढ़ी-मूँछों के बाल श्वेत हो चले हैं। वह नीली झाँईं लिए हुए लाल रंग का सिला हुआ, घुटने तक लम्बा, चीनी रेशमी अंगा तथा कमर से पिंडलियों से नीचा, बिना सिला, उसी प्रकार का वस्त्र (भारतीय अधोवस्त्र के सदृश) पहने है। सिर पर एक चित्र-विचित्र रंग का छोटा-सा रेशमी कपड़ा बाँधे है। आभूषणों से उसका शरीर रहित है। अपने-से भिन्न उसकी वेश-भूषा देखकर अनेक व्यक्ति कौतूहलवश उसके निकट आ जाते हैं; इनमें से प्रायः युवक हैं, केवल एक वृद्ध है।]

एक महाशय—आप कहाँ से आये हैं?

यानचांग—चीन देश से, बन्धु।

वही—ओहो ! आप तो हमारी भाषा अच्छी प्रकार समझ और बोल लेते हैं।

यानचांग—मैंने आपकी भाषा का अध्ययन किया है ।

दूसरा—आपका नाम क्या है महाशय ?

यानचांग—यानचांग।

तीसरा—आप कदाचित् बौद्ध होंगे और यहाँ यात्रा के लिए आये होंगे ?

यानचांग—हाँ, मैं बौद्ध हूँ, यात्रा के लिए भी आया हूँ और आपका देश देखने के लिए भी।

चौथा—हमारा देश आपको कैसा लगता है ?

यानचांग—आपके देश का जितना भाग मैंने देखा है वह तो मुझे बहुत अच्छा लगा। प्राकृतिक और कृत्रिम, दोनों ही दृष्टियों से, आपके देश का अद्भुत सौंदर्य है। यदि आपके देश में एक ओर मैंने हिमालय के हिम से ढँके हुए उच्चतम शिखर, नाना वर्णों एवं आकारों के विविध प्रकार की सुगन्धि से युक्त सुमनों तथा मिष्ठ स्वाद से परिपूर्ण फलों वाले वृक्षों से भरी हुई उसकी उपत्यका, अधित्यका और निर्मल, शीतल एवं मधुर नीरवाला गंगा का श्वेत प्रवाह आदि अगणित विशाल एवं सुन्दरतम प्राकृतिक दृष्यों के दर्शन किये हैं, तो दूसरी ओर मनुष्य-कृत वस्तुओं की भी महानता और मनोहरता का अवलोकन किया है। आपके देश के अनेक खण्डोंवाले विपुल भवन, उनकी पाषाण तथा काष्ठ पर की शिल्प-कला, चित्रावली और अनेक प्रकार के द्रुमों और लताओं से भरे हुए रमणीय उपवन, सभी सुन्दर हैं। इसी प्रकार आपके समाज में शिक्षा-द्वारा धर्म,

ज्ञान और कला का भी विशद प्रसार हुआ है तथा हो रहा है।

चौथा—आप अभी हमारे देश में कहाँ-कहाँ गये हैं ?

यानचांग—हिमालय और सिन्धु को पार कर मैंने आपके देश में प्रवेश किया है और काश्मीर होता हुआ मैं यात्रा के निमित्त सीधा यहाँ आया हूँ, क्योंकि चीन में हम लोगों ने कान्यकुब्ज की बहुत कीर्ति सुनी थी।

तीसरा—कान्यकुब्ज की तो सारी कीर्ति का श्रेय हमारी वर्तमान सम्राज्ञी, राज्यश्री और महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन को है, महाशय।

यानचांग—**(सिर हिलाते हुए)** अच्छा, हम लोगों ने चीन में भी यही सुना था।

एक वृद्ध—इसमें सन्देह ही नहीं। आज के तीस वर्ष पूर्व इस नगर और इस देश में क्या था, इसका मुझे स्मरण है। आज कान्यकुब्ज नगर सारे आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ नगर और यह देश सर्वश्रेष्ठ देश हो गया है। आज जो विभूति यहाँ दिखायी देती है, वह गत तीस वर्षों की इन दोनों महान् आत्माओं की तपस्या का फल है।

दूसरा—और कान्यकुब्ज नगर एवं देश ही क्या सारे आर्यावर्त की इसी प्रकार.........।

[दाहनी ओर के एक मार्ग से एक सुंदर मालिन, इठलाती, नाचती और गाती हुई आती है। उसके बगल में फूलों की एक टोकरी दबी है और हाथ में एक लकड़ी पर पुष्प-मालाएँ। इसे देखकर सब लोग चुप होकर उसकी ओर आकृष्ट होते हैं और यह सम्भाषण रुक जाता है। मालिन चबूतरे के निकट आकर टोकरी चबूतरे पर रखकर खड़ी हो जाती है और गाती रहती है।]

लो, कुसुम मनोहर ले-लो।
हैं टूटे सकल अभी के,
हलके हैं रङ्ग सभी के,
सब ही सुरभित, वर, लें-लो ॥
हैं मालाएँ मनभावन,
कंकण-भुज-बन्ध सुहावन,
इक-इक से मृदुतर ले-लो ॥
निज प्रिय के अङ्ग सजाओ,
औ' निरख-निरख सुख पाओ,
तब काम-केलि बहु खेलो ॥

[अनेक व्यक्ति पुष्प-मालाएँ और पुष्पाभरण ख़रीदते हैं। यानचांग भी एक पुष्प-माला लेता है। कुछ क्षणों के पश्चात् मालिन पुनः अपनी टोकरी उठाकर उसी प्रकार नाचती-गाती हुई बाँयीं ओर के मार्ग से जाती है।]

यानचांग—(मालिन के जाने पर दूसरे व्यक्ति से) आप कह रहे थे न कि आपकी सम्राज्ञी और महाराजाधिराज के कारण कान्यकुब्ज क्या, सारे आर्यावर्त देश की इसी प्रकार.........।

दूसरा—हाँ, हाँ, महाशय, सारे आर्यावर्त की इसी प्रकार समृद्धि बढ़ी है। आर्यावर्त को शासक के रूप में, मनुष्य नहीं, देवता मिल गये हैं।

पहला—इसमें सदेन्ह नहीं, समस्त उत्तरापथ की प्रजा को जितना सुख है उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता।

तीसरा—अरे, हमारे महाराजाधिराज ने प्रजा के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए विवाह तक नहीं किया।

चौथा—और दिन-रात आठों पहर चौंसठों घड़ी उनका समय प्रजा की हितचिन्तना तथा प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन करने में जाता है।

पाँचवाँ—कभी-कभी युद्ध हो जाते हैं। यदि युद्ध बन्द हो जाय और उन्हें युद्धों के लिए समय न देना पड़े तथा देश में पूर्ण शान्ति हो जावे तो न जाने प्रजा का और कितना उत्कर्ष हो सकता है।

[यानचांग अपने अंगे की जेब से एक नोटबुक निकाल कर उसपर लिखता है।]

पहला—आप क्या लिख रहे हैं, महाशय ?

यानचांग—जो कुछ आप लोगों ने कहा है।

पहला—इसका आप क्या करेंगे ?

यानचांग—आपके देश का समस्त वृत्तान्त लिखकर मैं अपने देश को ले जाऊँगा।

वृद्ध—फिर एक बात और लिखिए कि विवाह न करने पर भी हमारे महाराजाधिराज का अत्यन्त शुद्ध और निर्मल चरित्र है।

[बाँयीं ओर से 'जय, कुमारराज भास्कर वर्मन की जय' शब्द आता है और शिविका पर कुमारराज आता है। कुमारराज की अवस्था और वेश-भूषा हर्ष के समान ही है। लोग शिविका के मार्ग से हट जाते हैं। आगे-आगे प्रतिहारी चल रहा है, उसके पीछे आठ मनुष्य रजतमण्डित शिविका उठाए हुए हैं और उनके पीछे दो शरीर-रक्षक कवच पहने और आयुध लगाए हुए दाहने हाथ में शल्य लिए चल रहे हैं। कुमारराज का सब लोग झुक-झुककर अभिवादन करते हैं। कुमारराज अभिवादन का उत्तर सिर झुकाकर देता है। प्रतिहारी उसी प्रकार बोलता हुआ जाता है। पीछे-पीछे शिविका दाहने ओर के मार्ग से जाती है।]

यानचांग—(शिविका जाने पर) ये कौन हैं?

पहला—कामरूप देश के राजा कुमारराज भास्कर वर्मन।

[यानचांग लिखता है।]

दूसरा—अरे, ऐसे-ऐसे पचासों राजा हमारी सम्राज्ञी और महाराजाधिराज के माण्डलीक हैं। आप कहाँ तक लिखिएगा?

वृद्ध—नहीं, नहीं, इनका बहुत बड़ा महत्व है।

यानचांग—कैसे?

वृद्ध—एक तो इनका कुटुम्ब बहुत प्राचीन है। कहते हैं, महाभारत-काल से इनके वंश का कामरूप देश पर राज्य है। दूसरे, ये हमारे महाराजाधिराज के पहले मित्र हैं।

[यानचांग फिर लिखता है।]

यानचांग—(कुछ ठहरकर) एक बात मैं पूँछूँ, आप लोग अप्रसन्न तो न होंगे?

पहला—नहीं, नहीं, अप्रसन्न होने की क्या बात है, आप तो हमारे अतिथि हैं।

दूसरा—हाँ, हाँ, आप जो कुछ पूँछेंगे हम बतायँगे।

यानचांग—मैंने सुना है कि आपके महाराजाधिराज अभी दक्षिण भारत के चालुक्य नरेश पुलकेशिन से पराजित होकर लौटे हैं।

दूसरा—नहीं, नहीं, वह बात ऐसी नहीं है।

यानचांग—तब?

पहला—देखिए, मैं आपको बताता हूँ।

दूसरा—नहीं, नहीं, मैं बताता हूँ।

पहला—(**ज़ोर से**) नहीं जी, मुझे बताने दो।

तीसरा—मैं सबसे अधिक जानता हूँ।

वृद्ध—अच्छा , तुम ठहरो, मैं वृद्ध हूँ, ठीक-ठीक बता दूँगा।

पहला—
दूसरा—
तीसरा— } (**एक साथ ज़ोर से**) नहीं, नहीं, मुझसे सुनिए, पहले मेरी सुनिए। मैं आपको पक्की बात बताऊँगा, पक्की।

यानचांग—शान्त होइए, शान्त होइए, मैं वृद्ध महाशय से सुनूँगा।

[सब चुप हो जाते हैं।]

वृद्ध—बात यह है कि वे पुलकेशिन से पराजित होकर लौटे हैं, ऐसी बात नहीं है।

यानचांग—तब ?

वृद्ध—उन्होंने पुलकेशिन पर आक्रमण किया था, पर उन्हें सफलता नहीं मिली, बस; (**कुछ ठहरकर**) और इसका कारण है।

यानचांग—वह क्या ?

वृद्ध—उनके प्राचीन महाबलाधिकृत सिंहनाद अब संसार में नहीं हैं। वर्तमान महाबलाधिकृत भण्डि इस युद्ध की ठीक व्यवस्था नहीं कर सके।

पहला—बराबर यही बात है, क्योंकि सेना के भट तो इतनी वीरता से लड़े कि संसार भर में कहीं ऐसी वीरता देखना तो दूर रहा किसीने सुनी भी न होगी।

दूसरा—इसमें कोई सन्देह नहीं। एक भट का तो यह वृत्त सुना गया कि उसका दाहना हाथ कट गया तो उसने बाँयें हाथ से ही शत्रु-पक्ष के दस भटों को मारा।

तीसरा—और एक भट का यह वृत्त सुना गया कि उसका मुण्ड कट गया तो उसके रुण्ड ने दो घड़ी तक युद्ध किया।

पहला—अरे, एक-दो ने नहीं, न जाने कितने भटों ने इस प्रकार की वीरता दिखायी।

चौथा—फिर दक्षिण पर आक्रमण करने का आयोजन किया जा रहा है। इस बार पुलकेशिन को जान पड़ेगा कि आर्यावर्त कितना शक्तिशाली है।

[दाहनी ओर के मार्ग से मल्लों का एक समूह वाद्य बजाता हुआ आता है। सब चुप होकर उसे देखने लगते हैं। मल्लों का समूह बाँयीं ओर से चला जाता है।]

यानचांग—**(मल्ल-समूह के जाने पर)** ये लोग कौन थे?

पहला—ये मल्ल थे।

यानचांग—ये क्या करते हैं?

पहला—व्यायाम और मल्ल-युद्ध।

[यानचांग फिर लिखता है। उसी समय बाँयीं ओर के मार्ग से एक सुगन्धित द्रव्य बेचनेवाला गन्धी एक पिटारी लिए, गाता हुआ आता है। सबका ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है। गन्धी चबूतरे के निकट आकर खड़ा हो, अपनी पिटारी चबूतरे पर रखकर, खोलता और गाने लगता है।]

उद्यानों की सार-भूत यह मेरी मंजु पिटारी।
इसकी इक-इक, अहो! फुलेलो उपवन की इक-इक क्यारी॥
किसीमें पाटल-सत्व भरा।
किसीमें चंपक-तत्व धरा।
किसीमें जया वास करती।
किसीमें जाति दुःख हरती।
बकुल, केवड़ा, जुही, केतकी भरी हुई इसमें सारी।
जो मस्तिष्क-शिथिल, उसको यह देती सदा शक्ति न्यारी॥

[अनेक व्यक्ति सुगन्धित द्रव्य ख़रीदते हैं, कुछ ही देर में वह पिटारी बन्दकर, उसे उठाकर, गाता हुआ दाहनी ओर के मार्ग से जाता है।]

यानचांग—(गन्धी के जाने पर) यह कौन था?

दूसरा—सुगन्धित द्रव्य बेचनेवाला गन्धी। हमारे कान्यकुब्ज के सुगन्धित द्रव्य सारे आर्यावर्त में प्रसिद्ध हैं।

[यानचांग लिखता है।]

यानचांग—बन्धुओ, एक बात आपसे और पूँछता हूँ। आशा है, उसके कारण आप अप्रसन्न न होंगे।

पहला—कदापि नहीं।

यानचांग—आपके राज्य में, आपके महाराजाधिराज से आप लोगों के समान सभी लोग प्रसन्न हैं या कोई अप्रसन्न भी हैं?

दूसरा—उनसे अप्रसन्न! कोई नहीं। सारे आर्यावर्त में बालक से वृद्ध तक, एक भी व्यक्ति नहीं।

तीसरा—हाँ, हाँ, कोई नहीं।

वृद्ध—देखो, बन्धु, झूठ न बोलो।

यानचांग—तब कोई उनसे अप्रसन्न भी हैं?

वृद्ध—(सिर हिलाकर) हाँ, हैं।

यानचांग—कौन?

वृद्ध—कुछ कट्टर ब्राह्मण।

यानचांग—(सिर हिलाकर) अच्छा, इसका कारण?

वृद्ध—कुछ विशेष नहीं, उनकी बौद्ध-धर्म से सहानुभूति है, यही प्रधान कारण है।

यानचांग—ऐसे ब्राह्मण बहुत हैं?

वृद्ध—बहुत थोड़े, परन्तु उनका कहीं न कहीं गुप्त संगठन है। अनेक वर्षों से सुना जाता है कि वे इस सत्ता को उलटने के लिए संगठन कर रहे हैं।

यानचांग—उनके संगठन का पता नहीं लगा?

वृद्ध—अब तक तो नहीं लगा।

यानचांग—राज्य की ओर से पता लगाने का प्रयत्न तो हुआ होगा?

वृद्ध—थोड़ा-बहुत प्रयत्न कदाचित् हुआ हो, परन्तु उनकी संख्या और शक्ति इतनी कम है कि न वे आज तक कुछ कर सके न भविष्य में कुछ कर सकेंगे; अतः राज्य इसकी चिन्ता ही नहीं करता। यह तो आपने पूछा कि महाराजाधिराज से कोई अप्रसन्न है या नहीं इसलिए मैंने जो कुछ सुना था, वह आपको बता दिया। इस विषय को कोई महत्व नहीं है।

[यानचांग लिखता है। दाहनी ओर से एक फल बेचनेवाली सुन्दर स्त्री फलों की टोकरी बगल में दबाए नाचती और गाती हुई आती है। सबका ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। वह चबूतरे पर आकर, फल की टोकरी रखती और गाती रहती है।]

लेकर आयी फल मैं ले-लो, कान्यकुब्ज की फलवाली।
दानोंयुत दाड़िम हूँ लायी, इसके ये दाने
सुदती प्रमदा के दन्तों पर, हँसते मनमाने।
रस से भरी दाख हूँ लायी, इस रस के सम्मुख
रमणी के अधरों का रस भी, दे सकता क्या सुख?
गूदे भरे आम हूँ लायी, इस गूदे का दल
कहता—वनिता के कपोल क्या? कहो न तुम—चल-चल।
नहीं मिलेगी सकल जगत में फिर ऐसी सुन्दर डाली ॥

[कई व्यक्ति फल खरीदते हैं। कुछ क्षणों के पश्चात् वह टोकरी उठाकर उसी प्रकार नाचती-गाती बाँयीं ओर जाती है। उसी समय दो अध्यापकों के साथ विद्यार्थियों का एक समूह दाहनी ओर के मार्ग से आता है। अध्यापकों की वेश-भूषा साधारण पुरुषों के समान है, परन्तु विद्यार्थियों की ब्रह्मचारियों के सदृश।]

दूसरा—ये हमारे नालन्द विश्वविद्यालय के विद्यार्थी और अध्यापक हैं। अभी विद्यालय की छुट्टी हुई है, अतः कान्यकुब्ज देखने के लिए आये हैं।

[समूह चबूतरे के निकट आ जाता है। यानचांग समूह की ओर बढ़ता है। उसके साथी भी उसके साथ जाते हैं।]

यानचांग—(नोटबुक को जेब में रखकर, प्रसन्नता से अध्यापकों

का अभिवादन करते हुए) यह चीनीयात्री यानचांग नालन्द के अध्यापकों का अभिवादन करता है।

एक अध्यापक—(खड़े होकर, अभिवादन का उत्तर देते हुए, दूसरा अध्यापक और विद्यार्थी समूह भी खड़ा हो जाता है) अच्छा, आप इस देश में यात्रा के निमित्त आये हैं?

यानचांग—हाँ, महानुभाव, और आपके इस परम सुन्दर, पवित्र, सभ्य और सुसंस्कृत देश के दर्शनार्थ भी।

दूसरा अध्यापक—(मुस्कराकर) आप तो हमारी भाषा बड़ी सुन्दरता से बोलते हैं, महाशय।

यानचांग—हाँ, महानुभाव, मैंने आपकी देववाणी और प्राकृत दोनों भाषाओं के थोड़े बहुत अध्ययन का प्रयत्न किया है।

पहला—यह सुनकर हमें परम प्रसन्नता हुई।

यानचांग—नालन्द की कीर्ति तो हमारे देश के कोने-कोने में पहुँच गयी है, महानुभावो। कदाचित् समस्त विश्व में इस समय ऐसा कोई विश्वविद्यालय नहीं है।

दूसरा—कुछ लोग ऐसा अवश्य समझते हैं, परन्तु हम लोगों को इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है।

यानचांग—नालन्द विश्वविद्यालय में कितने विद्यार्थी हैं, महानुभाव?

पहला—कई सहस्र हैं, महाशय, परन्तु नालन्द के अतिरिक्त इस देश में और भी कई विश्वविद्यालय हैं और फिर प्रत्येक नगर और ग्रामों में अनेक संस्थाएँ और गरुकुलों-द्वारा शिक्षा की व्यवस्था है। कन्याओं के लिए कन्या-विद्यालय अलग हैं।

यानचांग—और इस देश में शिक्षा की क्या प्रणाली है, महानुभाव ?

पहला—यह तो थोड़े में नहीं बताया जा सकता, महाशय। आप स्वयं नालन्द आइए और सब बातों का निरीक्षण कीजिए। नालन्द की शिक्षा-प्रणाली देखने से आपको देश भर की शिक्षा-प्रणाली का ज्ञान हो जायगा।

यानचांग—चीन देश से विदा होते समय ही, मैंने नालन्द आने और वहाँ विद्यार्थी होकर कुछ समय तक अध्ययन करने का विचार कर लिया था, महानुभाव।

पहला—यह आपकी कृपा है। पर, आप आवें अवश्य और मेरे साथ ही निवास करें।

यानचांग—आपका शुभ नाम, महानुभाव ?

पहला—प्रभामित्र।

यानचांग—(**अंगे में से नोटबुक निकाल उसमें नोट करते हुए दूसरे से**) और आपका, महानुभाव ?

दूसरा—जिनमित्र।

यानचांग—(**इसे भी नोट करते हुए**) नालन्द में तो विदेशों के भी अनेक विद्यार्थी अध्ययन करते हैं न ?

दूसरा—हाँ, हाँ, अनेक।

पहला—तो फिर अब आज्ञा हो ?

यानचांग—क्षमा कीजिए कि मैंने आप लोगों का इतना अमूल्य समय लिया। **(दोनों को अभिवादन करता है।)**

पहला—**(अभिवादन का उत्तर देते हुए)** नहीं, नहीं, कोई बात नहीं। आपके दर्शन से हम लोगों को परम हर्ष हुआ है। **(बाँयीं ओर के मार्ग पर आगे बढ़ता है।)**

दूसरा—**(अभिवादन का उत्तर देते हुए)** आप नालन्द अवश्य आवें। **(उसी ओर बढ़ता है।)**

यानचांग—हाँ, हाँ, अवश्य और शीघ्र ही आऊँगा, महानुभाव।

[विद्यार्थीगण यानचांग का अभिवादन करते हैं। यानचांग अभिवादन का उत्तर देता है। अध्यापकों और विद्यार्थी-समूह का बाँयीं ओर के मार्ग से प्रस्थान।]

यानचांग—**(कुछ ठहरकर अपने पहले साथियों से)** क्यों बन्धुओ, आपकी सम्राज्ञी और महाराजाधिराज के दर्शन भी हो सकते हैं?

पहला—अवश्य। जो उनसे मिलना चाहते हैं, वे उन सबसे मिलते हैं।

दूसरा—और बड़ी नम्रतापूर्वक।

तीसरा—हाँ, मद तो उन्हें छू नहीं गया है।

वृद्ध—और आपसे मिलकर तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता होगी।

यानचांग—यह क्यों?

वृद्ध—वे विद्वानों से बड़ी प्रसन्नतापूर्वक मिलते और उनका बड़ा सत्कार करते हैं। आप तो बड़े विद्वान् जान पड़ते हैं।

यानचांग—(मुस्कराकर) यह आपने कैसे जाना ?

वृद्ध—क्यों ? हमारी भाषा विदेशी होने पर भी आप उसमें इस प्रकार वार्तालाप करते हैं, क्या यह साधारण बात है ?

[दाहनी ओर के मार्ग से संघस्थिवर के संग बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के एक समूह का प्रवेश। ये सब रक्त-वर्ण के चीवर पहने हुए हैं।]

यानचांग—(अपने साथियों से) ये संघस्थिवर के संग बौद्ध-भिक्षु और भिक्षुणी जान पड़ते हैं।

पहला—हाँ, महाशय, हमारे नगर में अनेक बौद्ध-मन्दिर और संघाराम भी हैं।

दूसरा—हमारे महाराजाधिराज आर्य और बौद्ध, दोनों धर्मों को एक दृष्टि से देखते हैं।

[यानचांग संघस्थिवर की ओर बढ़ता है। परदा गिरता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—हर्ष के प्रासाद की बाहरी दालान

समय—संध्या

[दालान की बनावट दूसरे अंक के पहले दृश्य की दालान के सदृश ही है, परन्तु भित्ति और स्तम्भों का रंग उस दालान की भित्ति और स्तम्भों के रंग से भिन्न है। भण्डि का प्रवेश। भण्डि की अवस्था अब लगभग ५० वर्ष की है। यद्यपि शरीर वैसा ही है तथापि गलमुच्छों,

मस्तक तथा नेत्रों के दोनों ओर कुछ झुर्रियाँ पड़ जाने के कारण मुख में बहुत परिवर्तन दिख पड़ता है। केश भी यत्र-तत्र श्वेत हो गये हैं। वेश-भूषा पहले के समान ही है। मुख उदास है।]

भण्डि—(**ज़ोर से**) प्रतिहारी ! प्रतिहारी !

[**दूसरी ओर से प्रतिहारी का प्रवेश। वह अभिवादन करता है।**]

भण्डि—(**अभिवादन का उत्तर देते हुए**) परमभट्टारक और सम्राज्ञी कहाँ विराज रहे हैं ?

प्रतिहारी—उपशाल में, श्रीमान।

भण्डि—और कौन है ?

प्रतिहारी—चीनीयात्री यानचांग।

भण्डि—(**पैर पटककर**) ओह ! क्या दिन-रात वह यहीं बैठा रहता है ?

प्रतिहारी—(**कुछ मुस्कराकर**) दिन-रात तो नहीं, श्रीमान, परन्तु इधर उनका आवागमन कुछ अधिक हो रहा है।

भण्डि—(**एक ओर से दूसरी ओर तक टहलकर**) परन्तु, मुझे आज सन्ध्या को उपस्थित होने की आज्ञा दी गयी थी।

प्रतिहारी—मैं श्रीमान के आगमन की सूचना करता हूँ।

भण्डि—(**कुछ सोचकर**) हाँ, सूचना तो कर ही दो।

[**प्रतिहारी जिस ओर से आया था उसी ओर जाता है। भण्डि इधर-उधर टहलता है। जिस ओर से भण्डि आया था उसी ओर से**

माधवगुप्त का प्रवेश। माधवगुप्त बहुत ही उदास है। दोनों एक दूसरे का अभिवादन करते हैं।]

भण्डि—(माधवगुप्त को देख, खड़े होकर) बहुत अच्छा हुआ, तुमसे यहीं मिलना हो गया, मित्र। मैं तो तुमसे मिलना ही चाहता था। तुमने एक नयी बात सुनी?

माधवगुप्त—कौनसी?

भण्डि—दक्षिण की पराजय का सारा दोष मेरे सिर पर मढ़ा जा रहा है।

माधवगुप्त—मैंने भी यही चर्चा सुनी है, परन्तु परमभट्टारक ऐसा नहीं समझते।

भण्डि—परमभट्टारक चाहे न समझें, पर जन-समुदाय अवश्य समझता है।

माधवगुप्त—इसका कारण है।

भण्डि—क्या?

माधवगुप्त—बात यह है कि राजसिंहासन पर अब तक सम्राज्ञी आसीन हैं। परमभट्टारक और महामात्य ही सारा राज्य-काज चला रहे हैं। महाबलाधिकृत सिंहनाद नहीं हैं। केवल यह नवीन बात हुई है। और, इस राज्य के इतिहास में पराजय नयी बात है। अतः तुम पर सारा दोष लाद देने से सर्वसाधारण को संतोष हो जाता है।

भण्डि—परन्तु, परमभट्टारक स्वयं युद्ध पर गये थे।

माधवगुप्त—राजा को यथासम्भव दोष न देकर कर्मचारियों को दोष देना यह जन-समुदाय की प्रवृत्ति होती है।

भण्डि—और महाबलाधिकृत सिंहनाद के पश्चात् वल्लभी को जो मैंने जीता था?

माधवगुप्त—वल्लभी की जय के पश्चात् दक्षिण की पराजय हुई है न?

भण्डि—हाँ।

माधवगुप्त—जन-समुदाय का स्मृति-कोष बहुत ही छोटा होता है। वह नवीन बात को स्मरण रख सकता है; पुरानी बातों को नहीं।

भण्डि—**(कुछ ठहरकर)** अच्छा, इस बार मैं दिखा दूँगा कि महाबलाधिकृत भण्डि किस वस्तु का बना है। दक्षिण पर आक्रमण की जो योजना मैंने बनायी है उसमें असफलता को स्थान ही नहीं है। उसी योजना पर विचार करने के लिए परमभट्टारक ने इस समय मुझे बुलाया है।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—**(दोनों का अभिवादन कर भण्डि से)** चलिए।

[तीनों का दाहनी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज के राज-प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[वही दालान है जो इस अंक के पहले दृश्य में थी। बीच में सुवर्ण-

मण्डित तथा रत्नों से जड़ा हुआ शयन रखा है, जिस पर हर्ष और राज्यश्री बैठे हुए हैं। दाहनी ओर एक सुवर्णमण्डित आसंदी रखी है, जिस पर यानचांग बैठा है। बाँयीं ओर दो सुवर्णमण्डित आसंदियाँ रखी हैं, जो रिक्त हैं। एक दासी खड़ी हुई खश का पंखा झल रही है। प्रतिहारी के संग माधवगुप्त और भण्डि का प्रवेश। प्रतिहारी अभिवादन करता है और उन्हें छोड़कर, अभिवादन कर पुनः बाहर जाता है। माधवगुप्त और भण्डि, हर्ष और राज्यश्री का अभिवादन करते हैं। दोनों अभिवादन का उत्तर देते हैं।]

हर्ष—आइए, महाबलाधिकृत और माधवगुप्त, बैठिए।

[दोनों रिक्त आसंदियों पर बैठते हैं।]

हर्ष—(माधवगुप्त और भण्डि से, यानचांग की ओर संकेत कर) आप लोग कदाचित् चीनीयात्री यानचांग महोदय को नहीं जानते? **(यानचांग से भण्डि की ओर संकेत कर)** ये इस राज्य के महाबलाधिकृत हैं। **(माधवगुप्त की ओर संकेत कर)** और ये मेरे परम मित्र माधवगुप्त।

[तीनों एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं।]

माधवगुप्त—आपका नाम तो सुना था, परन्तु अब तक दर्शन का सौभाग्य प्राप्त न हुआ था।

भण्डि—मैंने भी नाम सुना था, परन्तु कभी भेंट न हुई थी।

यानचांग—कान्यकुब्ज में आये मुझे थोड़े ही दिन हुए हैं। आप लोगों को राज्य-काज से अवकाश ही कहाँ, इसलिए अब तक मिलना न हो सका, परन्तु आप दोनों की प्रशंसा मैंने परमभट्टारक और प्रजा दोनों के ही मुख से सुनी है। हर्ष की बात है कि आज दर्शन भी हो गये।

हर्ष—यानचांग महोदय संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के पण्डित हैं।

राज्यश्री—और बौद्ध-धर्म का भी इन्होंने बड़ा अच्छा अध्ययन किया है।

भण्डि—(**सिर हिलाते हुए**) अच्छा।

माधवगुप्त—मैंने भी सुना था।

[कुछ देर सब लोग चुप रहते हैं।]

भण्डि—महाराज, दक्षिण पर आक्रमण के सम्बन्ध में जो नयी योजना बनाने की आज्ञा हुई थी, वह तैयार हो गयी है। राज-सभा ने उसपर आज विचार भी कर लिया है।

राज्यश्री—परन्तु, अब दक्षिण पर आक्रमण न होगा, महाबलाधिकृत। मैंने परमभट्टारक से भी इसकी स्वीकृति ले ली है।

भण्डि—(**चौंककर**) दक्षिण पर आक्रमण न होगा?

राज्यश्री—हाँ, महाबलाधिकृत, अभी-अभी हम लोगों ने यह निर्णय किया है।

भण्डि—इसका क्या अर्थ है, सम्राज्ञी?

राज्यश्री—(**मुस्कराकर**) आक्रमण न होने का अर्थ तो आक्रमण न होना ही हो सकता है, महाबलाधिकृत।

[भण्डि को छोड़कर सब लोग हँस पड़ते हैं।]

भण्डि—(**कुछ सकुचते हुए**) हाँ, यह तो ठीक है, सम्राज्ञी, किन्तु दक्षिण पर आक्रमण न होगा यह बात मैं विचार ही न सकता था;

आर्यावर्त का साम्राज्य किसीसे पराजित होकर बदले के लिए आक्रमण न करेगा, यह बात मेरे मन में ही न उठ सकती थी।

राज्यश्री—परमभट्टारक ने सिंहासनासीन होते ही शशांक नरेन्द्रगुप्त से बदला लेने के लिए गौड़ पर आक्रमण करने का विचार किया था। इसके पश्चात् पहले छः वर्षों में तो उन्हें अश्व से उतरने तक का अवकाश न मिला और शेष समय भी कभी युद्ध, कभी विप्लव की शान्ति एवं अन्य झगड़ों में गया। अब दक्षिण से बदला लेने के लिए फिर से युद्ध हो, यह मेरी सहनशक्ति के बाहर की बात है।

भण्डि—परन्तु, सम्राज्ञी, दक्षिण के युद्ध में बहुत थोड़ा समय लगेगा। फिर इस बार दक्षिण के युद्ध की मैंने ऐसी योजना बनायी है कि उसमें असफलता मिल ही नहीं सकती।

राज्यश्री—नहीं, महाबलाधिकृत, अब मैं एक दिन का भी युद्ध नहीं चाहती। सिंहासनासीन होने के दिन मैंने भारत में एक राष्ट्र की स्थापना के प्रयत्न की घोषणा की थी। उस प्रयत्न की ओर, मेरे मतानुसार हम लोग एक पग भी आगे नहीं बढ़े हैं। परमभट्टारक और मैं दोनों ही वृद्ध हो चले हैं। अब युद्ध नहीं, एक दिन का भी युद्ध नहीं।

भण्डि—यदि मैं यह कहूँ तो क्षमा कीजिएगा, सम्राज्ञी, कि मैं आपकी इस बात से सहमत नहीं कि एक राष्ट्र-निर्माण के कार्य में हम लोगों ने एक पग भी आगे नहीं बढ़ाया है। जब तक सारा भारतवर्ष एक साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं आता, तब तक एक राष्ट्र-निर्माण का कार्य हो ही कैसे सकता है? आर्यावर्त एक साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया है, अतः जहाँ तक उत्तरापथ का सम्बन्ध है, वहाँ तक एक राष्ट्र-निर्माण का कार्य बहुत दूर तक हो चुका। ज्योंही दक्षिण भारत साम्राज्य के अन्तर्गत आ जायगा, त्योंही एक राष्ट्र के निर्माण-कार्य का सबसे कठिन भाग समाप्त हो जायगा और फिर हम सब

लोगों का सारा समय एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक संगठन-सम्बन्धी कार्यों में ही व्यतीत होगा।

राज्यश्री—परन्तु, उत्तर भारत एक साम्राज्य के अन्तर्गत होने पर भी क्या उसमें एक राष्ट्र का निर्माण हो गया है?

भण्डि—न...न...नहीं हुआ, यह मैं मानता हूँ, परन्तु इसके कारण हैं।

राज्यश्री—कौनसे?

भण्डि—**(कुछ सोचते हुए)** अनेक कारण हैं, साम्राज्ञी।

राज्यश्री—होंगे, परन्तु मेरे मतानुसार सबसे प्रधान कारण एक ही है, महाबलाधिकृत, और वह है परमभट्टारक को उस ओर पूर्ण लक्ष देने के लिए अवकाश न मिलना। अब पहले आर्यावर्त में एक राष्ट्र का निर्माण हो जावे तब हम दक्षिणापथ पर आक्रमण करने की बात सोचेंगे।

[कुछ देर सब लोग चुप रहते हैं।]

यानचांग—**(हर्ष और राज्यश्री से)** यदि मुझे आज्ञा हो तो महाबलाधिकृत से कुछ निवेदन किया चाहता हूँ।

हर्ष—हाँ, हाँ, आप जो कहना चाहें अवश्य कह सकते हैं।

भण्डि—मैं भी सहर्ष सुनूँगा।

यानचांग—क्या आप समझते हैं, महाबलाधिकृत, कि सारे भारतवर्ष पर एक राज्य होने से भारत में एक राष्ट्र का निर्माण हो जायगा?

भण्डि—केवल इतने ही से हो जायगा, यह मैं नहीं कहता, परन्तु यह उसके लिए सबसे पहली, सबसे कठिन और सबसे प्रधान बात है।

यानचांग—मौर्यों के समय तो सारा भारत एक साम्राज्य के अन्तर्गत था, गुप्तों के समय भी सारा आर्यावर्त एक साम्राज्य के अन्तर्गत रहा फिर भी भारत में एक राष्ट्र का निर्माण क्यों न हुआ ? बात यह है, महाबलाधिकृत, कि युद्ध करके बलपूर्वक भिन्न-भिन्न राज्यों को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने से एक राष्ट्र का निर्माण ही असम्भव है। वे राज्य सदा यह सोचा करते हैं कि बलपूर्वक हम एक साम्राज्य के अन्तर्गत रखे गये हैं। बार-बार वे विद्रोह करते हैं और अवसर पाते ही स्वतंत्र हो जाते हैं। इसलिए......।

हर्ष—(**बीच ही में**) मैं आपके कथन के बीच ही में कुछ कह देना चाहता हूँ।

यानचांग—हाँ, हाँ, अवश्य।

हर्ष—जब मैंने स्थाण्वीश्वर का राज्य ग्रहण किया और सम्राज्ञी कान्यकुब्ज के सिंहासन पर बैठीं, उस समय हम लोगों ने भी यही विचार किया था। हम लोग बलपूर्वक किसीको साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं लाना चाहते थे। सम्राज्ञी ने सिंहासनासीन होते ही जो घोषणा की थी उसमें कह दिया था कि इस साम्राज्य के अन्तर्गत जो राज्य सम्मिलित होंगे उनका पद समानाधिकारियों का रहेगा। परन्तु, वह नीति सफल न हुई। कुछ राज्यों को छोड़कर शेष राज्य स्वेच्छापूर्वक साम्राज्य में सम्मिलित ही न हुए तब विवश होकर युद्ध करना पड़ा।

यानचांग—राज्यों को सम्मिलित करने का प्रयत्न किये बिना ही यदि एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक संगठन का प्रयत्न किया गया होता, तो भिन्न-भिन्न देशों में एकता की भावना उत्पन्न हो जाती और तब उन्हें अनुमान हो जाता कि साम्राज्य उन्हींकी वस्तु है, तथा एक साम्राज्य के अन्तर्गत रहना उन्हींके स्वार्थ के लिए आवश्यक है।

भण्डि—सारे देश को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाये बिना यह प्रयत्न ही क्योंकर हो सकता था ?

यानचांग—क्यों ? चीन देश आपके साम्राज्य के अन्तर्गत हुए बिना ही क्या आपके देश ने वहाँ बौद्ध-धर्म की स्थापना का यत्न नहीं किया था ? एक चीन ही नहीं, भारतीय सम्राट् अशोक ने तो सारे संसार को एक सूत्र में बाँधने का उद्योग किया था, और यह, संसार को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किये बिना ही। आप समझते हैं कि यदि आप अपने देश को एक साम्राज्य के अन्तर्गत ले भी आये और यदि आपने अपने देश में एक राष्ट्र की स्थापना कर भी ली तो आप सब भयों से मुक्त हो जायँगे ?

भण्डि—फिर हमें कौनसा भय रह जायगा ?

यानचांग—विदेशी आक्रमणों का।

भण्डि—उसके लिए हम यथेष्ट-रूप से बलवान रहेंगे।

यानचांग—परन्तु, जैसे एक प्रकार की वस्तु से उसी प्रकार की वस्तु उत्पन्न होती है, वैसे युद्ध से सदा युद्ध की ही उत्पत्ति होती है। ज्योंही एक विदेशी आक्रमण में आपकी शक्ति का व्यय हुआ और दूसरों ने देखा कि आप निर्बल हैं, त्योंही आप पर दूसरा आक्रमण होगा। जब तक यह युद्ध रहेगा तब तक आप ही नहीं सारे संसार की यही अवस्था रहेगी। इसलिए सम्राट् अशोक के सदृश, बिना युद्ध के ही, सारे संसार को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न होना चाहिए।

भण्डि—परन्तु, सम्राट् अशोक का तो वह प्रयत्न असफल हो गया।

यानचांग—एक देश, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, अकेला, इतना बड़ा कार्य नहीं कर सकता। इसके लिए अनेक देशों में एक साथ यह प्रयत्न चलना चाहिए और वह भी सतत। सम्राट् अशोक के पश्चात्

वह कार्य इस प्रकार से अब तक संसार में कहीं किया ही नहीं गया।

माधवगुप्त—(**जो अब तक चुप होकर सारे विवाद को ध्यानपूर्वक सुन रहा था**) तो आप समझते हैं कि सारे संसार पर एक धर्म, एक भाषा और एक सामाजिक संगठन की स्थापना हो सकती है?

यानचांग—यह चाहे न हो, परन्तु उस सहिष्णुता की स्थापना अवश्य हो सकती है, जिससे एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक संगठनवाले दूसरे धर्म, दूसरी भाषा और दूसरे प्रकार के सामाजिक संगठन-वालों को अपना शत्रु न समझ कर मित्र समझें, एक दूसरे का रक्तपात करने के इच्छुक न रहकर एक दूसरे को सहायता पहुँचावें और इस कार्य में सब अपना-अपना स्वार्थ मानें।

हर्ष—(**प्रसन्न होकर**) यह मैं भी मानता हूँ। यह परिस्थिति संसार में अवश्य लायी जा सकती है और आप ठीक कहते हैं, यानचांग महोदय, कि जब तक संसार में यह परिस्थिति नहीं लायी जायगी, तब तक कोई भी देश सुखी नहीं हो सकता। आपके इस कथन को भी मैं मानता हूँ कि एक देश इस परिस्थिति की स्थापना में सफल नहीं हो सकता और इसके लिए अनेक देशों में एक साथ तथा सतत प्रयत्न होना चाहिए। वल्लभी के पराजित नरेश सेनापति ध्रुवसेन को मैं वल्लभी का राज्य लौटाकर उसके संग अपनी पालित पुत्री जयमाला का विवाह कर उसे जामाता बनाऊँगा। पुलकेशिन को अब मैं युद्ध कर विजय न करूँगा, परन्तु बिना साम्राज्य के अन्तर्गत किये ही मैत्री स्थापित कर विजय करूँगा। साथ ही, यत्न करूँगा कि अन्य नरेश भी यही करें। (**यानचांग से**) चीन-सम्राट् से अपने देश में आप यही कराइए। मैंने सुना है, पुलकेशिन से पारस देश का पारस्परिक मैत्री-सम्बन्ध है। चीन और आर्यावर्त का सम्बन्ध आप करा दीजिए। इस प्रकार चीन, पारस और भारत इन तीन महान् देशों में यदि परस्पर

मैत्री हो गयी, तो जम्बू द्वीप के अन्यान्य छोटे-छोटे देशों में तो यह कार्य बहुत शीघ्र हो जायगा और फिर संसार का गुरु जम्बू द्वीप इस दिशा में भी अन्य द्वीपों के पथ-प्रदर्शन का कार्य करेगा। **(कुछ ठहरकर भण्डि से)** महाबलाधिकृत, अब युद्ध नहीं, इस जीवन में अब मैं युद्ध न करूँगा। मेरा जीवन तथा सारे आर्यावर्त की शक्ति अब इसी शुभ कार्य में लगेगी।

राज्यश्री—**(आँखों में आँसू भरकर)** धन्य मेरा भाग्य और धन्य आर्यावर्त का!

[कुछ देर तक सब चुप रहते हैं।]

हर्ष—राज्यश्री, सारे विश्व को इस प्रकार एक नवीन संगठन में परिणत करने के लिए, कितने दीर्घ काल और महान् प्रयत्न की आवश्यकता होगी, इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है। फिर प्रयत्न-कर्त्ता यह प्रयत्न अधिकांश में अपने देश में ही कर सकता है, यह भी स्पष्ट है। भारतवर्ष में यह प्रयत्न जिन दिशाओं में होगा उन्हें मैं युगों से सोच रहा हूँ। अब युद्ध को सर्वथा बन्द कर देने के पश्चात् मेरा सारा समय इसी प्रयत्न में जायगा।

राज्यश्री—वे कौनसी दिशाएँ हैं, शिलादित्य?

हर्ष—वे ही बता रहा हूँ, राज्यश्री। आर्य और बौद्ध-धर्म के एकीकरण के लिए मैं स्वयं शिव, आदित्य और बुद्ध की प्रतिमाओं का एक सार्वजनिक पूजन करूँगा। उसे यज्ञ का रूप देकर आर्यावर्त के समस्त राजाओं, धार्मिक संस्थाओं और प्रजा को सम्मिलित होने का निमन्त्रण दूंगा।

राज्यश्री—इससे धार्मिक एकता में अवश्य ही बहुत बड़ी सफलता मिलेगी।

हर्ष—और इसी अवसर पर तुम्हारी ओर से मैं कान्यकुब्ज के कोष में संग्रहीत समस्त धन, सम्पत्ति, रत्न-आभूषण का दान कर दूँगा।

भण्डि—(**चौंककर**) सर्वस्व-दान।

हर्ष—हाँ, सर्वस्व-दान, महाबलाधिकृत, मेरे शरीर में जो आभूषण हैं, इन तक का दान। (**कुछ रुककर**) देखिए, महाबलाधिकृत, नरपतिगण अधिकतर यह कोष-संग्रह अपने विलासों की पूर्ति एवं एक-दूसरे से युद्ध कर अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए करते हैं। इस प्रवृत्ति के नाश के लिए आर्यावर्त के साम्राज्य की ओर से केवल उपदेश नहीं, किन्तु कर्म की आवश्यकता है।

माधवगुप्त—और आप समझते हैं, परमभट्टारक, कि आपके एक बार इस प्रकार के दान से नरेशों की यह प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी?

हर्ष—मैं एक बार ही इस प्रकार का दान न करूँगा।

माधवगुप्त—तब?

हर्ष—प्रजाहित के समस्त कार्यों में व्यय होने के पश्चात् जो कुछ धन साम्राज्य के कोष में बचेगा, उसका हर चौथे वर्ष, युग का अन्त होते ही, दान कर दिया करूँगा।

यानचांग—(**गद्गद कंठ से**) धन्य है आपको, परमभट्टारक, धन्य है! आपके बारम्बार सर्वस्व-दान का यह संकल्प संसार के इतिहास में एक नवीन घटना है।

हर्ष—(**राज्यश्री से**) तुम्हें यह कार्य-क्रम स्वीकृत है, राज्यश्री?

राज्यश्री—(**आँखों में आँसू भरकर**) स्वीकृत? हृदय से स्वीकृत है, शिलादित्य! ऐसे भ्राता को पाकर पृथ्वी पर मेरा जन्म धन्य हो गया!

यवनिका-पतन

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—बुद्ध-गया

समय—प्रातःकाल

[बाँयीं ओर दूरी पर संघाराम का एक कोना दिखायी देता है। बीच में शिखरदार मठ है। दाहनी ओर बोधि-वृक्ष और उसके नीचे के चबूतरे का कुछ भाग दिखता है। निकलते हुए सूर्य के आलोक से दृश्य आलोकित है। अनेक सैनिक बोधि-वृक्ष को कुल्हाड़ियों से काट रहे हैं। अनेक सैनिक बौद्ध-भिक्षुओं को बन्दी किये हुए खड़े हैं। कई बौद्ध-भिक्षु सिसक-सिसक कर रो रहे हैं, परन्तु उनके इस रुदन में भय के कारण चिल्लाने का शब्द नहीं है। बोधि-वृक्ष के सामने उसकी ओर मुख किये शशांक और आदित्यसेन खड़े हुए हैं। दोनों, सैनिक-वेश-भूषा में हैं। शरीर पर कवच है, सिर पर शिरस्त्राण और आयुधों से सुसज्जित हैं। शशांक अपना बाँयाँ हाथ आदित्यसेन के कंधे पर रखे है और दाहना हाथ आगे कर उसकी उँगली से बोधि-वृक्ष को दिखाते हुए आदित्यसेन

से अत्यधिक उत्तेजित शब्दों में कुछ कह रहा है। शशांक और आदित्यसेन के सम्भाषण के बीच-बीच में कभी-कभी कुल्हाड़ियों के चलने और कभी-कभी किसी-किसी बौद्ध-भिक्षु के सिसक-सिसक कर रोने के शब्द सुनायी देते हैं।]

शशांक—बेटा, आज इस बोधि-वृक्ष की एक-एक शाखा के साथ बौद्ध-धर्म की भी एक-एक शाखा का नाश हो जायगा और इसकी जड़ उखड़ते ही बौद्ध-धर्म का भी मूलोच्छेदन। वर्षों और वर्षों क्या, युगों से जिस स्वप्न को देखते-देखते **(दाहने हाथ को केशों पर फेरकर)** ये केश श्वेत हो गये, **(उसी हाथ को मुख पर फेरकर)** इस चर्म में झुर्रियाँ पड़ गयीं, वह स्वप्न तेरे कारण सत्य हो सका, बेटा, तेरे कारण। यदि तू अपने कुल-कलंक पिता का त्याग कर, मेरे निकट न आता तो क्या मेरा स्वप्न कभी सत्य हो सकता था? आर्य-धर्म के पुनुरुत्थान का यह महान् आयोजन क्या सफल होना सम्भव था?

आदित्यसेन—पिताजी, मेरे स्वप्न के सत्य होने के भी तो आप ही कारण होंगे।

शशांक—**(नेत्रों को पोंछते हुए)** तेरे और मेरे स्वप्न में अन्तर नहीं है, बेटा। फिर भी, वर्द्धनों के जिस नाश को तू अपना स्वप्न कहता है, उसके सत्य होने में भी अब तो बहुत कम सन्देह और बहुत कम समय रह गया है। परन्तु, परन्तु उसके सत्य होने का कारण भी मैं नहीं, यथार्थ में तू ही है, बेटा।

आदित्यसेन—यह कैसे पिताजी?

शशांक—**(आदित्यसेन को एकटक देखते हुए धीरे-धीरे)** यह कैसे? इसमें गूढ़...........बड़ा गूढ़ रहस्य है। तू हृदय से शासित होता है, बेटा, और मैं, मैं मस्तिष्क से। मस्तिष्क का शासन छोटे-छोटे

कार्यों, छोटे-छोटे षड्यन्त्रों को चाहे सफल कर दे, परन्तु ....।

[बोधि-वृक्ष की दो शाखाएँ शब्द करती हुई गिरतीं हैं। उनके गिरने से एक भिक्षु चिल्लाकर रोने लगता है।]

शशांक—(उस भिक्षु के निकट जाते हुए निकट खड़े हुए सैनिक से चिल्लाकर) खींच लो इसकी जीभ और भर दो इसके मुँह में धूलि। आर्य-धर्म के शत्रुओ! अधर्मियो! पामरो! अभी क्या हुआ है, इस वृक्ष के पश्चात् तुम सबकी यही दशा होगी, जो इस वृक्ष की हो रही है। इस पुण्य भूमि में शशांक नरेन्द्रगुप्त बौद्ध-धर्म का चिन्ह तक न रहने देगा, चिन्ह तक नहीं।

आदित्यसेन—अरे तुम्हीं·····तुम्हीं दुष्टों ने तो विदेशियों से मिल-मिल कर गुप्त-साम्राज्य का नाश कराया है। तुम्हारी यह वर्द्धन-सत्ता अब थोड़े, बहुत थोड़े काल की पाहुनी है।

रदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—माधवगुप्त के भवन की दालान

समय—प्रातःकाल

[दालान की बनावट वैसी ही है जैसी दूसरे अंक के पहले दृश्य की दालान की थी। भित्ति और स्तंभों का रंग उस दालान की भित्ति और स्तंभों से भिन्न है। माधवगुप्त और भण्डि का बाँयीं ओर से प्रवेश। दोनों अपनी साधारण वेश-भूषा में हैं।]

भण्डि—(**लम्बी साँस लेकर**) तो अब बहुत शीघ्र आर्यावर्त की युगों में एकत्रित की गयी सारी सम्पत्ति निरर्थक रीति से बहा दी जायगी।

माधवगुप्त—और उसका सबसे अधिक दुःख तुम्हें है ?

भण्डि—दुःख न होगा, बन्धु, जिस सम्पत्ति से मैं केवल दक्षिण भारत नहीं, परन्तु सारे संसार को विजय कर सकता था, जिसके एक क्षुद्र अंश से शशांक के इस विद्रोह का कुछ क्षणों में दमन किया जा सकता था, उसका यह निरर्थक व्यय मुझे सबसे अधिक दुःख न देगा तो किसे देगा ? क्या तुम इस व्यय को उचित मानते हो ?

माधवगुप्त—अब तक मैं इसका निर्णय नहीं कर सका।

भण्डि—(**आश्चर्य से**) अच्छा! उस दिन जब परमभट्टारक ने सर्वस्व-दान का निश्चय किया तब तो तुमने भी एक प्रकार से इस प्रस्ताव का विरोध किया था।

माधवगुप्त—अवश्य, परन्तु उसके पश्चात् मैं इस विषय पर अपने मन में बहुत तर्क-वितर्क करता रहा।

भण्डि—और तर्क-वितर्क के पश्चात् तुम इसे उचित मानने लगे हो ?

माधवगुप्त—यह मैंने कहाँ कहा ? मैं तो केवल इतना ही कहता हूँ कि इसके औचित्य और अनौचित्य के सम्बन्ध में मैं कोई निर्णय नहीं कर सका हूँ।

भण्डि—परन्तु, अब तुम इसके वैसे विरोधी नहीं रहे, जैसे उस दिन थे, जिस दिन परमभट्टारक ने यह निर्णय किया था।

माधवगुप्त—हाँ, यह सत्य है।

भण्डि—कारण ?

माधवगुप्त—देखो, मित्र, मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस विषय पर मैं जितना अधिक विचार करता हूँ, उतना ही इस निर्णय पर पहुँचता जाता हूँ कि इस सम्बन्ध में कभी भी कोई एक बात नहीं कही जा सकती।

भण्डि—कैसे ?

माधवगुप्त—आज जो बात उचित जान पड़ती है कल वही अनुचित दिखने लगती है, और आज जो अनुचित कल वही उचित।

भण्डि—तब तुम्हारे मतानुसार न कुछ उचित है और न कुछ अनुचित ?

माधवगुप्त—शनैः शनैः मेरा मत इसी प्रकार का बनता जा रहा है, और इसका कारण है।

भण्डि—क्या ?

माधवगुप्त—अब तक मनुष्य का इस बात का पता न लगा सकना कि मानव-समाज किस ओर, किस प्रकार से जा रहा है।

भण्डि—मैं तुम्हारे इस कथन का अर्थ ही नहीं समझा।

माधवगुप्त—मैं समझाने का प्रयत्न करता हूँ। मनुष्य जब पृथ्वी में किसी वस्तु का बीज बोता है, तब उसे इस बात का निश्चय रहता है न कि अमुक बीज से अमुक प्रकार का ही पौधा निकलेगा ?

भण्डि—अवश्य।

माधवगुप्त—परन्तु, यही बात वह अपनी किसी कृति के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकता।

भण्डि—कैसे ?

माधवगुप्त—कुछ उदाहरणों पर विचार कर देखो। पहले मानव-समाज इस प्रकार के बन्धनों में जकड़ा हुआ न था, जैसा आज है; तब न धार्मिक बन्धन थे, न सामाजिक और न राजनैतिक। मानव-समाज में सुख के लिए इन बन्धनों का आविष्कार हुआ, परन्तु क्या उसके सुख में किसी प्रकार की वृद्धि हुई है ?

भण्डि—इसमें कोई सन्देह है ?

माधवगुप्त—बहुत बड़ा।

भण्डि—यह तो बड़े आश्चर्य की बात कहते हो।

माधवगुप्त—तुम्हें केवल ऐसा जान पड़ता है, परन्तु यदि तुम इस प्रश्न के मूल तक जाकर विचार करोगे तो तुम्हें कुछ आश्चर्य न होगा। जितने धर्मों का आविष्कार हुआ, सबने यही घोषणा की थी कि वे सच्ची शान्ति स्थापित कर देंगे, पर उनसे उल्टा कलह बढ़ा है। सामाजिक संगठन में विवाह सबसे प्रधान बन्धन है। वह दम्पति के सुख का ठेका लेना चाहता था, पर अधिकतर पति-पत्नी दुखी ही दिख पड़ते हैं। इतना ही नहीं, पति-पत्नी के परस्पर प्रेम को स्थायी रूप से बाँध देने के लिए जो सन्तानोत्पत्ति ग्रन्थि के समान मानी जाती है, वह ग्रन्थि भी ग्रन्थि का कार्य न कर प्रायः छुरिका का ही कार्य करती है। राज-सत्ता प्रधानतया रक्तपात और लूट-मार बन्द करने के लिए स्थापित हुई थी, परन्तु सबसे अधिक रक्तपात और लूट राज-सत्ता द्वारा ही हुई है।

भण्डि—(**झुँझलाकर**) फिर क्या किया जाय ?

माधवगुप्त—यही तो अभी तक निर्णय नहीं हो सका, क्योंकि जैसा

मैंने अभी कहा कि मनुष्य को अब तक यह ज्ञात नहीं हुआ है कि मनुष्य-समाज किस ओर और किस प्रकार जा रहा है।

भण्डि—(घृणा से हँसकर) तुम्हारे कहने का तो यह अर्थ होता है कि मनुष्य को अकर्मण्य हो जाना चाहिए।

माधवगुप्त—कदापि नहीं; परन्तु, वह जो अपने को सर्वज्ञ मान कर, हर बात करता है, यह अवश्य भ्रम है।

भण्डि—और परमभट्टारक जिस प्रकार नयी-नयी बातें कर यह मानते हैं कि वे देश और संसार का कल्याण कर रहे हैं, यह भ्रम नहीं है ?

माधवगुप्त—जहाँ तक मैं जानता हूँ वे अपने को सर्वज्ञ मान कर कुछ नहीं करते।

भण्डि—फिर ?

माधवगुप्त—वे जो नयी बातें करते हैं, प्रयोगात्मक दृष्टि से करते हैं, जैसा सभी महान् पुरुषों ने किया है।

भण्डि—अब तक उनके सारे प्रयोग असफल हुए हैं। पहले वे सिंहासन पर न बैठ साधारण पुरुष के समान प्रजा की सेवा करना चाहते थे, वह न हुआ, और उन्हें सिंहासनासीन होना पड़ा। फिर उन्होंने सम्राज्ञी को सिंहासन पर बिठा, महिलाओं को पुरुषों के सदृश अधिकार दिलाने की बात सोची, पर आज भी पुरुष उच्च और महिलाएँ निम्न मानी जाती हैं, फिर उन्होंने स्वयं कान्यकुब्ज का माण्डलीक बनकर अपने उदाहरण-द्वारा बिना युद्ध के ही प्रत्येक देश को साम्राज्य का समानाधिकारी बनाना चाहा, वह प्रयत्न भी असफल हुआ और उन्हें अनेक वर्ष नहीं, परन्तु अनेक युग युद्ध में व्यतीत करने पड़े। अब राज्यों की परस्पर मैत्री और युद्ध के लिए

धन-संग्रह के विरोध में स्वयं सर्वस्व-दान कर, अन्य नरेशों को इस दिशा में आकर्षित करने का यह प्रयोग कहाँ तक सफल होगा, सो तो पहले प्रयोगों से भी अधिक स्पष्ट है।

माधवगुप्त—परन्तु, मित्र, छोटी-छोटी बातों में सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा महान् कार्यों में असफल हो जाना कहीं श्रेष्ठ है। फिर आज परमभट्टारक भी जो कुछ कर रहे हैं, उसका आगे चलकर संसार पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे कौन कह सकता है ?

भण्डि—आज उनके कार्यों का कितना प्रभाव पड़ा, यह हमने देख लिया, उनके पश्चात्, उनके विवाह न करने और सन्तान न होने के कारण सारे देश में जो उथल-पुथल मचेगी, उसकी भी कल्पना की जा सकती है।

माधवगुप्त—अनेक नरेशों की तो सन्तति थी, फिर उथल-पुथल क्यों मची ? देखो, मित्र, मैं यह नहीं कहता कि परमभट्टारक की सारी कृतियों का अच्छा ही फल होगा। मेरा कहना केवल इतना ही है कि संसार में महान् व्यक्ति महान् कार्यों का प्रयोग करने को आते हैं, उनके कार्य किसी न किसी नवीन दिशा में होते हैं, इतना गत इतिहास से अवश्य जान पड़ता है। अनेक कार्यों का फल तत्काल मिलता है और अनेक का शताब्दियों पश्चात्। किन बातों से मानव-समाज का स्थायी कल्याण होगा, यह अब तक सिद्ध नहीं हो पाया, क्योंकि जैसा मैंने अभी दो बार तुमसे कहा कि हम यह नहीं जानते कि मानव-समाज किस ओर, किस प्रकार जा रहा है। मैं परमभट्टारक को महापुरुष मानता हूँ। जो बातें वे करना चाहते हैं उनपर मैं सम्मति अवश्य देता हूँ, परन्तु अन्त में उनके निर्णय को मैं मस्तक झुकाकर स्वीकृत कर लेता हूँ, क्योंकि जहाँ तक उनकी पहुँच है, वहाँ तक मैं अपनी नहीं मानता।

भण्डि—तुम्हारे इस सिद्धान्त के अनुसार साधारण कोटि के मनुष्यों

के कार्य की तो कोई दिशा रह ही नहीं जाती।

माधवगुप्त—यह मैं नहीं मानता। उनकी कार्य-दिशा महापुरुषों का अनुसरण है।

भण्डि—परन्तु, महापुरुष भी एक दिशा में तो नहीं चले हैं, किसका अनुसरण किया जावे ?

माधवगुप्त—जो जिसे महान् पुरुष दिखे तथा जिसकी कृति में कम से कम स्वार्थ और अधिक से अधिक परमार्थ दृष्टिगोचर हो।

भण्डि—यह सब........।

[बाँयीं ओर से एक गुप्तचर का प्रवेश। वह अधेड़ अवस्था का साधारण मनुष्य है। श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है। उसके मुख पर गम्भीरता का साम्राज्य है। वह माधवगुप्त और भण्डि का अभिवादन करता है। दोनों अभिवादन का उत्तर देते हैं।]

माधवगुप्त—क्या शशांक और आदित्यसेन के विद्रोह का कोई समाचार है ?

गुप्तचर—जी हाँ, बड़ा भीषण संवाद है।

माधवगुप्त—**(कुछ घबड़ाकर)** कैसा ?

गुप्तचर—**(इधर-उधर देखकर, धीरे-धीरे)** बोधि-वृक्ष के काटने के पश्चात् अब उन्होंने परमभट्टारक की हत्या का षड्यन्त्र किया है।

[माधवगुप्त और भण्डि चौंक पड़ते हैं।]

माधवगुप्त—किस प्रकार ?

गुप्तचर—यज्ञ के दिन जब जन-समुदाय के बीच शरीर-रक्षकों से

रहित परमभट्टारक, आदित्य, शिव और बुद्ध का पूजन कर सर्वस्व-दान करेंगे, उसी दिन यह कार्य करने के लिए शशांक और आदित्यसेन ने धर्मान्ध ब्राह्मणों को नियुक्त किया है।

[माधवगुप्त सिर झुका लेता है। भण्डि और गुप्तचर एकटक माधवगुप्त की ओर देखते हैं। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

माधवगुप्त—(धीरे-धीरे सिर उठाकर भण्डि से) मित्र, परमभट्टारक ने युद्ध का त्याग किया है, हमने तो नहीं?

भण्डि—कदापि नहीं।

माधवगुप्त—तो हमारा इस समय कुछ कर्तव्य है। मैंने बाल्यावस्था से ही जिस प्रकार परमभट्टारक का साथ दिया है, उसे तुमसे अधिक कोई नहीं जानता। आज भी अनेक व्यक्ति जिस संदिग्ध दृष्टि से मुझे देखते हैं, वह भी तुमसे छिपा हुआ नहीं है। अब तक गुप्तों और वर्द्धनों के संघर्ष का प्रश्न था, परन्तु आज तो एक ओर मेरे जीवन-सर्वस्व परमभट्टारक और दूसरी ओर मेरे एकमात्र पुत्र का प्रश्न है। मित्र, मेरे हृदय में परमभट्टारक के प्रति कितना स्नेह है, इसका प्रमाण देने का आज से बढ़कर मुझे और कोई अवसर नहीं मिलेगा। चलो, भीतर बैठकर **(गुप्तचर की ओर संकेत कर)** इनका सारा वृत्त सुन लें और अपना भावी कर्तव्य निश्चित करें। **(कुछ रुककर)** हाँ, एक बात का ध्यान रहे कि इस समय यह सारा कार्य इस प्रकार करना होगा कि परमभट्टारक तक को, हम लोग क्या करनेवाले हैं, इसका भी पता न लगे।

भण्डि—अवश्य, नहीं तो न जाने हमारे प्रयत्नों को विफल करने के लिए वे क्या कर बैठेंगे।

माधवगुप्त—तो फिर चलो, इस समय एक-एक क्षण अमूल्य है।

भण्डि—अवश्य, अवश्य।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—प्रयाग का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[दूरी पर छोटे-छोटे गृह दिखायी पड़ते हैं। सकरा मार्ग है। प्रातः काल का प्रकाश फैला हुआ है। दो पुरवासियों का बाँयीं ओर से और दो का दाहनी ओर से प्रवेश। सभी उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने हैं। आभूषण भी धारण किये हैं। दाहनी ओर का एक व्यक्ति हाथ में एक काग़ज़ लिए है।]

बाँयीं ओर का पहला—(दाहनी ओर से आनेवाले से) कहो, यज्ञशाला से आ रहे हो?

दाहनी ओर का पहला—जी हाँ, वहीं से।

बाँयीं ओर का दूसरा—क्या समाचार है?

दाहनी ओर का वही—अब तो सब व्यवस्था पूर्ण हो चुकी।

बाँयीं ओर का पहला—कल प्रातःकाल ही तो यज्ञ है, व्यवस्था कैसे न हो चुकती? सब लोग आ गये?

बाँयीं ओर का दूसरा—हाँ, जिन्हें आना था, वे सब आ गये।

बाँयीं ओर का पहला—कितने माण्डलीक आये हैं?

दाहनी ओर का पहला—कामरूप के कुमारराज, वल्लभी के ध्रुवसेन तथा अठारह और।

बाँयीं ओर का दूसरा—तो प्रायः सभी माण्डलीक आ गये?

दाहनी ओर का पहला—हाँ, प्रायः सभी; और सब अपनी-अपनी महिषियों के संग आये हैं।

बाँयीं ओर का पहला—और धर्म-संस्थाओं के प्रतिनिधि?

दाहनी ओर का दूसरा—अरे, वे तो बहुत हैं, कहाँ तक गिनती गिनाऊँ?

बाँयीं ओर का दूसरा—सारे आर्यावर्त की प्रजा भी तो एकत्रित हुई है। ऐसी भीड़ तो कुम्भ पर भी नहीं होती।

बाँयीं ओर का पहला—कुम्भ तो हर बारहवें वर्ष होता है, यह तो अश्वमेध और राजसूय-यज्ञ के समान यज्ञ है, जिसका अवसर सैकड़ों और सहस्रों वर्षों के पश्चात् आता है।

बाँयीं ओर का पहला—इसमें क्या सन्देह है?

दाहनी ओर का पहला—अब तो यज्ञ का सारा कार्य-क्रम भी लिखकर यज्ञशाला के द्वार पर लगा दिया गया है।

बाँयीं ओर का पहला—क्या है, बताओ।

दाहनी ओर का दूसरा—मैं तो लिख लाया हूँ।

बाँयीं ओर का पहला—सुनाओ, सुनाओ।

दाहनी ओर का दूसरा—(हाथ का काग़ज़ पढ़ते हुए) सुनो, प्रातःकाल की प्रार्थना के अनन्तर शिविका पर भगवान शिव, भगवान बुद्ध और भगवान आदित्य की मूर्तियों का यज्ञशाला में आगमन होगा। शिविका-वाहक का कार्य, सम्राज्ञी राज्यश्री, महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन, कामरूपाधिपति कुमारराज भास्कर वर्मन और वल्लभी-नरेश सेनापति ध्रुवसेन करेंगे। शिविका के सम्मुख चलनेवाले पंच महावाद्यों को पाँच माण्डलीक नरपति बजावेंगे। दो माण्डलीक नरेश शिविका के सामने प्रतिहारी के रूप में चलेंगे। चार माण्डलीक नरपति शिविका पर तने हुए वितान के स्तम्भों को उठावेंगे और शेष माण्डलीक नरेशों में से एक शिविका पर छत्र लगावेंगे, दो चामर, दो मोरछल और दो व्यजन डुलावेंगे। इसके पश्चात् महाराजाधिराज साम्राज्य के समस्त कोष का दान करेंगे जो सब वर्णों के निर्धनों को बाँट दिया जायगा।

बाँयीं ओर का दूसरा—सब वर्णों में दान का बाँटना ही तो आर्य-धर्म के प्रतिकूल माना जाता है।

बाँयीं ओर का पहला—उँह, ऐसे विचारवाले कुछ व्यक्ति तो सदा ही रहते हैं। स्मरण नहीं है कि कुछ ब्राह्मणों ने सम्राज्ञी के राज्याभिषेक का भी विरोध किया था।

दाहनी ओर का दूसरा—इतना ही क्यों, शशांक के वर्तमान विद्रोह को कई ब्राह्मण धार्मिक विद्रोह मानते हैं।

दाहनी ओर का पहला—और बोधि-वृक्ष को कटवानेवाली कृति इस प्रकार के विचारवालों का समर्थन करती है।

बाँयीं ओर का पहला—शशांक के विद्रोह का कारण मेरी दृष्टि में तो धार्मिक न होकर राजनैतिक है।

दाहनी ओर का दूसरा—(मुस्कराकर) तब तो आप यह भी मानते होंगे कि भीतर से उसके बड़े-बड़े सहायक भी हैं।

बाँयीं ओर का पहला—(मुस्कराकर) मैं इस सम्बन्ध में कुछ न कहना ही अच्छा समझता हूँ।

दाहनी ओर का पहला—परन्तु, यदि आप आदित्यसेन के कारण माधवगुप्त पर सन्देह करते हैं, और उनका इस समय एकाएक लापता हो जाना इस सन्देह का और भी पुष्ट कारण मानते हैं, तो मैं कहना चाहता हूँ कि आपका सन्देह भारी भूल से भरा हुआ है। देखिए----।

बाँयीं ओर का दूसरा—अरे छोड़िए, इस चर्चा को। यज्ञ की चर्चा करते-करते हम लोग राजनैतिक चर्चा करने लगे।

दाहनी ओर का पहला—यह आप ही ने आरम्भ की है, महाशय।

बाँयीं ओर का दूसरा—मैं अपना दोष स्वीकार करता हूँ। (कुछ रुक कर अपने साथी से) चलो न, हम लोग भी यज्ञशाला देख आवें।

बाँयीं ओर का पहला—हाँ, हाँ, चलो।

[बाँयीं ओर से आनेवालों का दाहनी ओर और दाहनी ओर से आनेवालों का बाँयीं ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—प्रयाग में यज्ञशाला

समय—प्रात:काल

[दूरी पर गंगा बह रही है, उसका श्वेत नीर उदय होते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों से चमक रहा है। बीच में सुवर्ण के रत्नजटित स्तम्भों के सहारे सुनहरी काम का एक वितान तना हुआ है। वितान के पीछे, बीचोंबीच कान्यकुब्ज के कोष का समस्त धन सुवर्ण के घटों में भरा हुआ रखा है। ये घट त्रिकोणाकार में एक दूसरे के ऊपर सजाये गये हैं, अतः उनके समूह सुवर्ण-पर्वत के शिखरों के समान दृष्टिगोचर होते हैं। इन घटों के आसपास राजकर्मचारी बैठे हुए हैं, परन्तु, इनमें माधवगुप्त और भण्डि नहीं हैं। वितान के बीचोंबीच सुवर्ण का एक सिंहासन रखा है। इस सिंहासन की दाहनी ओर महाधर्माध्यक्ष और बाँयीं ओर यानचांग बैठे हुए हैं। धर्माध्यक्ष के निकट की सुवर्ण की चौकियों पर सुवर्ण के थालों में पूजन की सामग्री रखी है। धर्माध्यक्ष की दाहनी ओर धर्म-संस्थाओं के प्रतिनिधि और राज्य के प्रतिष्ठित पुरुष बैठे हैं और इनकी दाहनी ओर पुरुष-जन-समुदाय दृष्टिगोचर होता है। सिंहासन के बाँयीं ओर माण्डलीक नरेशों की रानियाँ बैठी हैं। इन्हींमें जयमाला और अलका भी हैं। इनके बाँयीं ओर स्त्री-जन-समुदाय दिखायी पड़ता है, जिनमें छोटे-छोटे बालक भी हैं। सब लोग पृथ्वी पर की बिछावन पर ही बैठे हैं। सिंहासन के सामने बीच का भाग रिक्त है। कुछ देर के उपरान्त नेपथ्य में पंच महावाद्य बजते हैं, जिन्हें सुनते ही सब लोग हाथ बाँध-बाँधकर खड़े हो जाते हैं। वाद्य बन्द होते ही पाँचवें दृश्य में वर्णित प्रणाली से बुद्ध, शिव और आदित्य की मूर्तियाँ सुवर्ण की रत्नजटित शिविका पर आती हैं। उसपर चार माण्डलीक नरेश छोटा-सा वितान ताने हैं। शिविका पर सुनहरी काम है। उसके चारों छोटे-छोटे स्तम्भ सुवर्ण के हैं जो रत्नों से जड़े हुए हैं। छत्र, चामर, मोरछल और व्यजनों की डाँड़ियाँ भी रत्नजटित सुवर्ण की हैं। छत्र श्वेत कौशेय का है जिसपर रुपहरी काम है और मोतियों की झालर। व्यजन सुनहरी वस्त्र के हैं। सभी नरेशों की वेश-

भूषा हर्ष की सदा की वेश-भूषा के समान है। सबके सिरों पर श्वेत मालाएँ, अर्द्धचन्द्राकार-रूप में बँधी हुई हैं। शिविका के आते ही 'भगवान शिव की जय, भगवान आदित्य की जय, भगवान बुद्ध की जय' वाक्यों से यज्ञ-शाला गूँज उठती है। शिविका सिंहासन के सामने के रिक्त स्थान पर रखी जाती है और धर्माध्यक्ष आगे बढ़कर शिविका में-से तीनों प्रतिमाओं को उठाकर एक-एक कर सिंहासन पर प्रतिष्ठित करते हैं। छत्र, चामर, मोरछल व्यजन लिए हुए सातों माण्डलीक नरेश सिंहासन के पीछे जाकर खड़े होते हैं और छत्रवाले छत्र लगाते तथा अन्य छः नृपतिगण चामर, मोरछल और व्यजन डुलाना आरम्भ करते हैं। प्रतिहारी के रूप में आये हुए दोनों माण्डलीक-नरेश अपनी छड़ियों के संग सिंहासन के उभय ओर खड़े हो जाते हैं। हर्ष, राज्यश्री, कुमारराज और ध्रुवसेन शिविका को जिस मार्ग से लाये थे, उसी मार्ग से बाहर ले जाते हैं। पंच महावाद्य-वाले माण्डलीक-नरेश शिविका के आगे, तथा वितान के स्तम्भों को लिए हुए जो माण्डलीक आये थे, वे उस वितान को शिविका पर उसी प्रकार ताने हुए, शिविका के साथ-साथ बाहर जाते हैं। कुछ ही देर में ये लोग खाली हाथ लौटकर आ जाते हैं। सिंहासन के सामने रिक्त भाग में सिंहासन की ओर मुख कर आगे हर्ष तथा राज्यश्री, इनके पीछे कुमारराज तथा ध्रुवसेन और इनके पीछे अन्य माण्डलीक राजा बैठते हैं। खड़े हुए शेष जन भी बैठ जाते हैं। अब धर्माध्यक्ष एवं धर्म-संस्थाओं के अन्य प्रतिनिधिगण वेद-ध्वनि आरम्भ करते हैं। हर्ष तीनों प्रतिमाओं का संक्षिप्त पूजन कर सुवर्ण-थाल में आरती करते हैं और अन्तिम पुष्पाजंलि में सारा जन-समुदाय मूर्तियों पर पुष्प चढ़ाता है। वेद-ध्वनि बन्द होती और हर्ष कान्यकुब्ज के समस्त कोष का दान-संकल्प करते हैं। संकल्प महा-धर्माध्यक्ष बोलता है। इस संकल्प के पश्चात् हर्ष अपने कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ उतार कर उनका संकल्प करते हैं।]

हर्ष—(संकल्प करने के पश्चात् खड़े होकर, अपने दोनों हाथ आगे कर राज्यश्री से) सम्राज्ञी, मैं आपसे एक वस्त्र की भिक्षा माँगता हूँ, क्योंकि ये बहुमूल्य दुकूल भी दान करूँगा।

[राज्यश्री खड़े होकर आँखों में आँसू भरकर, एक सादा वस्त्र हर्ष को देती है। हर्ष पहले उत्तरीय उतार कर पृथ्वी पर रख देते हैं, फिर राज्यश्री के दिये हुए वस्त्र को पहन अधोवस्त्र भी उतारकर उत्तरीय और अधोवस्त्र हाथ में ले संकल्प के लिए बैठते हैं। महाधर्माध्यक्ष संकल्प बोलना आरम्भ करता है। यज्ञशाला 'परमभट्टारक महाराजाधिराज राजर्षि हर्षवर्द्धन की जय' आदि घोष से गूँज उठती है। इसी समय ब्राह्मणों में से एक ब्राह्मण एकाएक खड़ा होकर अधोवस्त्र में छिपी हुई एक छुरी निकाल हर्षवर्द्धन की ओर शीघ्रता से बढ़ता है। उसकी यह कृति देख उसके निकट बैठे हुए कुछ ब्राह्मण भी इसी प्रकार छुरिकाएँ निकाल कर उस ब्राह्मण पर टूट पड़ते हैं। सभी लोग सिर उठाकर आश्चर्य से स्तम्भित हो इस घटना को देखते हैं। हर्षवर्द्धन की ओर बढ़नेवाले ब्राह्मण को पीछे से छुरिकाएँ निकालनेवाले ब्राह्मण आहत कर पकड़ लेते हैं। उसी समय सैनिक वेश में माधवगुप्त का प्रवेश। उसीके साथ चार सैनिक आदित्यसेन को लोहे की शृंखलाओं से बाँधे हुए लाते हैं। माधवगुप्त के मुख पर अत्यधिक उद्विग्नता और आदित्यसेन के मुख पर अत्यधिक क्रोध दृष्टिगोचर होता है। आदित्यसेन सिर झुकाकर खड़ा हो जाता है। माधवगुप्त हर्ष का अभिवादन कर एकटक हर्ष की ओर देखता है। आश्चर्य से स्तम्भित जन-समुदाय, जिसके मुख से अब तक एक शब्द भी न निकला था और जो ब्राह्मणों की इस घटना को एकटक देख रहा था, अब माधवगुप्त और आदित्यसेन की ओर देखने लगता है; फिर भी किसी के मुख से कुछ नहीं निकलता।]

हर्ष—[माधवगुप्त और आदित्यसेन को देख, आश्चर्य-भरे शब्दों

में माधवगुप्त से) माधव, तुम कहाँ चले गये थे? कब आये? यह सब क्या है?

माधवगुप्त—(**भर्राये हुए शब्द में**) परमभट्टारक की हत्या का षड्यन्त्र! इसीका पता पाकर आपसे बिना कुछ कहे ही मुझे इस षड्यन्त्र के नाश के लिए दूसरे षड्यन्त्र की रचना कर आपके पास से जाने को बाध्य होना पड़ा।

हर्ष—और इस षड्यन्त्र का रचयिता कौन है?

माधवगुप्त—(**उसी प्रकार के स्वर में**) साम्राज्य के विद्रोही मेरे बन्धु शशांक नरेन्द्रगुप्त और (**आदित्यसेन की ओर संकेत कर**) मेरा पुत्र आदित्यसेन।

[हर्ष चौंक पड़ता और फिर सिर झुका लेता है। जन-समुदाय और भी आश्चर्य से आदित्यसेन की ओर देखता है। अब आदित्यसेन क्रोध से अपने ओंठ चबाता और दोनों हाथों को मलता है। कुछ देर सन्नाटा छाया रहता है।]

हर्ष—(**धीरे-धीरे सिर उठाते हुए**) एक विद्रोही को तो तुम बन्दी करके लाये, दूसरा विद्रोही कहाँ है?

माधवगुप्त—(**कुछ सँभलकर**) उसे महाबलाधिकृत भण्डि ने युद्ध में धराशायी किया है।

हर्ष—(**जल्दी से**) मेरे युद्ध त्याग देने पर भी तुम लोगों ने युद्ध किया, इन विद्रोहियों के हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा नहीं की?

माधवगुप्त—(**फिर उसी प्रकार भर्राये हुए स्वर में**) यह युद्ध अनिवार्य था, परमभट्टारक, आततायियों के हृदय में परिवर्तन नहीं होता।

हर्ष—और महाबलाधिकृत भण्डि कहाँ हैं, तुम अकेले कैसे लौटे ?

माधवगुप्त—(शान्त स्वर में) चुने हुए सैनिकों की जिस छोटी-सी सेना के साथ हम लोग गये थे, उसीको संग लेकर वे लौट रहे हैं। मैं इस बन्दी को लेकर शीघ्र इसलिए चला आया कि यज्ञ के अवसर पर पहुँच जाऊँ और देखूँ कि षड्यन्त्र को असफल करने का मेरा षड्यन्त्र सफल हो। फिर भी मुझे आने में कुछ विलम्ब तो हो ही गया।

[हर्ष फिर सिर झुका लेते हैं। फिर कुछ देर तक सन्नाटा छा जाता है।]

हर्ष—(फिर सिर उठाकर धीरे-धीरे) एक विद्रोही तो युद्ध में मारा गया। (आदित्यसेन की ओर संकेत कर) अब इस विद्रोही को भी तुम दण्ड दिलाना चाहते हो ?

माधवगुप्त—(खखारते हुए फिर अत्यधिक भर्राये हुए स्वर में) जी हाँ।

हर्ष—(पहले माधवगुप्त फिर आदित्यसेन और फिर माधवगुप्त की ओर देखकर) कौनसा दण्ड ?

माधवगुप्त—(कठिनाई से बोलते हुए) प्र......प्र......प्राण.........द ....दण्ड।

जन-समुदाय के कुछ व्यक्ति—धन्य है, धन्य है !

कुछ अन्य व्यक्ति—माधवगुप्त की जय !

सारा जन-समुदाय—माधवगुप्त की जय !

[एक ओर से दौड़ते हुए शैलबाला का प्रवेश।]

शैलबाला—कहाँ है, मेरा लाल, कहाँ है ?

[शैलबाला बन्दी आदित्यसेन को देख, दौड़कर उससे लिपट जाती है और फूट-फूट कर रोने लगती है। आदित्यसेन उसी मुद्रा में चुपचाप खड़ा रहता है। केवल अपनी दोनों भुजाओं से माँ का आलिंगन कर लेता है। हर्ष फिर सिर झुका लेते हैं। माधवगुप्त कनखियों से शैलबाला एवं आदित्यसेन की ओर देखता है और जन-समुदाय एकटक शैलबाला की ओर। कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।]

शैलबाला—(एकाएक आदित्यसेन को छोड़कर हर्ष की ओर बढ़, अपनी साड़ी का छोर फैलाकर) भिक्षा माँगती हूँ, परमभट्टारक, अपने इस इकलौते पुत्र के प्राणों-------।

आदित्यसेन—(सिर उठाकर, गरजकर) क्या, क्या, कह रही है, माँ, क्या कह रही है! क्षत्राणी होकर भिक्षा! जो प्राण एक दिन जाना ही है, उसकी भिक्षा! शत्रु से भिक्षा! उत्तम होता, यदि मैं तेरे गर्भ में ही प्रवेश न करता। उत्तम होता, यदि मैं जन्मते ही मर जाता। मेरा इस लोक का जीवन तो समाप्त हो ही रहा है, पर, मरते समय भी पिता के सदृश क्या माता का भी स्मरण कर मुझे तू गौरव का अनुभव न करने देगी? क्या माता का नाम लेकर भी यह आदित्यसेन सहर्ष अपने प्राण न दे सकेगा? **(हर्ष से)** वर्द्धनराज, आप मेरी माता की बात न सुनिए, उस ओर ध्यान ही न दीजिए। पिताजी के कथनानुसार इस अन्तिम गुप्तवंशीय को प्राणदण्ड देकर मेरे गौरव की रक्षा कीजिए। मेरा गौरव न मेरे पिता पर अवलम्बित है और न माता पर। **(अपना वक्षस्थल फुलाकर सिर ऊँचा उठाते हुए)** वह मुझ पर अवलम्बित है, केवल मुझ पर।

हर्ष—(शान्ति से मुस्कराते हुए) नवयुवक, तुम सच्चे नवयुवक हो। युवावस्था में जैसा तेज, जैसा उत्साह, जैसी निर्भीकता होनी चाहिए वैसी ही तुम में है। परन्तु, देखो, तुम्हारे ये सद्‌गुण तुम्हारे एक विवेकहीन

विश्वास के कारण तुम्हें ठीक पथ पर न चला कर पथ-भ्रष्ट कर रहे हैं। आदित्यसेन, तुम मुझे वृथा ही गुप्त-वंश का शत्रु मान रहे हो। मैंने अपने वंश का गौरव बढ़ाने के लिए यह राज्य ग्रहण नहीं किया है। मेरे विवाह न करने के कारण वर्द्धन-वंश का तो कोई वंशज ही न रहेगा। अपने उत्कर्ष के लिए भी यह पद मैंने नहीं लिया है, यदि ऐसा होता तो मैं स्थाण्वीश्वर को कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य क्यों बनाता? पुत्र, मुझे अपने से और अपने वंश से कभी आसक्ति का अनुभव नहीं हुआ, न किसी विशिष्ट धर्म और देश से ही अनुराग। इस विशाल विश्व को ही अपना देश मान, सारे धर्मों पर समान रूप से श्रद्धा रख और अपने-पराये सभी को अपना बन्धु समझ, मैंने अपने जीवन का अब तक का समय व्यतीत करने का प्रयत्न किया है। हाँ, इतने पर भी मुझे अनेक युद्ध करने पड़े हैं, अनेक विद्रोहियों का दमन करना पड़ा है, परन्तु उस परिस्थिति में कदाचित् वह अनिवार्य था। यदि मेरा अब तक का जीवन मेरी अभी कही हुई बातों को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है, तो मैं तुम्हें अपने कथन की सत्यता का अन्य कौनसा प्रमाण दे सकता हूँ? **(कुछ रुककर)** मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, आदित्यसेन, इसलिए नहीं कि तुम्हारी माता ने मुझसे तुम्हारे प्राणों की भिक्षा माँगी है, परन्तु इसलिए कि तुमसे अधिक तेजस्वी, तुमसे अधिक उत्साही, तुमसे अधिक निर्भीक अन्य कोई युवक मुझे इस समय इस आर्यावर्त में दिखायी ही नहीं देता। तुमने यदि इन सद्‌गुणों का, अपने और अपने वंश के उत्कर्ष में उपयोग न कर लोक-सेवा में उपयोग किया तो मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इस आर्यावर्त के परम प्रतापी, सच्चे लोक-सेवी सम्राट् होगे और तुम्हारी कृति से तुम स्वयं तथा यह जगत् दोनों ही अनुपम सुख का अनुभव करेंगे। **(सैनिकों से)** छोड़ दो, सैनिको, आदित्यसेन को मुक्त कर दो।

जन-समुदाय—(एक स्वर से) राजर्षि हर्षवर्द्धन की जय!

[सैनिक आदित्यसेन को लोहे की शृंखलाओं से मुक्त करते हैं। वह बिना कुछ कहे अथवा बिना किसीका अभिवादन किये, कुछ विचार करते हुए धीरे-धीरे जाता है। माधवगुप्त कनखियों से उसकी ओर देखता है। शैलबाला के नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं। हर्ष पहले माधवगुप्त फिर शैलबाला की ओर देख सिर झुका लेते हैं। जन-समुदाय हर्ष, माधवगुप्त और शैलबाला की ओर देखता है। उसी समय कुछ दूरी पर मण्डप में अग्नि लगती है। हल्ला होता है। कुछ लोग भागते हैं।]

हर्ष—(माधवगुप्त से) हैं! यह क्या माधव, यह भी क्या कुचक्रियों का कोई कुचक्र है?

माधवगुप्त—(जल्दी से) जान तो यही पड़ता है, परमभट्टारक, परन्तु चिन्ता नहीं, इसके बुझाने का अभी प्रबन्ध करता हूँ। इस अग्नि के संग ही आर्यावर्त के साम्राज्य के प्रति विद्रोहियों की अग्नि भी सदा के लिए शान्त हो जायगी।

यवनिका-पतन

समाप्त

प्रकाश

निवेदन

यह नाटक मैंने तारीख २५ जून १९३० को दमोह-जेल में लिखना आरम्भ किया और दस दिनों में यह समाप्त हो गया। यद्यपि इसके लिखने में मुझे केवल दस दिनों का समय लगा तथापि इसके कथानक और पात्रों को मैं वर्षों से सोचता रहा हूँ। अन्तिम बार जेल से निकलने के पश्चात्, इस नाटक में, मैंने कुछ परिवर्तन किये जिससे इसका समय सन् १९३४ रहे, सन् १९३० नहीं, क्योंकि समस्त संसार और भारतवर्ष के वायुमण्डल में इन चार वर्षों में यथेष्ट परिवर्तन हुआ है।

यह नाटक सामाजिक है। वर्तमान समाज का राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है, इसलिए इसमें कुछ राजनैतिक बातों का भी समावेश हुआ है, अतः इसे अँगरेज़ी में 'सोशो-पुलेटिकल-ड्रामा' कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। इसकी हस्त-लिखित प्रति जब मैंने कुछ मित्रों को सुनायी तथा पढ़ने को दी तब उन्होंने कुछ पात्रों के सम्बन्ध में मुझसे कहा कि अमुक-अमुक पुरुषों और स्त्रियों को सम्मुख रखकर, तुमने अमुक-अमुक पात्र की सृष्टि की है। अब यह नाटक सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है। बहुत सम्भव है, कतिपय पाठक भी इसी प्रकार की कल्पना करेंगे, पर, मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि किसी भी व्यक्ति-विशेष को लेकर किसी पात्र की सृष्टि नहीं की गयी है। नाटक का वर्तमान सामाजिक स्थिति से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण कुछ पाठकों को इस प्रकार का भ्रम हो सकता है।

इस नाटक में पद्य बिल्कुल ही नहीं हैं, क्योंकि इसमें मुझे उनकी थोड़ी भी आवश्यकता नहीं जान पड़ी।

गोविन्ददास

नाटक के मुख्य पात्र, स्थान

पुरुष—

(१) **राजा अजयसिंह**—एक ज़मींदार
(२) **सर भगवानदास**—एक व्यापारी
(३) **दामोदरदास गुप्ता**—सर भगवानदास का पुत्र, कौंसिल का सदस्य
(४) **माननीय धनपाल**—मिनिस्टर
(५) **पण्डित विश्वनाथ**—हिन्दू-सभा का सभापति, म्यूनिस्पैल्टी का प्रेसीडेण्ट, कौंसिल का सदस्य
(६) **मौलाना शहीदबख़्श**—मुस्लिम-लीग का सदर, म्यूनिस्पैल्टी का वाइस-प्रेसीडेण्ट, कौंसिल का सदस्य
(७) **कन्हैयालाल वर्मा**—'हिन्दुस्थान'-पत्र का सम्पादक
(८) **डॉक्टर नेस्टफ़ील्ड**—क्रिश्चियन बैरिस्टर, बार-एसोसिएशन का प्रेसीडेण्ट, पब्लिक प्रॉसीक्यूटर
(९) **प्रकाशचंद्र**—गाँव से नगर में आया हुआ एक युवक

स्त्री—

(१) **रानी कल्याणी**—अजयसिंह की पत्नी
(२) **लेडी लक्ष्मी**—भगवानदास की पत्नी
(३) **रुक्मिणी**—दामोदरदास की पत्नी
(४) **मनोरमा**—दामोदरदास की बहन
(५) **सुशीला**—मनोरमा की सहेली
(६) **मिस थेरिजा**—नेस्टफ़ील्ड की भतीजी
(७) **तारा**—प्रकाशचंद्र की माता

स्थान—एक नगर

उपक्रम

स्थान—एक दूकान

समय—तीसरा पहर

[छोटी-सी दूकान है। तीन ओर दीवालें दिखती हैं। दो ओर की दीवालों के सिरों पर थोड़ा-थोड़ा स्थान आने-जाने के लिए खुला है। तीनों दीवालों का शेष स्थान बिना दरवाज़ों की अलमारियों से भरा है, जिनमें चिनी-मिट्टी के बर्तन सजे हैं। दूकान के बीच में, एक छोटी-सी स्टूल पर एक वृद्ध मनुष्य बैठा है। उसके सिर पर छोटे-छोटे सफ़ेद बाल और लंबी सफ़ेद दाढ़ी है। वह एक कुरता तथा पायजामा पहने है, परन्तु सिर नंगा है।]

वृद्ध—देखो, देखो, मिट्टी के हैं, तो भी कैसे बर्तन हैं! चमकीला है पॉलिश इनका, सोने से भी अच्छे हैं!

[दाहनी ओर से एक साँड़ आता है। उसे देखते ही वृद्ध घबड़ाकर खड़ा हो जाता है।]

वृद्ध—(साँड़ को बर्तनों की ओर बढ़ते देख, चिल्लाकर) अरे, अरे, दौड़ो, दौड़ो, ख़रीदार की जगह दूकान में साँड़ आ गया, साँड़ आ गया।

यवनिका-पतन

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—राजा अजयसिंह का उद्यान

समय—संध्या

[उद्यान में दूब का एक मैदान सुन्दरता से प्रीति-भोज (गार्डन-पार्टी) के लिए सजाया गया है। चारों ओर रंग-बिरंगे काग़ज़ का बंदनवार बँधा है, उसमें स्थान-स्थान पर चीनाई लालटेनें लटक रही हैं, जिनमें मोमबत्तियाँ जल रही हैं। वृक्षों पर बिजली की रंग-बिरंगी बत्तियाँ हैं। मैदान के बीच में कुछ दूरी पर, एक बड़ी-सी टेबिल रखी है, जिसपर सफ़ेद कपड़ा बिछा है और उसपर अँगरेजी केक, चाकलेट आदि कई प्रकार की मिठाइयाँ एवं फल चीनी की रकाबियों में सजे हुए हैं। बीच में फूलदानों में फूल सजे हैं। टेबिल के चारों ओर रेशमी गद्दीदार सुन्दर कुर्सियाँ हैं। तीन कुर्सियों पर दो मेंमें और एक अँगरेज़ बैठे हुए बातें कर रहे हैं जो बीच-बीच में खाते जाते हैं, परन्तु दूरी पर होने के कारण उनकी बात-चीत सुनायी नहीं देती। दाहनी ओर कई छोटी-छोटी टेबिलें रखी हुई हैं। ये भी कपड़े से ढँकी हैं और इनपर भी मिठाइयाँ और फल तथा फूलदान सजे हुए हैं। एक-एक टेबिल के चारों ओर चार-चार, बेत से बुनी

हुई, हाथदार कुर्सियाँ रखी हैं। कुछ टेबिलों की कुर्सियाँ ख़ाली हैं। एक टेबिल के चारों ओर धनपाल, दामोदरदास गुप्ता, रुक्मिणी और थेरिजा एवं दूसरी टेबिल की दो कुर्सियों पर मनोरमा और सुशीला बैठी हैं। धनपाल गेहुँएँ रंग का, लगभग चालीस वर्ष का, साधारणतया ऊँचा मनुष्य है। नोक कटी हुई (बटर-फ़्लाई) मूँछें हैं, जो सफ़ेद हो चली हैं। कपड़े अँगरेज़ी ढँग के हैं। संध्या के पहनने का टोप कुर्सी के नीचे रखा हुआ है। दामोदरदास गुप्ता साँवले रंग का, लगभग ३५ वर्ष का ठिगना और दुबला आदमी है। मूँछें मुड़ी (क्लीन-शेव्ड) हैं। काले मोटे फ़्रेम का चश्मा लगाए है। इसके वस्त्र भी धनपाल के सदृश हैं और इसका टोप भी कुर्सी के नीचे रखा हुआ है। रुक्मिणी गोरे रंग की लम्बी, लगभग तीस वर्ष की परम सुन्दर रमणी है। बाल अँगरेज़ी ढँग से कटे (बाव्ड) हैं। गुलाबी रंग की, ज़री के काम की बनारसी साड़ी और उसी रंग का बनारसी सलूका पहने है। साड़ी में पिन लगी है। हाथों में काँच की दो-दो और मोती की एक-एक चूड़ियाँ हैं। बाँयें हाथ में काले फ़ीते से सोने की छोटी-सी घड़ी बँधी है। गले में हीरे का हार और कान में हीरे के इयरिंग हैं। सोने के फ़्रेम का चश्मा लगाए है। नाक में और पैरों में कोई आभूषण नहीं है। मोजे और ऊँची एड़ी के बनारसी ज़री के सुनहरी जूते हैं। थेरिजा गेहुँएँ रंग की, ठिगनी, गठी हुई, लगभग पच्चीस वर्ष की साधारण सुन्दर स्त्री है। अँगरेज़ी कपड़े पहने है। बाल अँगरेज़ी ढँग से कटे हैं। सिर पर छोटी चटाई की टोपी है। आसमानी रंग का छोटा लहँगा (स्कर्ट) है, जो ऊँचा है और उसी रंग का सलूका (ब्लाउज़) है जिसके ऊपर का भाग बहुत नीचे तक खुला हुआ है। जाँघों तक गुलाबी रंग के मोज़े (स्टाकिंग्स) और ऊँची एड़ी के बादामी रंग के जूते हैं। मनोरमा, गौर वर्ण की, लगभग अठारह वर्ष की, दुबली, ठिगनी और सुन्दर युवती है। बैंगनी रंग की खादी की फूलदार छपी हुई साड़ी और वैसा ही सलूका पहने

है। बाल लम्बे हैं, जो हिन्दुस्थानी ढँग से सँवारे हुए हैं। मस्तक पर इंगुर की टिकली है। गले में मोती की कंठी, कान में हीरे के इयरिंग, नाक में लौंग, हाथों में काँच की दो-दो और मोती की एक-एक चूड़ी हैं। पैरों में मोज़े और स्लीपर हैं। सुशीला गेहुँएँ रंग की, भरे हुए शरीर की ठिगनी, साधारण तथा सुन्दर युवती है। अवस्था और वेश-भूषा मनोरमा के सदृश है, पर आभूषण रत्नजटित न होकर सोने के हैं। ये सभी बातें कर रहे हैं और बीच-बीच में खाते भी जाते हैं। इनकी बातचीत सुनायी देती है। बाँयीं ओर इसी प्रकार की कई टेबिलें हैं, जिनके चारों ओर चार-चार कुर्सियाँ हैं, पर इन टेबिलों पर कपड़ा नहीं है, कुर्सियाँ भी लोहे की हैं। इन टेबिलों पर भी मिठाइयाँ और फल सजे हैं, पर फूलदान नहीं है। कुछ कुर्सियाँ ख़ाली हैं और कुछ पर साधारण कोटि के मनुष्य साधारण वेश-भूषा में दिखायी देते हैं। ये खाने में तल्लीन हैं और कोई किसीसे नहीं बोलता। अजयसिंह और नेस्टफ़ील्ड दाहनी ओर से मेहमानों का स्वागत कर रहे हैं। कुछ को दाहनी ओर, कुछ को बाँयीं ओर भेजते हैं। जब कुछ देर तक कोई नहीं आता तब ये लोग दाहनी ओर की कुर्सियों पर बैठ जाते हैं। अजयसिंह गोरे रंग का, लगभग ६० वर्ष का दुबला-पतला वृद्ध मनुष्य है। मुख से जान पड़ता है कि कभी सुन्दर रहा होगा। छोटी-छोटी सफ़ेद मूँछें हैं। काली रेशमी शेरवानी और चूड़ीदार सफ़ेद सूती पायजामा पहने तथा सिर पर राजपूताने का गहरा लहरिये रंग का साफ़ा बाँधे हैं। शेरवानी में हीरे के बटन, बाँयीं ओर हीरे का स्टार और नीचे के जेब में घड़ी की, हीरे की, डबल चेन लगी हुई है। साफ़े में हीरे की कलगी है, जिसमें सफ़ेद पर फहरा रहा है। नेस्टफ़ील्ड गेहुँएँ रंग का, लगभग पचास वर्ष का मोटा और ठिगना आदमी है। बड़ी-बड़ी लाल रंग की मूँछें हैं, जो रोग़न (पोमेड) लगाकर बत्तीदार बनायी गयी हैं। मुँह में लम्बा सिगार है। लम्बा, अँगरेज़ी काला कोट (फ़्रॉग कोट) और धारीदार

पतलून तथा ऊँचा अँगरेजी टोप (टॉप हैट) पहने है। वास्केट के नीचे, नेकटाई के निकट सफ़ेद कपड़े की पट्टियाँ (व्हाइट-लाइनर) और काले जूतों पर सफ़ेद रंग के चमड़े (स्पैट्स) लगे हुए हैं। एक आँख में आई-ग्लास है, जो काले फ़ीते से बँधा हुआ है। यह फ़ीता गले में पड़ा है। आई-ग्लास कई बार आँख से खिसक आता है और इसे नेस्टफ़ील्ड फ़िर से लगाता जाता है। खानसामें सफ़ेद वर्दी लगाए हुए केक, चाय, शराब, सिगरेट, सिगार आदि बड़ी-बड़ी रकाबियों (ट्रे) में लिए हुए घूम रहे हैं।]

दामोदरदास—वही हुआ न, मिस्टर धनपाल, जो मैं सदा कहता था। नॉन-को-ऑपरेशन के समान ही सिविल-डिसओबीडियन्स भी फ़ेल हो गया। (अंगूर के गुच्छे में से एक अंगूर तोड़कर खाते हुए) उसी काँग्रेस की आज क्या दशा है जो नाइन्टीन-थर्टी-टू तक इस देश की सर्वेसर्वा थी।

धनपाल—(चाकलेट उठाकर खाते हुए) मैं तो इस सम्बन्ध में सदा तुमसे एग्री होता रहा हूँ, मिस्टर गुप्ता।

दामोदरदास—और देख लेना कि अन्त में मेरा यह कथन भी सत्य होकर रहेगा कि इस देश में भी संसार के अन्य देशों के समान सबसे अधिक प्रधानता आर्थिक प्रश्न की रह जानेवाली है। (चाकू से अमरूद काटता है।)

रुक्मिणी—यह तो ठीक है, पर आर्थिक प्रश्न की अपेक्षा मेरी दृष्टि से तो इस देश का सामाजिक प्रश्न अधिक आवश्यक है। (छुरी उठाकर) स्त्रियों का प्रश्न क्या साधारण प्रश्न है? उनमें शिक्षा नहीं, सामाजिक जीवन नहीं, कुछ भी नहीं है। वे जन्म भर परदे में सड़ायी जाती हैं। पुरुष जिस मार्ग से उन्हें ले जायँ वही उनका मार्ग है। (केक काटते हुए) क्या उन्हें कोई भी स्वतंत्रता है? माँ-बाप जिस अवस्था में, जिसके साथ चाहें, विवाह कर दें। यदि दुर्भाग्य से बाल्यावस्था में वैधव्य

आ गया, तो जन्म भर दुःख ही दुःख। अगर कोई विधवा न हुई और कहीं उसको बुरा पति मिल गया तो भी क्लेश ही क्लेश। डाइवोर्स तक नहीं हो सकता। **(काँटे से केक के टुकड़े को उठाते हुए)** मैं तो कहती हूँ कि जब तक इस देश की स्त्रियों का प्रश्न हल नहीं होता, तब तक इस देश की उन्नति का नाम लेना निरर्थक है। **(केक खाती है।)**

दामोदरदास—लीजिए, फिर वही राग छिड़ गया, मिस्टर धनपाल। **(रकाबी में शैम्पीन का ग्लास लिए हुए खानसामा आता है। दामोदरदास एक ग्लास उठाता है।)** इस बार जब से हम लोग विलायत से लौटे हैं तब से मेरी तो इन्होंने आफ़त कर डाली है। **(शैम्पीन पीते हुए)** मेरे, पैंतीस वर्ष तक की अवस्था में कम्पलसरी-विडो-रीमैरिज-बिल और डाइवोर्स-बिल, जो कौंसिल में पेश हैं, वे इन्हींकी कृपा के फल हैं। भूल गया, कृपा के क्या, कर्टन-लेक्चर्स के फल हैं। **(हँसता है।)**

धनपाल—**(इसने भी शैम्पीन का दूसरा ग्लास उठा लिया है, उसे पीते और सिर हिलाते हुए)** वेल, शी इज़ एब्सोल्यूट्ली राइट। बिना समाज-सुधार के इस देश का कभी कल्याण नहीं हो सकता।

मनोरमा—परन्तु, भाई साहब, इन बिलों से क्या समाज का सच्चा हित हो जायगा? **(संतरा छीलते हुए)** मेरा तो मत है कि कानून-द्वारा समाज-सुधार करना ही ठीक सिद्धान्त नहीं है। समाज-सुधार राजकीय शक्ति की अपेक्षा आन्तरिक परिवर्तन द्वारा ही करने का प्रयत्न अच्छा है और वही स्थायी भी रह सकता है। मैं तो.........। **(संतरा खाती है।)**

दामोदरदास—**(कुछ रुखाई से शैम्पीन पीते-पीते)** तुमको अभी इन सब विषयों पर विचार ही नहीं करना चाहिए, मनोरमा, तुम्हारा काम अभी पढ़ना है। **(खाँसता है।)**

थेरिजा—(**इसने भी शैम्पीन का एक ग्लास उठा लिया है, उसे पीते-पीते**) और एज्यूकेशन के बाद मिस गुप्ता खुद मान लेंगी कि कानून के सिवा ऐसे रिफ़ार्मस् करने का और कोई रास्ता ही नहीं है। मैं तो कहूँगी कि अगर मिस्टर गुप्ता के बिल लॉ बन जायँ और मिसेज़ गुप्ता के मुआफ़िक सौ लेडीज़ भी इस मुल्क में हो जायँ तो आज के सब पुलेटिकिल लीडर्स से ज़्यादा इस मुल्क की बेहतरी हो सकती है।

दामोदरदास—(**मुँह बिचकाकर**) ओह ! डोन्ट टॉक ऑफ़ पुलेटिकिल लीडर्स, मिस नेस्टफ़ील्ड, उनमें क्या रखा है ? गाँधी का नॉन-को-ऑपरेशन और सिविल-डिसओबीडियन्स फेल हो गया, स्वराजिस्ट के ऑब्सट्रक्शन से कुछ न हुआ और रिसपांसविस्ट या माडरेट्स से कभी कुछ होनेवाला है ? (**खाली कर ग्लास टेबिल पर रख देता है।**)

धनपाल—(**सिर हिलाते और पीते हुए**) देअर आइ डोन्ट एग्री, मिस्टर गुप्ता। जब इस देश में कुछ होगा, तब (**ग्लास टेबिल पर रखते हुए**) हमारी एवोल्यूशन और कॉंस्टीट्यूशनल थियोरी से ही।

दामोदरदास—उसी थियोरी से न, जिसके पास प्रेयर, पिटिशन और प्रोटेस्ट केवल ये तीन शस्त्र हैं ? राम-राम कीजिए । अजी जनाब, यदि एक ओर गाँधी का डायरेक्ट एक्शन फ़ेल हुआ है, तो दूसरी ओर आपका कॉंस्टीट्यूशनल्इज़्रिम भी गड़ चुका है। जब भी इस देश में कुछ होगा तब हम फ़ॉइनेन्सर्स से। अँगरेज़ लोगों से आप आर्थिक कुंजी अपने हाथ में ले लीजिए, ये आप-से-आप इस देश से चले जायँगे। (**सिगरेट जलाते हुए**) इण्डियन-जॉइन्ट-स्टॉक कंपनियों से सारे देश में उद्योग-धंधे फैला दीजिए, विलायती कम्पनियों के हाथ से व्यापार छीन लीजिए, बस समाप्त; स्वराज्य मिल गया।

थेरिजा—(**शैम्पीन का ग्लास ख़ाली कर टेबिल पर रखते हुए**)

पर, मिसेज़ गुप्ता के मुआफ़िक सोशल रिफ़ॉर्मस् के बिना स्वराज्य फ़िज़ूल की चीज़ होगी।

दामोदरदास—(मुस्कराकर) हाँ, हाँ, यह मैं भी मानता हूँ। मिस्टर धनपाल, आप अपना ही उदाहरण क्यों नहीं लेते ? जब से आप एग्रीकल्चर और इन्डस्ट्री के मिनिस्टर हुए हैं और जब से मैंने अपनी इरीगेशन-स्कीम सरकार के सामने रखी है, तब से ये लोग कैसे घबड़ा गये हैं ? (ज़ोर से धुआँ खींचकर छोड़ते हुए) सबसे बड़ा डर तो इन्हें यह लग रहा है कि इतनी बड़ी स्कीम का ठेका मिनिस्टर किसी इण्डियन कम्पनी को न दे दे।

[विश्वनाथ, शहीदबख़्श और भगवानदास का प्रवेश। अजयसिंह और नेस्टफ़ील्ड इनका स्वागत कर इन्हें दाहनी ओर भेजते हैं। धनपाल, दामोदरदास, रुक्मिणी, थेरिजा, मनोरमा और सुशीला खड़े हो जाते हैं, कुछ इन लोगों से हाथ मिलाते हैं। ये लोग पास की कुर्सियों पर बैठ जाते हैं। सबों में बातें आरंभ होती हैं। शहीदबख़्श खाना भी आरंभ करता है, परन्तु विश्वनाथ और भगवानदास नहीं खाते। विश्वनाथ लगभग ५५ वर्ष का, दुबला-पतला, ठिगना, गेहुँएँ रंग का मनुष्य है। सफ़ेद मूँछें हैं, बालाबरदार सफ़ेद अँगरखा और सादा, सफ़ेद पायजामा पहने है। गले में सफ़ेद दुपट्टा है और सिर पर उसी रंग का साफा। सब कपड़े खादी के हैं। सादे हिन्दुस्थानी जूते हैं। मस्तक पर सफ़ेद चन्दन की टिकली है। शहीदबख़्श लगभग ४० वर्ष का साँवला, ऊँचा-पूरा और मोटा आदमी है। ख़िजाब की हुई काली छोटी-छोटी मूँछें और दाढ़ी है। काली शेरवानी, उसपर काला चोग़ा और ढीला, सफ़ेद पायजामा पहने है। सिर पर तुर्की टोपी और पैरों में अँगरेजी जूते हैं। शेरवानी में चाँदी के मीना किये हुए बटन लगे हैं। भगवानदास लगभग ६५ वर्ष का

साँवले रंग का बहुत मोटा और ठिगना मनुष्य है। बड़ी-बड़ी सफ़ेद मूँछें हैं। मस्तक पर रामानन्दी मोटा तिलक है। सफ़ेद अँगरखा और पायजामा पहने है। गले में ज़री का सफ़ेद दुपट्टा और सिर पर गोल पगड़ी है। पैरों में देशी जूते हैं। मोती की दो-लड़ की कंठी, हाथों में सोने के कड़े और कानों में सोने की मुरकियाँ पहने है। मुरकियों के भार से कानों के छेद बहुत लम्बे हो गये हैं।]

दामोदरदास—(**विश्वनाथ से**) कहिए, पण्डितजी, हिन्दू-सभा का काम कैसा चल रहा है? (**सिगरेट की राख तश्तरी में झाड़ता है।**)

विश्वनाथ—साधारणतया ठीक ही चल रहा है, गुप्ता साहब। आप जानते ही हैं कि आजकल हर काम में शिथिलता है।

धनपाल—(**यह भी अब सिगरेट पी रहा है**) मुझे तो इस बात पर आश्चर्य होता है कि पण्डितजी और मौलाना साहब हिन्दू-महासभा और मुस्लिम-लीग के कार्यों में तो लड़ते हैं, पर म्यूनिस्पैल्टी में मिल-जुलकर काम करते हैं।

शहीदबख़्श—वाह! मिनिस्टर साहब, वाह! यह आपने ख़ूब फ़रमाया। हम लोगों का कुछ ज़ाती झगड़ा थोड़े ही है; उसूलों की लड़ाई है; और सबूत भी आप ख़ुद ही दे रहे हैं। अगर कुछ ज़ाती झगड़ा होता तो जिस कमिटी के पण्डित साहब प्रेसीडेण्ट हैं, उसका मैं वाइस-प्रेसीडेण्ट क्यों कर रह सकता था?

भगवानदास—बिलतुल थीत फरमाते हैं, मौलाना साहब।

[कन्हैयालाल और प्रकाशचंद्र का प्रवेश। अजयसिंह और नेस्टफ़ील्ड कन्हैयालाल को दाहनी ओर और प्रकाशचंद्र को बाँयीं ओर भेजते हैं। कन्हैयालाल चला जाता है और धनपाल आदि सबों से मिल-जुलकर शहीदबख़्श की पासवाली कुर्सी पर बैठ जाता है। प्रकाशचंद्र बाँयीं ओर

जाकर चारों ओर देखता है। कुछ लोगों के मुख की ओर बड़े ध्यान से देखता है। बाँयीं ओर की सजावट को देख बाँयीं ओर की कुर्सियों पर नहीं बैठता, अजयसिंह दाहनी ओर चला जाता है। प्रकाशचंद्र और नेस्टफ़ील्ड में बातचीत आरंभ होती है। अब लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित होता है। कन्हैयालाल लगभग ४० वर्ष का, दुबला-पतला, गोरे रंग का ठिगना मनुष्य है। बड़ी-बड़ी मूँछें हैं। खादी का कोट और धोती पहने है। गले में दुपट्टा है और सिर पर गाँधी टोपी। चितकबरे मोटे फ़्रेम का चश्मा लगाए है और कोट के ऊपर के जेब में सोने के क्लिप का फ़ाउन्टेन-पेन। पैरों में गुजराती स्लीपर हैं। प्रकाशचंद्र गोरे रंग का, लगभग २२ वर्ष का, ऊँचा, भरे हुए शरीर और मुख का अत्यन्त सुन्दर युवक है। रेख निकल रही है। खादी का कुरता, धोती और गाँधी टोपी पहने है। पैरों में गुजराती स्लीपर हैं।]

प्रकाशचंद्र—यह भेद-भाव यहाँ क्यों रखा गया है?

नेस्टफ़ील्ड—मालूम होता है, आपने पहले-पहल ही इस तरह की पार्टी देखी है।

प्रकाशचंद्र—जी हाँ, मैं गाँव से इस नगर में कुछ ही समय पूर्व आया हूँ और इन थोड़े से दिनों में ही यहाँ का जो अनुभव हुआ है, वह बड़ा विचित्र है।

[नेपथ्य में मोटर का बिगुल बजता है, फिर मोटर खड़े होने का शब्द आता है। लाल वर्दी पहने हुए एक सिपाही का प्रवेश।]

सिपाही—**(अजयसिंह को सलाम कर)** लाट साहब तशरीफ़ ले आये, हुजूर।

[अजयसिंह जल्दी-जल्दी जाता है। सिपाही पीछे-पीछे जाता है। आगे-

आगे गवर्नर की लेडी और उसके पीछे गवर्नर, चीफ़ सेक्रेटरी और गवर्नर के एडीकाँग का प्रवेश। सबसे पीछे अजयसिंह आता है। गवर्नर, लेडी और चीफ़ सेक्रेटरी साधारण अँगरेजी कपड़ों में हैं; एडीकाँग फ़ौजी कपड़ों में। प्रकाशचंद्र गवर्नर से बात करने के लिए आगे बढ़ता है, परन्तु गवर्नर बिना कोई ध्यान दिये गद्दीवाली कुर्सियों की ओर जाता है। नेस्टफ़ील्ड भी प्रकाशचंद्र को वहीं छोड़ उसी ओर जाता है। दाहनी ओर-वाले सब मेहमान एक-एक करके गवर्नर आदि से मिलते हैं। अजयसिंह गवर्नर के पास की गद्दीवाली कुर्सी पर बैठ जाता हैं। नेस्टफ़ील्ड भगवानदास के पास की कुर्सी पर बैठता है। खाना-पीना और धीरे-धीरे बातें आरंभ होती हैं, जो सुन नहीं पड़ती हैं। प्रकाशचंद्र इतनी देर तक इधर-उधर ध्यान से देखता रहता है और फिर बाँयीं ओर की एक टेबिल पर की मिठाई आदि नीचे रख, उसपर खड़े हो, जोर से बोलना आरम्भ करता है। सब लोग आश्चर्य से उसे देखते हैं। नेस्टफ़ील्ड उसे रोकना चाहता है, पर गवर्नर संकेत कर मना कर देता है। वह बोलता जाता है।]

प्रकाशचंद्र—बहनो और भाइयो ! इस नगर की अनेक बातों में परिवर्तन की आवश्यकता है, उनमें से एक है धनियों और निर्धनों, पठितों और अपठितों, समाज में किसी भी कारण से उच्च स्थान रखनेवाले और पतित व्यक्तियों का परस्पर भेद-भाव। इस भेद-भाव का दर्शन यद्यपि मैंने इस नगर के अनेक व्यवहारों में किया था, तथापि मुझे यह आशा न थी कि प्रीति-भोज में, समान-प्रीति से परस्पर मिलनेवाले अवसर पर भी, प्रीति के बीच, भेद-भाव को इस प्रकार का प्रधान स्थान रहेगा। प्रीति और भेद का, जो एक-दूसरे के परस्पर विरोधी हैं, विलक्षण मिलन इस प्रीति-भोज में दिख रहा है।

बाँयीं ओर बैठे हुए कुछ व्यक्ति—ठीक, बिल्कुल ठीक।

प्रकाशचंद्र—महाशयो ! आप लोग ठीक तो कहते हैं, पर आपको कृपा कर, अपने विचारों और कृति को मिलान करके भी देखना चाहिए।

[दामोदरदास ज़ोर से हँसता है। दाहनी ओर के कुछ व्यक्ति उसका साथ देते हैं। बाँयीं ओर के व्यक्ति अपने खाने के लिए बढ़े हुए हाथों को रोक लेते हैं।]

प्रकाशचंद्र—(दामोदरदास तथा अन्य बड़े आदमियों की ओर देखकर) आप लोग अपने भाइयों पर हँसते हैं। महाशयो ! यह हँसने की नहीं, गंभीरता से विचार करने की बात है। यदि मेरे इन भाइयों को अपनी पतित अवस्था का ज्ञान नहीं है, और इस अवस्था तक में ये आनन्द मानते हैं, तो इसमें इनका दोष कम और आपका अधिक है। आज शताब्दियों से आपने ही इन्हें दबा कर रखा है, इनके हृदयों के स्वतंत्र भावों को कुचला है।

बाँयीं ओर के व्यक्ति—अवश्य, अवश्य।

प्रकाशचंद्र—**(बाँयीं ओर के पुरुषों को देख)** परन्तु, प्यारे भाइयो ! अब वह समय चला गया जब ये धनी, ये समाज के भूषण, ये समाज के स्तंभ हम लोगों को इस प्रकार रख सकें। मुट्ठी भर लोगों के धन की थैली, चाँदी-सोने के निर्जीव टुकड़े एवं इने-गिने व्यक्तियों की बुद्धि, तथा विद्या का थोथा घमंड देश के करोड़ों निर्धनों और अपठितों की मनुष्यता को कुचल रखने में असमर्थ हैं। प्यारे भाइयो ! हमारा उत्थान हमारे हाथ में है।

बाँयीं ओर के कुछ व्यक्ति—ठीक है, बिल्कुल ठीक है।

[अनेक व्यक्ति प्रकाश के पास खड़े हो जाते हैं।]

प्रकाशचंद्र—फिर, महाशयो ! इस धन को उत्पन्न करनेवाले कौन हैं?

किसान। परमेश्वर-द्वारा दिये गये निर्धन और धनवान के समान, शरीर के रक्त को किसान पसीने में बहाता है, उसके भूखे और नंगे रहते हुए उसका उत्पन्न किया हुआ सारा धन (**अजयसिंह तथा भगवानदास की ओर संकेत कर**) इन धनवानों की तिजोरियों में आता है, इन प्रीति-भोजों में बहता है तथा बाहर खड़ी हुई मोटरों में उड़ जाता है।

बाँयीं ओर के पुरुष—शेम ! शेम !

प्रकाशचंद्र—इसके सिवाय भी, विदेशी सरकार जिसकी सत्ता इन्हीं धनवानों पर निर्भर है, इन्हें सहायता देती है और इस सहायता के बदले ये लोग इस सरकार को सुरक्षित रखने के लिए उचित ही नहीं, सर्वथा अन्यायपूर्ण मार्गों से उसकी सहायता करते हैं । इस प्रकार वस्तुएँ एक विचित्र चक्र में घूम रही हैं; परन्तु, प्यारे भाइयो ! इस चक्र-व्यूह का विध्वंस हमारे लिए आवश्यक हो गया है; इसके नाश में ही हमारा उत्थान और इसकी स्थिति में ही हमारा पतन है। अतः चलिए, हम यहाँ एक क्षण भी न ठहरेंगे।

बाँयीं ओर का एक युवक—तुम्हारा नाम क्या है ?

प्रकाशचन्द्र—प्रकाश।

वही युवक—प्रकाश की जय, भेद-भाव का नाश हो, इस भोज से असहयोग करो।

बाँयीं ओर के व्यक्ति—प्रकाश की जय, भेद-भाव का नाश हो।

[आगे-आगे प्रकाशचंद्र जाता है। बाँयीं ओर के व्यक्तियों में थोड़ी-सी कानाफूसी होती है, परन्तु शीघ्र ही कुछ को छोड़कर सारे साधारण श्रेणी के पुरुष प्रकाशचंद्र के पीछे-पीछे जाते हैं।]

दामोदरदास—(**कन्हैयालाल से**) वेल मिस्टर वर्मा, यह आप अपने साथ किसे ले आये ?

कन्हैयालाल—(**घबड़ाये हुए**) क्या कहूँ ! मुझे यह सन्देह तक न था कि यह व्यक्ति इतनी गड़बड़ी मचायगा।

दामोदरदास—पर, यह है कौन ?

कन्हैयालाल—यह मैं भी नहीं जानता।

दामोदरदास—फिर, बिना जान-पहचान के आदमी को कैसे ले आये ?

कन्हैयालाल—(**कुछ सँभलकर**) नहीं, लाने के लिए जितना जानने की आवश्यकता है, उतना जानता था। कई दिनों से यह 'हिन्दुस्थान'-कार्यालय में आता था, मुझे अच्छा युवक जान पड़ा, नगर का सामाजिक जीवन देखने के लिए उत्सुक रहता था, निमंत्रण-पत्र में मित्रों को लाने का स्थान रहता ही है, अतः ले आया।

दामोदरदास—(**दूसरा सिगरेट जलाते-जलाते**) तब तो, भाई, आगे से निमन्त्रण-पत्रों में भी सुधार करना होगा।

धनपाल—(**सिर हिलाकर**) ओह ! बड़ी गड़बड़ी हुई। न जाने हिज़ एक्सलेंसी क्या सोचते होंगे। (**सिगरेट बुझाकर रकाबी में रखता है।**)

नेस्टफ़ील्ड—(**सिर नीचा किये हुए सिगार पीते-पीते**) मेरा तो सब इन्तज़ाम ही खराब हो गया; क्या कहूँ। मुझे तो हिज़ एक्सलेंसी को अपना चेहरा दिखाने में भी शर्म आती है।

विश्वनाथ—(**चिन्तित होकर**) यदि यह युवक यहाँ रहा तो यहाँ के सार्वजनिक जीवन में कदाचित् फिर वैसी ही गड़बड़ी मचेगी, जैसी असहयोग और सत्याग्रह के समय मची थी।

शहीदबख्श—(बेपरवाही से सिगरेट पीते हुए) आप हिन्दुओं को सँभालिए, मुसलमानों में इसकी दाल न गलेगी, क्योंकि इस शहर के हिन्दू ही जोशीले हैं।

कन्हैयालाल—(भर्राये हुए शब्दों में धीरे-धीरे विश्वनाथ से) मैं समझता हूँ, मेरा भी यहाँ ठहरना अब ठीक नहीं है, नहीं तो नगर में अनेक प्रकार की चर्चा होगी। (जाता है।)

[मेहमानों को फूल-मालाएँ पहनाई जाती हैं तथा फूलों की तुर्रियाँ, चाँदी के वर्क़ लगे हुए पान और इलायची आदि दी जाती है। गवर्नर जाने को उठता है, उसीके संग कई लोग उठते हैं।]

गवर्नर—(जाते हुए, नेस्टफ़ील्ड से) ए ब्रिलियन्ट स्पीकर देट यंग मैन वाज़, डॉक्टर।

नेस्टफ़ील्ड—(घबड़ाये हुए) वेल सर, वेल सर..........।

[गवर्नर आदि का प्रस्थान।]

धनपाल—(जाते हुए, अजयसिंह से हाथ मिला) वेल, राजा साहब। (सिर हिलाता है।)

अजयसिंह—(भर्राये हुए शब्द में धीरे-धीरे) क्या कहूँ, मिनिस्टर साहब, आप ही के हाथ बात है; आप ही सँभालिए।

धनपाल—(सिर हिलाते हुए धीरे से) मैं देखूँगा। (जाता है।)

[विश्वनाथ, शहीदबख्श, दामोदरदास, रुक्मिणी, थेरिजा आदि अजयसिंह और नेस्टफ़ील्ड से मिलकर जाते हैं।]

मनोरमा—(जाती हुई, सुशीला से धीरे-धीरे) कितना सुन्दर भाषण था, सुशीला!

सुशीला—मैं तो मंत्र-मुग्ध-सी हो गयी थी, बहन।

मनोरमा—और मेरे हृदय में तो कई बार आया कि मैं भी इस भोज से असहयोग कर उस युवक के पीछे-पीछे चल दूँ।

[दोनों का प्रस्थान।]

नेस्टफ़ील्ड—(सबके जाने के पश्चात्) बहुत बुरा हुआ, राजा साहब।

अजयसिंह—(घबड़ाये हुए) क्या कहूँ, वैरिस्टर साहब।

नेस्टफ़ील्ड—आपसे गवर्नर साहब ने क्या कहा?

अजयसिंह—कुछ भी नहीं,......प......प......पर......।

नेस्टफ़ील्ड—यह सब कन्हैयालाल ने किया। आप उसे इतना खिलाते हैं; फिर भी वह कुछ न कुछ गड़बड़ी किया ही करता है। मैं हमेशा आपसे कहता हूँ कि इन अख़बारनवीसों पर ज़रा भी यक़ीन न कीजिए।

अजयसिंह—पर, बैरिस्टर साहब, आजकल बिना इनको हाथ में रखे भी तो काम नहीं चलता।

नेस्टफ़ील्ड—ख़ैर, अब उस बदज़ात कन्हैयालाल को सँभालना पड़ेगा। उसके सँभालने की तरकीब तो आप जानते ही हैं, वही थैली की नज़र। पर, मुश्किल तो यह है कि आपका एक पैसा भी ख़र्च होने से मेरी जान निकलती है। (कुछ ठहरकर) अच्छा, अब परेशान न होइए, आराम कीजिए, जो कुछ भी होगा ठीक किया जायगा।

अजयसिंह—मैनी-मैनी थेंक्स बैरिस्टर साहब।

[दोनों का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—रानी कल्याणी के कमरे की दालान

समय—संध्या

[दालान के पीछे की दीवाल रँगी हुई है। कोई दरवाजा नहीं है। दोनों सिरों पर दो खम्भे हैं। अजयसिंह का एक ओर से प्रवेश।]

अजयसिंह—(ज़ोर से) कल्याणी! कल्याणी!

नेपथ्य से—आयी, महाराज।

[कल्याणी का दूसरी ओर से प्रवेश। कल्याणी लगभग ४० वर्ष की दुबली, लम्बी और गोरे रंग की स्त्री है। मुँह पर शोक-चिन्ह दिखायी देते हैं। बड़ी-बड़ी आँखों के चारों ओर गड्ढे पड़ गये हैं। शरीर पर सफ़ेद रेशमी सादी साड़ी और चोली है। हाथों में काँच की चार-चार और मोतियों की दो-दो चूड़ियाँ हैं। गले में मोतियों की कंठी, नाक में हीरे की लौंग और कानों में हीरे के कर्णफूल तथा मोतियों के झुमके हैं। सिर पर इंगुर की टिकली और माँग में सेंदुर है, बाल पुराने ढँग से सँवारे हुए हैं। पैरों में सोने के छड़े तथा स्लीपर हैं।]

अजयसिंह—(भर्राये हुए स्वर में) तुमने सुना, आज और क्या अनर्थ हुआ?

कल्याणी—अभी-अभी सब सुनकर आयी हूँ।

अजयसिंह—न जानें भाग्य में और क्या बदा है। जो कर्म किये हैं, उनका फल तो भोगना ही होगा। जवानी के पापों का बुढ़ापे में

प्रायश्चित्त करना है। इधर सर भगवानदास का बढ़ता हुआ कर्ज़ खाये जाता है, उधर वंश का जो थोड़ा बहुत सम्मान है उसकी रक्षा के लिए नित-नये ख़र्च करने पड़ते हैं और इतने पर भी कोई न कोई सरकारी तोहमत खड़ी हो जाती है।

कल्याणी—महाराज, क्षमा करें, बढ़ते हुए कर्ज़ के चुकाने के लिए मितव्ययिता की आवश्यकता है, परन्तु, केवल काल्पनिक मान और ऐश्वर्य के दिखावे के लिए आप उलटा अधिक ख़र्च कर, एक प्रकार से पाप का पाप से नाश करने की निरर्थक चेष्टा कर रहे हैं। सरकारी आपत्तियाँ, आपके उन्हें निरन्तर प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहने पर भी, आप ही कहते हैं, बढ़ती जाती हैं। भक्ति का फल तो संसार में सदा अच्छा मिलता है, परन्तु इस भक्ति से तो, जैसे-जैसे भक्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे भक्त का कष्ट बढ़ता जाता है, महाराज, यह ख़र्च और भक्ति की प्रणाली ही................ ।

अजयसिंह—(बात काटकर) पर, कल्याणी, वह प्रकाश, सच्चा प्रकाश था। कैसा सुन्दर मुख, कैसा सुन्दर शरीर और कैसी सुन्दर बोली! उसके इतने अनर्थ करने पर भी ज्यों-ज्यों मैं उसकी ओर देखता था, मेरा हृदय प्रेम से उसकी ओर खिंचता-सा जान पड़ता था। अपुत्रक होने के क्लेश का जितना अनुभव मैंने आज किया, उतना इसके पूर्व आज तक कभी न किया था। कल्याणी, इन्दु को घर से न निकालता और उसके गर्भ से यदि पुत्र ही हो जाता तो वह आज प्रकाश की ही अवस्था का होता, क्यों?

कल्याणी—हाँ, महाराज, उस बात को आज बाइस वर्ष हो चुके।

अजयसिंह—आह! कल्याणी, वह सारी घटना आज फिर आँखों के सम्मुख घूम रही है। (जल्दी-जल्दी) उन ज्योतिषियों के झाँसे में आ, कि

मुझसे उसे पुत्र न होगा, इन्दु-सदृश सुन्दर और विदुषी स्त्री के रहते केवल ३६ वर्ष की अवस्था में तुमसे विवाह किया। उसके दो वर्ष के पश्चात् जब इन्दु के ही गर्भ रह गया तो उसपर व्यभिचार का सन्देह कर, उसे घर से निकाल दिया। **(हाथ मलते हुए)** कल्याणी, कल्याणी, मैं स्वयं तो चरित्रहीन था ही, सारी सम्पत्ति नष्ट कर ही डाली, पर हाय! उस पतिव्रता पर सन्देह का पाप क्यों किया?

कल्याणी—पर, अब इस शोक से क्या होगा, महाराज? किये हुए बुरे कर्मों का निवारण उन्हें भूलने के प्रयत्न से ही हो सकता है। उन्हें याद कर-कर के तो आप अपना शोक और बढ़ा रहे हैं, स्वास्थ्य और बिगाड़ रहे हैं।

अजयसिंह—सचमुच तुम स्त्रियाँ देवियाँ होती हो, कल्याणी। मुझसे तुम्हें इतनी सहानुभूति! मैंने तुम्हें क्या सुख दिया? कुछ नहीं, कल्याणी, कुछ नहीं। इन्दु को और तुम्हें, दोनों को ही कष्ट दिया, दोनों पर ही अत्याचार किये, और तुम दोनों ने क्या न किया? जिस मदिरा के छूने में भी तुम लोग पाप समझती थीं, उस मदिरा के प्याले भर-भर कर मुझे पिलाये। मेरे कारण वेश्याओं..................।

कल्याणी—**(बात काटकर)** महाराज, उन बातों का तो स्मरण न दिलाना ही ठीक है।

अजयसिंह—**(टहलते हुए)** मैंने केवल इतने ही पाप नहीं किये, कल्याणी, स्त्री और गर्भ में अपने पुत्र की भी हत्या की। हा! इन्दु ने निश्चय ही आत्म-हत्या कर ली होगी, नहीं तो क्या बाइस वर्ष तक, इतना प्रयत्न करने पर भी, उसका पता न चलता?

कल्याणी—इसमें तो कोई सन्देह नहीं है, महाराज।

अजयसिंह—कल्याणी, मैं कौनसे नरक में पड़ूँगा? नरक में भी कदाचित् मेरे लिए स्थान न हो।

कल्याणी—चलिए, भोजन कीजिए, इन सब बातों को भूल जाइए। जितने दिन अब संसार में रहना है, सुख से रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

[illegible]—(लम्बी साँस लेकर) पापियों को कभी सुख मिल सकता है, कल्याणी? स्वप्न में भी नहीं, स्वप्न में भी नहीं।

कल्याणी—चलिए, चलिए।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—दामोदरदास गुप्ता के सोने का कमरा

समय—रात्रि

[कमरा आसमानी रंग से रँगा है। तीन ओर दीवालें हैं। पीछे की दीवाल के बीच में एक दरवाजा है और दोनों ओर की दीवालों में एक-एक खिड़की। दरवाजा बन्द है, पर खिड़कियाँ खुली हैं जिनमें-से चाँदनी में चमकता हुआ, बाहर के उद्यान का दृश्य दिखायी देता है। दरवाजे और खिड़कियों के दोनों ओर एक-एक तैल-चित्र लगा है। ये चित्र भारत तथा विदेशों के अनेक दृश्यों के हैं। कमरे की छत आसमानी रंग से रँगी है। छत से केवल सफ़ेद रंग का बिजली का पंखा झूल रहा है। दीवालों पर बिजली की बत्तियों के ब्रेकेट लगे हैं। पृथ्वी पर रेशमी कालीन बिछा है। बाँयीं ओर चाँदी के पायों का सुन्दर पलँग है, जिसपर जाली की मच्छरदानी पड़ी है। दाहनी ओर एक सोफ़ा है। सोफ़ा के पास एक टेबिल है, जिसपर बिजली का टेबिल-लैम्प जल रहा है; साथ ही सिगरेट-

केस, माचिस की डिबिया, सिगरेट की राख झाड़ने की रकाबी (एश-ट्रे) आदि रखे हैं। दामोदरदास सोने के समय के अँगरेजी धारीदार रेशमी कपड़े (स्लीपिंग-सूट) पहने सोफ़े पर बैठा है। पास ही में रुक्मिणी पतली-सी बैंगनी रंग की रेशमी साड़ी पहने हुए बैठी है।]

दामोदरदास—तो तुम समझती हो कि उसका भाषण बहुत सुन्दर था, रुक्मिणी ?

रुक्मिणी—चाहे उसके विचारों से हम सहमत न हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसकी शैली और भाषा अत्यन्त सुन्दर थी। हर शब्द में सत्यता, ओज और दृढ़ता टपकती थी; फिर उसमें उद्धतता न होकर दृढ़ता थी। मेरी तो समझ में नहीं आता कि एक ग्रामीण युवक इस प्रकार कैसे बोल सकता है ?

दामोदरदास—**(मुस्कराकर)** और इसी प्रकार, रूप में भी वह सुन्दर था, डियर ?

रुक्मिणी—**(दामोदरदास के गाल पर हल्की-सी चपत लगाकर)** तुम समझते हो, मैं उस पर आसक्त हो गयी हूँ ?

दामोदरदास—यह मैं कहाँ कहता हूँ, पर वह अत्यन्त सुन्दर था, इसमें तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता।

रुक्मिणी—था; फिर ?

दामोदरदास—कुछ नहीं, तुमने उसके भाषण की प्रशंसा की और मैंने उसके रूप की, इसमें हानि क्या हुई ?

रुक्मिणी—हानि-लाभ का प्रश्न ही कहाँ है ? **(मुस्कराकर)** यह तो रुचि-वैचित्र्य है। **(कुछ ठहरकर)** और समाज-शास्त्र की दृष्टि से उसके विचार ठीक न थे; क्यों ?

दामोदरदास—एब्सोल्यूट्ली राँग। देखो, संसार के इतिहास में आज तक धनी-निर्धन, पठित-अपठित सदा रहे हैं। धनी-वर्ग ने निर्धनों पर राज्य किया है और पठित समाज ने अपठितों पर। समानता का सिद्धान्त ही ठीक नहीं है।

रुक्मिणी—और अब तक संसार में जो होता आया है, वही भविष्य में भी होगा ? कोई नयी बात हो ही नहीं सकती ?

दामोदरदास—हिस्ट्री रिपीट्स इटसेल्फ़। बिल्कुल नयी बात संसार में नहीं हो सकती।

रुक्मिणी—परन्तु, तुम भी तो मनुष्यों की समता के लिए कौंसिल में भाषण दिया करते हो। तुम्हारी यह इरीगेशन-स्कीम ग़रीबों को सुख देने के लिए ही है। सोशल रिफ़ार्म के बिल इसीलिए हैं। ह्यूमैनटेरियन लीग भी इसीलिए है। तुम फिर क्यों ऐसे सिद्धान्तों का पाठ पढ़ा रहे हो ?

दामोदरदास—यह दूसरी बात है, डियर, तुम समझती हो कि मैं जो कुछ भाषणों में कहता हूँ उस पर विश्वास क़रता हूँ ? **(सिगरेट और माचिस की डिब्बी उठाकर सिगरेट जलाते हुए)** हाँ, जनता को, **(माचिस बुझ जाती है, इसलिए दूसरी जलाकर)** जनता को प्रसन्न करने के लिए ग़रीबों के हित के लम्बे-लम्बे भाषण देना आवश्यक हो जाता है, नहीं तो दूसरे चुनाव में सफल होना कठिन हो जावे।

रुक्मिणी—ऐसी बात है ?

दामोदरदास—अवश्य, मेरी इरीगेशन-स्कीम को ही ले लो; इस

स्कीम से जनता को लाभ पहुँचेगा, परन्तु उससे कहीं अधिक लाभ तो मुझे होगा; क्योंकि उस केनाल का ठेका तो मेरी कम्पनी को ही मिलेगा। फिर ये जॉइन्ट-स्टॉक-कंपनी क्या हैं? इनका लाभ भी यथार्थ में इने-गिने एजेन्टों और डॉयरेक्टरों को ही मिलता है।

रुक्मिणी—हाँ, तुम कहते ही थे कि अच्छी कंपनियों के शेयर सर्व-साधारण में जाने ही कहाँ पाते हैं। हाँ, बुरी कंपनियों की दूसरी बात है जिनके शेयर बेचकर शेयरों का रुपया ही मैनेजिंग एजेन्ट्स और डायरेक्टर्स खा जाते हैं।

दामोदरदास—सारे संसार में यही हो रहा है। जनता के नाम पर कुछ व्यक्तियों का लाभ, यह सदा से होता आया है और भविष्य में भी सदा यही होता रहेगा। जो लोग इसका सच्चा रहस्य नहीं समझते और 'जनता-जनता' सच्चे हृदय से चिल्लाते हैं, वे मूर्ख हैं। **(ज़ोर से धुआँ खींच छोड़ते हुए)** सोशल रिफ़ार्म, ह्यूमैनटेरियन लीग, हिन्दू-मुस्लिम-हित, सब जनता को भुलावे में रखने की वस्तुएँ हैं। हिन्दू-मुस्लिम-हित तो इस देश में जनता को भुलावा देने के लिए सबसे बड़ी बात है।

रुक्मिणी—इसमें सन्देह नहीं, धर्म और जाति के नाम पर यहाँ जनता को जितना उभाड़ा जा सकता है, उतना किसी दूसरी बात से नहीं।

दामोदरदास—विश्वनाथ और शहीदबख्श उस प्रकाश के सदृश मूर्ख थोड़े ही हैं; दोनों बड़े घुटे हुए हैं। हिन्दू-हित और मुस्लिम-हित की डींगें अवश्य मारते हैं, पर म्यूनिस्पैल्टी में कैसे मिल-जुल कर काम करते हैं।

रुक्मिणी—म्यूनिस्पैल्टी में इनका कुछ स्वार्थ होगा?

दामोदरदास—खाने को मिलता है और यदि आपस में लड़ें तो वह न मिले। मिलकर ही खाना हो सकता है।

रुक्मिणी—और खाने का अवसर भी मिल जाता है ?

दामोदरदास—अवसर ? एक नहीं हज़ार। किसीने मकान बनाने की स्वीकृति माँगी, गुट तो पहले से ही बना रहता है, कह दिया, इतना दो तो इतने वोट पक्ष में दिलाते हैं, नहीं तो मकान ही न बन पायगा। किसी काम का ठेका देना हुआ, कह दिया, जो इतना देगा उसको ठेका दिलाया जायगा, नहीं तो हर काम में आपत्ति निकाल दी।

रुक्मिणी—हाँ, आपत्तियाँ निकालने में क्या देर लगती है।

दामोदरदास—फिर अधिकतर मेम्बर और वैतनिक कर्मचारी मिले रहते हैं और इस प्रकार दोनों को खाने को मिल जाता है। साधारण-साधारण लोग म्यूनिस्पैल्टी के चुनाव में जो इतना खर्च कर देते हैं, **(राख तश्तरी में झाड़ते हुए)** वे खर्च नहीं करते, पूँजी लगाते हैं।

रुक्मिणी—और उस पूँजी का ब्याज मूल से दूना, चौगुना मिल जाता होगा ?

दामोदरदास—अवश्य।

रुक्मिणी—सभी ऐसा करते हैं ?

दामोदरदास—कुछ मूर्ख और कायर हैं, वे न करते होंगे।

रुक्मिणी—जो ऐसा न करें, वे मूर्ख और कायर हैं; क्यों ?

दामोदरदास—जब संसार में बहुमत ऐसे लोगों का है तब जो ऐसा न करें वे मूर्ख तो हैं ही। फिर इस प्रकार के कार्यों में बड़ी वीरता की आवश्यकता होती है, जिनमें यह शौर्य नहीं, वे कायर हैं।

रुक्मिणी—और कौंसिल के चुनाव में जो इतना खर्च होता है सो ?

दामोदरदास—वह और बड़े स्वार्थ के लिए। कोई मिनिस्टर होना चाहते हैं, किसीको सरकारी बड़े-बड़े ठेके और काम मिल जाते हैं और इन ठेकों में मिनिस्टर भी सम्मिलित रहते हैं।

रुक्मिणी—जैसे तुम्हारी इरीगेशन-स्कीम में हैं।

दामोदरदास—अवश्य; मिनिस्टर साहब इसीलिए उसका समर्थन कर रहे हैं कि उनका भी ठेके में यथेष्ट भाग रहेगा। फिर असेंबली में जानेवाले, फ़ॉइनेन्स मेम्बर, कॉमर्स मेम्बर आदि को हाथ में रखने का प्रयत्न करते हैं। इनके हाथ में रहने से किस वस्तु पर टेक्स घटे-बढ़ेगा, यह, तथा अनेक इसी प्रकार की बातें पहले से मालूम हो जाने के कारण बाज़ारों की होनेवाली घटी-बढ़ी का बहुत-सा पता लग जाता है।

रुक्मिणी—अच्छा !

दामोदरदास—और उसमें लाखों रुपयों का लाभ होता है।

रुक्मिणी—सभी मेम्बर ऐसा कर देते हैं ?

दामोदरदास—प्रायः, हाँ, कभी-कभी स्वराजिस्ट्स के सदृश कुछ मूर्ख भी आ जाते हैं।

रुक्मिणी—तो संसार इसी प्रकार चल रहा है ?

दामोदरदास—आज क्या, सदा से इसी प्रकार चलता आ रहा है और भविष्य में भी इसी प्रकार चलेगा। मैं तो समझता था कि तुम इन बातों को अच्छी प्रकार समझती हो, विलायत हो आयी हो और कई बार इन विषयों की चर्चा भी हो चुकी है।

रुक्मिणी—अभी और कई बार होनी चाहिए, तब ये बातें मस्तिष्क में पूर्ण रूप से बैठेंगी। नयी बातों को मस्तिष्क में जमाने के लिए कई उपदेश आवश्यक होते हैं। (**सिगरेट जलाती है।**)

दामोदरदास—अच्छा, एक बात तो आज भलीभाँति जमा लो।

रुक्मिणी—वह क्या ?

दामोदरदास—वह यह कि बड़े से बड़े और छोटे से छोटे सिद्धान्त जनता को भुलावे में डालने के लिए हैं। अधिक लोग दुखी रहेंगे और थोड़े सुखी, यही सच्चा सिद्धान्त है। पहले संसार में सबसे अधिक रिलीजन अर्थात् धर्म, फिर क्राउन अर्थात् राज-भक्ति और फिर पेट्रीऑटिज़्म अर्थात् देश-प्रेम की दुहाई दी जाती थी; अब इक्वेलिटी अर्थात् समानता की दी जाने लगी है। न तो पहले के किसी सिद्धान्त में कोई तत्व था और न आधुनिक साम्यवाद में ही कोई तत्व है।

रुक्मिणी—साम्यवाद में भी नहीं ?

दामोदरदास—हाँ, साम्यवाद में तो और भी नहीं। कार्लमार्क्स ने इसे साइन्टिफ़िक स्वरूप अवश्य दिया था। सारा संसार 'सोशल्इज़्मि, सोशल्इज़िम', 'डाउन विथ बूर्ज़्वाज़, डाउन विथ बूर्ज़्वाज़' चिल्लाया भी बहुत, रशा में लेनिन के प्रयत्न से इसी सिद्धान्त के आधार पर एक क्रान्ति भी हो गयी, पर नवीनता प्राचीनता में परिणत होते ही अन्य सिद्धान्तों के समान यह भी लचर हो चला है। लेनिन के मरते ही स्टेलिन ने कार्लमार्क्स और लेनिन के साम्यवाद के सबसे प्रधान सिद्धान्त पर ही कुठाराघात किया है।

रुक्मिणी—वह कौनसा सिद्धान्त है ?

दामोदरदास—सारे संसार पर साम्यवाद की स्थापना। कार्लमार्क्स और लेनिन की इन्टरनेशनल अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय नीति को स्टेलिन ने नेशनल अर्थात् राष्ट्रीय रूप दे दिया है। रशा के पड़ोसी देश इटैली में मुसोलिनी का फैसिस्टवाद और जर्मनी में हिटलर का नाज़ीवाद इस

साम्यवाद की नींव पर ही जो कुठाराघात कर रहा है वह तुम पत्रों में पढ़ ही रही हो, और इसका कारण है।

रुक्मिणी—वह क्या ?

दामोदरदास—वह यह कि यह सिद्धान्त ही अस्वाभाविक है। अन्य सिद्धान्तों के समान यह सिद्धान्त भी जनता को भुलावे में डालने के लिए एक साधन हो सकता है। न पहले सिद्धान्तों में कोई तत्व था और न इसमें है। जैसा मैंने तुमसे अभी कहा अधिक लोग दुखी रहेंगे, थोड़े से सुखी, क्योंकि यही स्वाभाविक—प्राकृतिक नियम है।

रुक्मिणी—अधिक का दुखी और थोड़ों का सुखी रहना प्राकृतिक नियम है ?

दामोदरदास—अवश्य; बात यह है कि अधिक के आधार पर थोड़ों की विशिष्टता यही निसर्ग सदा करती रही है और करती रहेगी। जड़ और चेतन दोनों प्रकार की सृष्टि में हमें यही बात दिखायी देती है। घास-फूस की अधिकता और पुष्प-फलों की कमी, अन्य जीव जन्तुओं की अधिकता और मनुष्य-वर्ग की कमी इसी नियम का परिणाम है। (**जोर से धुआँ खींच कर छोड़ते हुए**) प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट उत्पत्ति मनुष्य है और मनुष्यों में सर्वोत्कृष्ट मनुष्य धनवान, क्योंकि धन ही मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ बना सकता है। धन थोड़े ही व्यक्तियों के पास अधिक परिमाण में रह सकता है, अतः जिस प्रकार अन्य समस्त सृष्टि थोड़े से मनुष्य-समुदाय के उपयोग के लिए है, उसी प्रकार अधिकांश मनुष्य थोड़े-से मनुष्यों के उपयोग के लिए हैं, और इस प्रकार थोड़े मनुष्यों के सुख के लिए अधिक का दुखी रहना, प्रकृति का स्वाभाविक नियम सिद्ध हो जाता है।

रुक्मिणी—(**राख तश्तरी में झाड़ती है फिर सिगरेट पीते और कुछ सोचते हुए**) तुम्हारा कहना तो ठीक जान पड़ता है।

दामोदरदास—मेरा ही यह कहना नहीं है। पश्चिम का यह लेटेस्ट थॉट है। तुम जानती हो, इस समय जो जर्मनी सबसे शीघ्र और सबसे अधिक उन्नत हो रहा है वहाँ सबसे महत्त्व की बात क्या हो रही है?

रुक्मिणी—क्या?

दामोदरदास—हिटलर की कैबिनेट का एक प्रधान व्यक्ति वहाँ जन्म से ही विशेपता रखनेवाली एरेस्टाक्रेसी की स्थापना करने का प्रयत्न कर रहा है, और, प्रिये, ध्यान में रखना कि गाँधी चाहे लँगोटी लगाकर 'दरिद्रनारायण, दरिद्रनारायण' कितना ही क्यों न चिल्लाए, जवाहरलाल भारत में सोशलिस्ट-इस्टेट स्थापित करने की चाहे कितनी ही बड़ी-बड़ी योजनाएँ क्यों न बनाए, जब सच्चा सोशल्इज़िम रशा में इतने बड़े प्रयत्न पर भी स्थापित न हुआ, जब उसके विरुद्ध उसके पड़ोसी राष्ट्र इटैली, जर्मनी आदि ने कमर कसी है, तब भारत में तो उसकी स्थापना कठिन ही नहीं असम्भव है, क्योंकि यह देश तो अपने धर्म, अपनी संस्कृति, हर दृष्टि से साम्यवाद के विरुद्ध है।

रुक्मिणी—तो तुम्हारा मत है कि इस देश में स्वराज्य स्थापित न होगा?

दामोदरदास—स्वराज्य स्थापित होना एक बात है और साम्यवाद की स्थापना दूसरी। कोई भी परतंत्र देश शीघ्र या विलंब से, स्वतंत्र तो होता ही है, पर स्वराज्य होने पर भी यह देश सोशलिस्ट न होगा। **(ज़ोर से धुआँ खींचकर छोड़ते हुए)** जनता को भुलावे में डाल-डालकर, उसके नाम पर, हम थोड़े से मनुष्य सारे कार्य करेंगे। उनसे यदि बारह आने हमारा लाभ होगा तो चार आने जनता का भी हो जायगा। यदि बुद्धिमानों के एक रुपये में चार आने मूर्खों को मिल जायँ तो क्या कम है? हम सुशिक्षित लोग मूर्खों पर इससे अधिक और क्या दया दिखा सकते हैं?

रुक्मिणी—हाँ, दया का गुण ही है कि देनेवाले और पानेवाले दोनों को ही इससे लाभ होता है। फिर हम दान भी तो देते हैं।

दामोदरदास—ठीक कहा, पर, हाँ, दान के सम्बन्ध में भी एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

रुक्मिणी—वह क्या ?

दामोदरदास—दान ऐसे ही कार्यों में दिया जावे जिससे कीर्ति के कारण सारे देश-विदेश के समाचार-पत्र भर जावें।

रुक्मिणी—हाँ, कीर्ति के लिए तो दान दिया ही जाता है।

दामोदरदास—नहीं, उससे एक लाभ और है। देश के सभी लीडर्स से जान-पहचान बढ़ती है, अनेक राजनैतिक परिवर्तन पहले मालूम हो जाते हैं और अधिक आमदनी का अवसर मिलता है।

रुक्मिणी—अधिक दान देने के लिए भी तो इसकी आवश्यकता है, क्योंकि दस रुपयों का लाभ न किया जाय तो एक रुपया दान कैसे किया जा सकता है ?

दामोदरदास—वाह ! वाह ! क्या समझ की बात कही है।

रुक्मिणी—(**मुस्कराकर**) इसी प्रकार कभी-कभी समझा दिया करो तब पक्की होऊँगी।

दामोदरदास—पक्का होने में कुछ समय तो लगता ही है, डियर।

रुक्मिणी—तो फिर अब लेडीज़ एसोसिएशन में कुछ भी करने को नहीं है।

दामोदरदास—यथार्थ में तो कुछ नहीं है, परन्तु दिखावा तो है;

संसार बहुत आगे बढ़ गया है, बिना इन राष्ट्रीय स्वार्थों के दिखाए अब अपना स्वार्थ भी तो नहीं सध सकता।

रुक्मिणी—तुम तो अभी कहते थे, सदा यही होता आया है।

दामोदरदास—अभी भी मैं वही कहता हूँ। प्रणाली में सदा अन्तर होता है। पहले दूसरी प्रणाली से स्वार्थ-साधन होता था, अब दूसरी प्रणाली से। होता सदा यही रहा है और यही सदा होता रहेगा।

रुक्मिणी—**(कुछ ठहरकर)** अच्छा, और तो सब समझ लिया, पर तुम अपनी इस माता लेडी साहबा को तो समझाओ। कैसे वस्त्र, कैसे आभूषण पहनती है। स्वयं मठा भाँती है, बर्तन माँजती है। हम लोग इतनी सभ्यता से रहें और वह इस प्रकार रहे। इससे बड़ी अकीर्ति होती है। तुमने मेरा परदा तो छुड़ा दिया, पर उसे तो ठीक करो। **(रकाबी में राख झाड़ते हुए)** दिन-रात धर्म। माँ होकर भी तुम्हारी बुराई कि तुम भ्रष्ट हो गये, मुझसे तो सुनी नहीं जाती। अजयसिंह हमारे घर का क़र्जदार है, पर उसके घर की रहन-सहन देखो और हमारे घर की देखो।

दामोदरदास—**(लम्बी साँस लेकर खाँसते हुए)** क्या कहूँ, सचमुच उसके मारे बड़ी आफ़त है। प्रयत्न तो सदा करता हूँ, पर सभ्यता आने में तो समय लगेगा। हमारे यहाँ टाइटिल बड़ी से बड़ी हो गयी, सब कुछ हो गया, पर, सच तो यह है कि टाइटिल से होता ही क्या है।

रुक्मिणी—हाँ, यह तो आजकल बिकने लगी है।

दामोदरदास—अजयसिंह चाहे कर्जदार हो, या कुछ ही क्यों न हो, पुराना रईस है। उसके यहाँ यदि नवीन ढंग की नहीं तो पुराने ढंग की सभ्यता है।

रुक्मिणी—हाँ, हम तो अभी पन्द्रह वर्ष से बढ़े हैं।

दामोदरदास—पर देखो, फिर भी फ़ॉदर विचारों में कैसे ठीक हो गये हैं। **(रकाबी में राख झाड़कर)** यद्यपि उनके तिलक, कपड़े और आभूषण ठीक न हुए और न होने की आशा ही है और उनकी तोतली बोली तो ठीक होना असम्भव ठहरा।

रुक्मिणी—बिल्कुल असम्भव।

दामोदरदास—पहले वे भी परदा छोड़ने और मेरे खाने-पीने की स्वतंत्रता के कितने विरुद्ध थे, परन्तु जब उन्होंने देख लिया कि आजकल बिना अँगरेज़ों के साथ खाये-पिये और औरतों को उनके समाज में ले गये आर्थिक स्वार्थ भी नहीं सधता, तब मान गये।

रुक्मिणी—हाँ, यह तो उनकी सबसे बड़ी दवा है।

दामोदरदास—स्मरण नहीं है कि विलायत जाने का उन्होंने कितना विरोध किया था? इसी प्रकार धीरे-धीरे सभ्यता आयगी।

रुक्मिणी—यह सब तो माना, परन्तु तुम्हारी माँ को तो अब शीघ्र ही ठीक करने के लिए ऐसा ही कोई उपाय निकालना होगा।

दामोदरदास—सोच रहा हूँ, पर कोई उपाय सूझता ही नहीं, ठीक न होगी तो सदा थोड़े ही जीती रहेगी; बूढ़ी हो ही गयी है, दो-चार वर्ष की पाहुनी है।

रुक्मिणी—पर, जब तक जियेगी तब तक तो अनर्थ कर डालेगी। सच तो यह है कि तुम्हें छोड़ घर में सारे के सारे ऐसे ही हैं। माँ-बाप पुराने समय के होने के कारण ऐसे हैं और आजकल के विचारों की होने पर भी तुम्हारी बहन मनोरमा तुम्हारे सिद्धान्तों के विरुद्ध महात्मा गाँधी की

सबसे बड़ी शिष्या ही बनी जाती है। (राख रकाबी में झाड़ते हुए) दिन-रात पुस्तकें, समाचार-पत्र और सुशीला....................।

दामोदरदास—यह लड़की अवश्य कुल को कलंक लगायगी। मैं भी तो स्कूल और कॉलेजों में ही पढ़ा हूँ, परन्तु कहाँ मैं और कहाँ वह! (कुछ ठहरकर बचे हुए सिगरेट को बुझाते और रकाबी में रखते हुए) अच्छा चलो, अब आराम करें, देर हो गयी है।

[रुक्मिणी भी अपना बचा हुआ सिगरेट बुझाकर रकाबी में रखती है। दोनों उठते हैं। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—प्रकाशचंद्र के घर का बाहरी भाग

समय—रात्रि

[छोटे से घर का, लाल खपरों का, छप्पर दिखता है। उसकी बाहरी दालान की दीवाल और दीवाल के दोनों ओर दो खम्भे दिखायी देते हैं। दीवाल और खम्भे दोनों सफ़ेद कलई से पुते हैं। एक ओर से प्रकाशचन्द्र का अपनी साधारण वेश-भूषा में प्रवेश।]

प्रकाशचन्द्र—(ज़ोर से) माँ! ओ माँ!

नेपथ्य से—आयी बेटा!

[दूसरी ओर से तारा का प्रवेश। तारा लगभग ७० वर्ष की, गोरी, ठिंगनी और दुबली स्त्री है। सारे बाल सफ़ेद हो गये हैं। कमर कुछ झुक

गयी है। नेत्र देखने से जान पड़ता है कि वे रो-रोकर छोटे हो गये हैं। मुख पर और शरीर में झुर्रियाँ हैं। एक मोटी सफ़ेद खादी की साड़ी और वैसी ही चोली पहने है। कोई आभूषण नहीं है। पैर नंगे हैं। शोक की मूर्तिमान प्रतिमा दिखायी देती है।]

प्रकाशचन्द्र—(**ध्यान से तारा का मुँह देखकर**) माँ, आज तू फिर अत्यधिक उदास है। तेरे नेत्रों में लालिमा देखकर स्पष्ट जान पड़ता है कि आँसुओं की तपन ने तपा कर उन्हें लाल कर दिया है। (**ज़ोर से**) बता, माँ, सच बता, क्या बात है?

तारा—(**बैठते हुए प्रकाशचन्द्र को गोद में लिटाकर**) बेटा, जब तू विलम्ब से आता है तभी मुझे रोना आ जाता है; क्या करूँ?

प्रकाशचन्द्र—(**लेटे-लेटे माँ के गले में हाथ डालकर**) यद्यपि मैं यह मानता हूँ, माँ, कि जिसकी आँखों को कभी-कभी आँसू नहीं धोते उसकी दृष्टि मैली रहती है, तथापि तेरे आँसू तो सदा ही तेरी आँखों को धोया करते हैं, अतः उनकी रगड़ से तप-तपकर तेरे नेत्र लाल से बने रहते हैं, यह तो बड़ी भयानक बात है।

तारा—फिर मैं करूँ क्या? जब तू देर से आता है तभी मुझे शंका होने लगती है कि तुझ पर कोई आपत्ति तो नहीं आ गयी?

प्रकाशचन्द्र—पर, माँ, अब मैं बड़ा हो गया। तुझसे कितना ऊँचा हूँ? फिर तू मेरे लिए इतना क्यों डरती है? उषा की गोद के बाल-रवि को समय पाकर जिस प्रकार उस गोद की रक्षा की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार अब तेरा बाल-प्रकाश भी बड़ा हो गया है।

तारा—तब तो, बेटा, मेरी तुझको कोई आवश्यकता ही नहीं रही?

प्रकाशचन्द्र—(**तारा के मुख को देखते हुए**) नहीं, नहीं, माँ, यह तू

क्या कहती है? तेरी आवश्यकता? तेरी आवश्यकता तो मुझे सोते-जागते, उठते-बैठते, घूमते और सभी समय रहती है। तू मेरे हृदय में न रहे तो क्या मेरा एक क्षण भी सुख से बीत सकता है?

तारा—ऐसी बात!

प्रकाशचन्द्र—इसमें कोई सन्देह है? पर, मेरे लिए तुझे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। तेरी आवश्यकता, माँ, तेरी आवश्यकता? आह! तेरे बिना सुख कहाँ है? बाल-रवि को जो सच्चा सुख उषा की गोद में मिलता है, वह क्या उस कर्तव्य में मिल सकता है जो उसे दिवस में करना पड़ता है? उस समय तो वह स्वयं जला-सा जाता है, पर कर्तव्य न करना तो ठीक नहीं; यदि यही होता तो गाँव से यहाँ आने की आवश्यकता ही क्या थी?

तारा—क्यों, बेटा, यहाँ कैसा लगता है?

प्रकाशचन्द्र—यहाँ माँ? सारा वृत्तान्त बताता हूँ। **(गोद से उठते हुए)** जब यहाँ आया और गाँव के स्थान पर यह बड़ा भारी नगर देखा, तब यह कैसी वस्तु है, यही समझ में न आया। उथल-पुथल होने पर कोई वस्तु जैसी दिखायी देती है, वैसा यह नगर दिखायी दिया, यहाँ कोई व्यवस्था ही नहीं दिखी। एक मार्ग से निकल जाता और दूसरे पर चलता, तब प्रथम मार्ग में क्या देखा, इसका स्मरण ही न रहता।

तारा—ठहर, मैं अभी आयी। **(जाने लगती है।)**

प्रकाशचन्द्र—पर, जाती कहाँ है?

तारा—**(जाते-जाते)** आती हूँ न।

[तारा चली जाती है। प्रकाशचन्द्र यहाँ-वहाँ टहलने लगता है। तारा का एक रकाबी में मिठाई आदि लिए हुए प्रवेश।]

प्रकाशचन्द्र—यह ले, ले आयी न मिठाई। मेरा खाना तो तेरी सबसे बड़ी कमज़ोरी है।

तारा—(**मिठाई की रकाबी रखते और बैठते हुए**) अच्छा, अब खाता जा और बातें भी करता जा।

[प्रकाशचन्द्र रकाबी के निकट बैठ जाता है।]

तारा—हाँ, तो पहले नगर में तुझे कोई व्यवस्था ही न दिखती थी ?

प्रकाशचन्द्र—(**मिठाई खाते हुए**) बिल्कुल नहीं, पर, अब धीरे-धीरे परिवर्तन—भारी परिवर्तन हो गया है। जिस मार्ग की कोई वस्तु स्मरण न रहती थी, उसी मार्ग की अब कई वस्तुएँ स्मरण रहने लगी हैं। इतना ही नहीं, उनमें अनेक विचित्रताएँ दिखती हैं, और जहाँ बड़ी से बड़ी वस्तु मेरा ध्यान आकर्षित न कर सकती थी, वहाँ अब छोटी से छोटी वस्तु भी अपना यथार्थ विशाल रूप मेरे सम्मुख प्रकट कर देती है। माँ, मैं यहाँ की हर वस्तु को बड़े ध्यान से देखता हूँ।

तारा—और इस ध्यान में बूढ़ी माँ को ध्यान से निकालता जा रहा है; क्यों ?

प्रकाशचन्द्र—किस बूढ़ी माँ को ? तुझे, माँ ? (**मुँह चलाना बंदकर एकटक तारा की ओर देखते हुए**) मेरी अच्छी माँ को, संसार में सबसे अच्छी माँ को, इस दुखी माँ को ? (**सिर हिलाते हुए**) यह कभी हो सकता है ? कभी होने की बात है ? आह ! अभी मैंने तुझसे कहा न कि तेरे बिना तो क्षणमात्र भी मैं नहीं जी सकता।

तारा—खाना क्यों बन्द कर दिया, खाता तो जा।

प्रकाशचन्द्र—(**फिर मुँह चलाते हुए**) यहाँ आकर तो तेरा हृदयस्थ

रूप और विशाल हो गया है। पहले हृदय को थोड़ीसी वस्तुओं का अनुभव था अतः तेरा स्वरूप भी छोटा था, जैसे-जैसे अवलोकन और अनुभव की सीमा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे तेरा स्वरूप भी विशाल होता जाता है।

तारा—पर, बेटा, इस क्रिया में न खाने का ठिकाना है न पीने का; देख तो गाँव से आने के पश्चात् तू कितना दुबला हो गया है!

प्रकाशचन्द्र—अब मेरी आत्मा सबल हो गयी है और **(अपने शरीर को देखते हुए)** शरीर से भी दुबला तो नहीं हूँ। फिर, मेरे खाने की तू चिन्ता भी न किया कर; कई मित्र मुझे अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खिला देते हैं; मैं भूखा कभी नहीं रहता।

तारा—क्यों, बेटा, नगर के मित्रों के यहाँ का खाना बूढ़ी माँ के हाथ के खाने से अधिक अच्छा लगता है?

प्रकाशचन्द्र—**(मुँह बन्दकर एकटक तारा के हाथों की ओर देखते हुए)** इन हाथों के खाने से, माँ, इन हाथों के खाने से? सच्चा खाना तो यहाँ है। वह तो कर्तव्य-पथ के पथिक का चलता हुआ आहार है, जैसे युद्ध के समय घोड़े की पीठ पर सैनिक का भोजन; समझी? अब कौनसा भोजन अधिक अच्छा है, इन हाथों का अथवा कर्तव्य-पथ का? देख, माँ, आज मैं तुझे सारी बातें समझा दूँ।

तारा—पर, खाना फिर क्यों बन्द कर दिया, खाता भी तो जा।

प्रकाशचन्द्र—**(मिठाई खाते हुए)** अच्छा, अच्छा, खाता भी जाता हूँ। देख, गाँव और नगर के जीवन में आकाश-पाताल और रात-दिन का मैंने अन्तर पाया है; यह अन्तर केवल दो शब्दों में कहा जा सकता है।

तारा—किन दो शब्दों में बेटा?

प्रकाशचन्द्र—ग्रामीण जीवन स्वाभाविक और नगर का जीवन अस्वाभाविक है। छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरे हुए वे गाँव, ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की छाया में बने हुए नन्हें-नन्हें वहाँ के झोपड़े, शान्त, नीरव और सकरी-सकरी बीथियाँ, खिले हुए कमलों से भरे हुए निर्मल सरोवर, कल-कल करते हुए नाले, आम के बग़ीचे, हरे-भरे खेत, घुटनों तक चढ़ी हुई धोती और सफ़ेद मिरजई पहने हुए पुरुष, मोटी-मोटी लाल-लाल साड़ी पहनी हुई स्त्रियाँ, नंगे और धूल में खेलते हुए बालक, गाय, बैल और भैंस-भैंसे तथा उनके गले में टन-टन बजनेवाली घंटियाँ; सब स्वाभाविक, अत्यन्त स्वाभाविक वस्तुएँ हैं। जान पड़ता है, प्रकृति देवी की गोद में सभी वस्तुएँ खेल रही हों और उन सबके बीच, माँ, तेरी शोकमयी यह मूर्ति! आह! क्या कहूँ? **(इधर-उधर देखकर)** पानी तो है ही नहीं।

तारा—अभी लायी।

[जाती है और पानी का ग्लास लेकर आती है। प्रकाशचन्द्र ग्लास उठाकर थोड़ासा पानी पीता है।]

तारा—अच्छा, आगे?

प्रकाशचन्द्र—**(फिर मिठाई खाते हुए)** गाँव से नगर का जीवन ठीक विपरीत है।

तारा—कैसा?

प्रकाशचन्द्र—वृक्षों की ऊँचाई पर, सिर उठाकर हँसती हुई, उनसे कहीं ऊँची गगनचुंबी अट्टालिकाएँ, जन-समूह से भरे हुए कोलाहलपूर्ण मार्ग, चित्र-विचित्र उद्यान, ऊँची-ऊँची चिमनियोंवाले कारख़ाने, उनमें घरर-घरर चलनेवाली कलें और इन कारख़ानों के धुएँ से आच्छादित आकाश, अनेक प्रकार की वेश-भूषा वाले पुरुष और स्त्रियाँ, कपड़ों से गुड्डे बनाये

हुए बच्चे; और गाय, बैल तथा भैंस-भैंसों की घंटियों के स्थान पर मोटरों के बजते हुए बिगुल। ओह! मानों यहाँ पर प्रकृति देवी की छाती पर चढ़ कर मनुष्य सब कुछ कर रहा है।

तारा—कौन जीवन अच्छा है, बेटा?

प्रकाशचन्द्र—अच्छे से तेरा क्या अभिप्राय है? संसार में स्वाभाविक और अस्वाभाविक दोनों ही वस्तुएँ अच्छी और दोनों ही बुरी हो सकती हैं। यह तो दृष्टि-कोण का विषय है।

तारा—सो कैसे?

प्रकाशचन्द्र—गाँव में मैंने सूर्योदय और सूर्यास्त, वर्षा और चाँदनी, नदियों और सरोवरों, पर्वतों और गुहाओं के बड़े-बड़े सुन्दर दृश्य देखे, और यहाँ के अजायबघर में उनके चित्र। गाँवों के उन विशाल स्वाभाविक दृश्यों में, मैं व्यवस्थित सौंदर्य को न देख सका था, पर, उन्हींके इन चित्रों में मैंने उन स्वाभाविक दृश्यों का व्यवस्थित सौंदर्य देखा। मुझे ये चित्र उन दृश्यों से कहीं अधिक सुन्दर दृष्टिगोचर हुए। अब किसे सुन्दर कहा जाय, माँ? उन स्वाभाविक दृश्यों को अथवा चित्रों को?

तारा—तू ही बता?

प्रकाशचन्द्र—सच तो यह है कि वह ईश्वरी कृति है और ये चित्र मनुष्य की। उस विशाल कृति के व्यवस्थित सौंदर्य को देखने के लिए, मेरे छोटे-छोटे चर्म-चक्षु यथेष्ट नहीं हैं, जो इन चित्रों के द्वारा, उनमें व्यवथा देख सकते हैं।

तारा—बेटा, तू तो नगर में आकर कुछ ही समय में बड़ा विद्वान् बन गया।

प्रकाशचन्द्र—(**मुँह चलाना बंदकर गम्भीरता से**) विद्वान् बन गया, माँ, अथवा सच्ची विद्या भूलता जाता हूँ, कह नहीं सकता। इतना कह सकता हूँ कि जब से अनुभव हुआ है तब से जीवन जिस पथ पर चल रहा था, उससे यह पथ ठीक विपरीत है।

तारा—फिर खाना बन्द कर दिया।

प्रकाशचन्द्र—(**मुँह चलाते हुए**) वहाँ स्वाभाविक और निर्द्वन्द्व ग्राम्य जीवन में, माँ, तेरी शोकमयी प्रतिमा का निरन्तर शान्त एवं नीरव संग था, और यहाँ नगर के अस्वाभाविक, अप्राकृतिक और जकड़े हुए जीवन में शनैः शनैः तुझसे दूर, बहुत दूर जाते हुए, अशान्त एवं कोलाहलपूर्ण मित्र-मंडली का सहवास है।

तारा—तभी तो कहती हूँ, बेटा, अब तेरे मन से मेरा ध्यान ही दूर होता जा रहा है।

प्रकाशचन्द्र—(**फिर मुँह चलाना बंदकर**) यह न कह, माँ, यह न कह। संग और ध्यान में अन्तर, महान् अन्तर है। मैं प्रति क्षण उसका अनुभव करता हूँ। वहाँ तेरा शान्त और नीरव संग रहता था, पर ध्यान में, तेरे वर्णन किये हुए नगर के अनेक दृश्यों की कल्पना रहती थी।

तारा—और खाना इस समय किस कल्पना में बन्द है?

प्रकाशचन्द्र—(**मुस्कराकर फिर मिठाई उठाकर खाते हुए**) यहाँ, प्यारी माँ, संग अशान्त और कोलाहलपूर्ण मित्र-मंडली का है, परन्तु ध्यान तेरी शोकमयी प्रतिमा का रहता है। ध्यान से दूर तू कभी जा ही नहीं सकती, माँ, कभी नहीं जा सकती; वरन् जब से यहाँ आया हूँ तब से तू ध्यान के अधिकाधिक निकट आती-जाती है; यह कहूँ तो और भी उपयुक्त होगा कि तू ध्यानमय ही बनती जाती है।

तारा—बेटा, बेटा, तू कैसी बातें करता है? पागल तो नहीं हो गया है?

प्रकाशचन्द्र—नहीं, माँ, नहीं, पागल कैसा? यहाँ आकर तो मैं अब तक की तेरे द्वारा दी गयी शिक्षा का अनुभव करने लगा हूँ, अपनी शक्ति पहचानने लगा हूँ, जानने लगा हूँ, कि मेरा कार्य-क्षेत्र कितना विस्तीर्ण है और मुझे कितना भारी कार्य करना है। इसका केवल अनुभव ही नहीं किया है, माँ, कृति का आरम्भ भी कर दिया है। ज्ञान और कृति का संयोग हो गया है। आज ही का वृत्तान्त बताता हूँ। **(पानी पीकर ग्लास रख देता है और रकाबी से कुछ हटकर बैठ जाता है।)**

तारा—आज क्या हुआ बेटा?

प्रकाशचन्द्र—आज मैं कन्हैयालाल के साथ राजा अजयसिंह के यहाँ भोज में गया था।

तारा—**(कुछ चौंककर)** अच्छा, वहाँ क्या हुआ?

प्रकाशचन्द्र—भोज गवर्नर को दिया गया था। मिठाई, फलों और मदिरा की भरमार थी।

तारा—**(जल्दी से)** और तूने भी खाया तथा मदिरा भी पी; क्यों?

प्रकाशचन्द्र—कुछ छुआ भी नहीं; माँ, सुन तो पूरा वृत्तान्त कि क्या हुआ।

तारा—अच्छा, कह।

प्रकाशचन्द्र—उस भोज में सब लोग बड़े अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनकर आये थे, स्त्रियाँ तो तितली बनकर आयी थीं, तितली। अस्वाभाविकता

का पूर्ण साम्राज्य था। धनिकों के बैठने के लिए अलग और निर्धनों के बैठने के लिए अलग स्थान था। मैं निर्धनों के स्थान की ओर भेजा गया।

तारा—(त्यौरी चढ़ाकर) तू निर्लज्ज होकर वहाँ बैठ भी गया; क्यों ?

प्रकाशचन्द्र—तेरा पुत्र होकर, संसार में सबसे अच्छी माँ का पुत्र होकर, निर्धन हुआ तो क्या ? यह कभी हो सकता था ?

तारा—तब क्या किया, बेटा ?

प्रकाशचन्द्र—वही तो बताता हूँ; सुन न। मैं वहाँ न बैठा, एक टेबिल पर चढ़कर धनी और निर्धनों, पठित और अपठितों पर भाषण दे डाला। जो मन में आया निर्भय होकर कहा। मैं जानता ही न था कि मैं इतना अच्छा, पुस्तक के समान, बोल सकता हूँ। मुझे स्वयं अपना भाषण कैसा जान पड़ता था, जानती है ?

तारा—कैसा बेटा ?

प्रकाशचन्द्र—दूसरे से तो न कहूँगा, क्योंकि वह आत्म-प्रशंसा होगी, पर तुझसे तो सभी कुछ कह सकता हूँ।

तारा—इसमें कोई सन्देह है।

प्रकाशचन्द्र—मुझे अपना भाषण, माँ, आँधी के समान जान पड़ता था और उसके बीच-बीच में जो कानाफूसी होती थी वह पत्तियों की खड़-खड़ाहट के समान।

तारा—इस भाषण का फल क्या हुआ ?

प्रकाशचन्द्र—बड़ा अच्छा, जो चाहता था वही हुआ। तूने मुझे

महात्मा गाँधी के असहयोग का वृत्तान्त बताया था न ?

तारा—हाँ।

प्रकाशचन्द्र—वस्र, मैंने यहाँ के निर्धनों को, धनवानों के इस भोज से, असहयोग करने को कहा।

तारा—तब ?

प्रकाशचन्द्र—लोगों ने तत्काल मेरा कहना मान लिया और अजयसिंह आदि सबके रहते हुए, अधिकांश भाई, मंत्र-मुग्ध की भाँति मेरे पीछे हो लिए।

तारा—(**जल्दी से**) प्रकाश, हम इसी समय गाँव को लौटेंगे, नगर में हम न ठहरेंगे।

प्रकाशचन्द्र—यह तो अब नहीं हो सकता।

तारा—क्यों ?

प्रकाशचन्द्र—यहाँ तो अब बहुत काम करना है। अनुभव का कार्य प्रायः समाप्त हो चुका है, अब उस अनुभव को कार्य-रूप में परिणत करने का काम आज आरंभ हुआ है। (**एकटक तारा की ओर देखते हुए**) मुझे तो आज यह भासता है, (**कुछ रुककर**) दूसरे से यह भी न कहूँगा, पर तुझसे तो अवश्य..........।

तारा—हाँ, हाँ, कह, कह, क्या भासता है ?

प्रकाशचन्द्र—यह भासता है, माँ, कि मैं मूक जनता का सच्चा शब्द, अंध जनता के सच्चे नेत्र, पंगु जनता के सच्चे पैर और अकर्मण्य जनता के सच्चे हाथ हूँ। और एक बात है, उस जनता का हृदय तू है, माँ, और तेरी शोकमयी प्रतिमा मेरे हृदय में.............।

तारा—यह तो कविता हुई, पर, करेगा क्या, यह तो बता ?

प्रकाशचन्द्र—वही तो बताता हूँ। अजयसिंह के उद्यान से लौटकर हम सभी लौटे हुए लोगों ने एक सत्य-समाज का संगठन किया है। उसका सभापति तेरा प्रकाश बनाया गया है। सत्य को संसार के सम्मुख रखना इस समाज का कार्य है। ग्राम और नगरवासियों के सुख-दुःख का एक दूसरे को सत्य अनुभव हो तथा उस सत्य अनुभव के पश्चात् सत्य-मार्गों-द्वारा ग्राम और नगर-निवासियों के दुःखों का परिमार्जन किया जाय, तभी संसार में सत्य-वस्तु की स्थिति और सत्य-सुख की स्थापना हो सकती है। इस खाई पर पुल बाँधने से ही समाज पार लग सकता है। महात्मा गाँधी के सन् २० के असहयोग और सन् ३० के सत्याग्रह आन्दोलन के पूर्व यह कार्य आवश्यक था। इसके न होने के कारण ही ये आन्दोलन असफल हो गये। सत्य-समाज यही कार्य करेगा।

तारा—और इस कार्य का आरम्भ किस प्रकार होगा ?

प्रकाशचन्द्र—कल रविवार को संध्या समय यहाँ एक सार्वजनिक सभा होगी जिसमें वर्तमान परिस्थिति और सत्य-समाज के उद्देशों का दिग्दर्शन कराया जायगा। फिर अजयसिंह के गाँवों में कार्य आरम्भ होगा, क्योंकि वहाँ एक नहर बननेवाली है। सुना है, मूक जनता के नाम पर इससे कुछ लोग अपना निजी लाभ उठाना चाहते हैं और उसमें पानी तक यथेष्ट न आवेगा।

तारा—**(घबड़ाकर)** आह! तू नहीं जानता कि तू क्या कर रहा है, बेटा, **(कुछ ठहरकर)** अच्छा, अभी तो चलकर हाथ धो।

प्रकाशचन्द्र—माँ, प्यारी माँ, तू तो आज बहुत घबड़ायी! मैंने तुझे इतना घबड़ाते कभी नहीं देखा! **(उठते हुए)** तेरी ही शिक्षाओं को तो

में अब कार्य-रूप में परिणत कर रहा हूँ। तुझे तो इससे उल्टा आनन्द होना चाहिए, माँ।

[तारा प्रकाशचन्द्र की जूठी रकाबी और ग्लास उठाती है। दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—रानी कल्याणी का कमरा

समय—प्रातःकाल

[कमरे के तीन ओर दीवालें हैं, जिनमें कई दरवाज़े और खिड़कियाँ हैं। दीवालें और छत, दरवाज़े और खिड़कियाँ पीले तैल-रंग से रँगे हैं। दरवाज़े और खिड़कियों के किवाड़ों में काँच लगे हैं, जिनपर बेलबूटे हैं। कुछ दरवाज़े और खिड़कियाँ खुले हैं और कुछ बन्द। खुले हुए दरवाज़े और खिड़कियों से प्रातःकाल के प्रकाश से चमकता हुआ आकाश और पर्वत-मालाएँ दिखती हैं जिससे जान पड़ता है कि यह कमरा दुमँजिले पर है। दरवाज़े और खिड़कियों के आसपास दीवाल पर बड़ी-बड़ी तसवीरें और शीशे लगे हुए हैं। दरवाज़ों और खिड़कियों के गोलम्बरों में पीले काँच के गोले लगे हैं और पीले रंग से रँगे महराबदार परदे पड़े हैं। छत में पीले ही झाड़-फनूस टँगे हैं। ज़मीन पर पीले रंग की ज़मीन का बेल-बूटेदार फ़ारस देश का कालीन बिछा है। एक तकिये के सहारे रानी कल्याणी अपनी साधारण वेश-भूषा में बैठी हुई कुछ सी रही हैं। रुक्मिणी का अपनी साधारण वेश-भूषा में जूते पहने हुए एक दरवाज़े से प्रवेश।]

रुक्मिणी—(**आगे बढ़ते हुए**) रानी साहबा का अभिवादन करती हूँ।

कल्याणी—(**रुक्मिणी को देख, खड़े होकर**) आहा! तुम हो रुक्मिणीजी, आओ।

रुक्मिणी—(**आगे बढ़कर, फिर पीछे हटकर**) क्षमा कीजिए रानी साहबा, सदा के अभ्यास के अनुसार जूते ले आयी; स्मरण ही नहीं रहा कि भीतर जूते नहीं आते। यहीं उतार दूँ तो कोई हर्ज तो न होगा न? (**जूते उतारकर आगे बढ़ती है।**)

कल्याणी—कुछ नहीं बहन, आजकल तो जूता सबसे पवित्र वस्तु हो गयी है। (**रुक्मिणी का हाथ पकड़ बैठाते हुए**) अच्छा बैठो। कहो, अच्छी तो हो? विलायत अच्छी प्रकार घूमी न? इतने दिन लौटे भी हुए, किन्तु मेरे पास तो आज आयी हो।

रुक्मिणी—(**खड़े-खड़े**) क्या कहूँ, रानी साहबा, यहाँ आते ही इतने सार्वजनिक कार्य लग गये कि क्षण भर का भी अवकाश नहीं मिलता। लेडीज़-एसोसिएशन के बढ़ते हुए कार्य का संवाद तो आपने सुना ही होगा? आज बड़ी कठिनाई से अवकाश निकालकर आयी हूँ। कल के भोज में जो गड़बड़ी हुई उसी पर सहानुभूति प्रदर्शित करनी थी?

कल्याणी—उँह, यह तो सब हुआ ही करता है; पर बैठो तो, तुम से तो बहुत बातें करनी हैं, खड़ी कहाँ तक रहोगी?

रुक्मिणी—क्षमा कीजिए, रानी साहबा, विलायत से लौटने के पश्चात् मैंने ज़मीन पर बैठना छोड़ दिया है, क्योंकि जब तक भारतवासी वर्तमान सभ्यता के अनुसार सभ्य न होंगे तब तक उनका उत्थान नहीं हो सकता; और मनुष्य जैसा दूसरों को बनाना चाहे, पहले स्वयं को

बनाना चाहिए। जूते तो आपके संकोच से उतार दिये, पर, क्या कुर्सी भी न मिलेगी ?

कल्याणी—(**मुस्कराकर**) सच तो है, हम लोगों का संकोच तो अब जूतों ही में रह गया है। अभी लो, मैं अभी कुर्सी मँगवाती हूँ। (**ज़ोर से**) रमा! रमा!

[स्वच्छ वस्त्रों में बूढ़ी दासी रमा का प्रवेश।]

कल्याणी—एक कुर्सी तो जल्दी ले आ।

रमा—जो आज्ञा रानी साहबा।

[जाती है, गद्देदार कुर्सी लाती है, रखकर फिर जाती है। रुक्मिणी कुर्सी पर और कल्याणी ज़मीन पर बैठती है।]

कल्याणी—(**बैठकर**) अच्छा, अब कहो, कुछ विलायत का वृत्तान्त तो सुनाओ, कैसा स्थान है, कैसा समाज है, कैसे दिन कटे ?

रुक्मिणी—बहुत अच्छे दिन कटे रानी साहबा। विलायत का क्या पूछना है ? वहाँ की और इस देश की क्या तुलना हो सकती है ? वहाँ का राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक सभी जीवन आगे बढ़ा हुआ है। द्रव्य का तो वह देश समुद्र है तथा सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र। धर्म के झूठे ढकोसले वहाँ नहीं हैं। पुरुष और स्त्री-समाज दोनों ही उन्नत, महान् उन्नत हैं। दोनों को पूर्ण स्वतंत्रता है। यहाँ के सदृश पुरुषों का स्त्रियों पर भीषण अत्याचार नहीं है। सुख-सामग्री की विपुलता है, उसका उपभोग स्त्री और पुरुष समान-रूप से करते हैं। विलायत के सदृश होने में इस देश को शताब्दियाँ लगेंगी, रानी साहबा।

कल्याणी—और इसीका उद्योग तुम्हारा लेडीज़-एसोसिएशन कर रहा है; क्यों ?

रुक्मिणी—अवश्य।

कल्याणी—यहाँ की सब स्त्रियों को तुम लोग विलायत के सदृश ही बनाना चाहती हो?

रुक्मिणी—और सुधार का मार्ग ही क्या है? वह देश आज संसार का आदर्श देश है और उसीके अनुकरण से भारत का उद्धार हो सकता है।

कल्याणी—पर, रुक्मिणीजी, मनमानी वेश-भूषा किये, हर प्रकार की स्वतंत्रता लिए, स्त्रियों का पुरुष-समाज में फुदकते फिरना, जूते उतारने में संकोच करना, ज़मीन पर बैठने से घृणा करना, इन सब बातों से ही क्या इस देश का स्त्री-समाज उन्नत हो जायगा?

रुक्मिणी—(**उत्तेजित होकर**) यह तो आप व्यक्तिगत अपमान करने पर उतारू हो गयीं।

कल्याणी—(**आश्चर्य से**) कभी नहीं, रुक्मिणीजी, यदि तुमने मेरे कथन का यह अभिप्राय समझा है, तब तो मुझे बड़ा खेद है।

रुक्मिणी—(**और भी उत्तेजित होकर**) क्यों? पुरुष-समाज में मन-मानी वेश-भूषा किये हुए फुदकते फिरना, जूते उतारने में संकोच करना, ज़मीन पर बैठने में घृणा करना, यह सब तो स्पष्ट रूप से मुझ पर ही कहा गया, मेरा अपमान किया गया।

कल्याणी—क्या तुम्हीं ऐसा करती हो, और कोई स्त्री ऐसा नहीं करती? मैं तो देखती हूँ, आजकल की पढ़ी-लिखी अधिकांश स्त्रियाँ यही करती हैं।

रुक्मिणी—(**अत्यंत उत्तेजित होकर**) नहीं, नहीं, रानी साहबा, आपने मेरा अपमान किया है। यह अपमान आपने अपने घर के भीतर

किया है। मैं आपसे स्वयं मिलने आयी उस समय किया है। आपके भावों का आदर करने के लिए, अपने अभ्यास के विरुद्ध, मैंने जूते उतार दिये, तब भी आपने मेरा अपमान किया है। आपको समझ लेना चाहिए कि आप लोग हमारे क़र्ज़दार हैं और हम चाहें तो एक दिन में आपका यह सारा वैभव मिट्टी में मिला सकते हैं।

कल्याणी—(मुस्कराते हुए) इसी बिरते पर आप समाज का सुधार करेंगी, रुक्मिणीजी ? इतनी व्यक्तिगत बातें ! दूसरों का सुधार करने के पहले अपना और अपने अपने घर का सुधार करना अधिक ठीक होगा।

रुक्मिणी—(**क्रोध से, उठकर ओठों को दाँतों से काटकर**) फिर अपमान, अपमान पर अपमान, इसका फल अच्छा न होगा। स्मरण रखना, मैं एक क्षण में तुम्हारी सारी सम्पत्ति और महलों को, तुम्हारे सारे आभूषण और वस्त्रों को नीलाम करा सकती हूँ। तुम्हारे सारे वंश को और तुमको जंगल में मारे-मारे भटकवा सकती हूँ। तुम किस घमंड में भूली हो, रानी ?

कल्याणी—(**शांति से मुस्कराते हुए**) ओह ! रुक्मिणीजी, क्या कह रही हो ? यही सभ्यता है ? यही संस्कृति है ? यही आप विलायत से सीखकर आयी हैं ? यही इस देश के स्त्री-समाज को सिखायँगी ? यही आपका लेडीज़-एसोसिएशन कर रहा है ? रुक्मिणीजी, मुझे आप पर बड़ा खेद होता है, दया आती है।

रुक्मिणी—(**अत्यंत क्रोध से**) इस खेद और दया का बहुत जल्दी फल मिलेगा, कल्याणी।

[कल्याणी जोर से हँस पड़ती है। रुक्मिणी का क्रोध से काँपते हुए शीघ्रता से प्रस्थान। परदा गिरता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—डाक्टर नेस्टफ़ील्ड के बँगले का बरामदा

समय—प्रातःकाल

[बरामदे के पीछे की दीवाल और उसके दोनों ओर के खम्भे दिखायी देते हैं। दीवाल और खम्भे सफ़ेद कलई से पुते हैं। एक ओर से नेस्टफ़ील्ड और दूसरी ओर से थेरिजा का साधारण अँगरेज़ी वस्त्रों में प्रवेश।]

थेरिजा—हलो, अंकिल, मैं तो तुम्हारे ही पास आ रही थी।

नेस्टफ़ील्ड—और मैं तुम्हारे पास आ रहा था, थेरिजा।

थेरिजा—ख़ैर, अच्छा ही हुआ। अब ब्रेकफ़ास्ट यहीं मँगा लेती हूँ। यहीं मॉर्निंग ब्रीज़ में खायँगे और बातें होती रहेंगी।

नेस्टफ़ील्ड—अच्छी बात है।

[थेरिजा का प्रस्थान। नेस्टफ़ील्ड इधर-उधर घूमता है। थेरिजा का वर्दी पहने हुए, दो खानसामों के साथ प्रवेश। एक खानसामा एक हाथ में दो टूटदार (फ़ोल्डिंग) कुर्सियाँ और दूसरे में एक टूटदार (फ़ोल्डिंग) टेबिल लिए तथा बगल में टेबिल-क्लॉथ दबाये है। वह टेबिल-कुर्सी लगाता है और टेबिल पर कपड़ा बिछाता है। दूसरे के हाथ में चीनी के बर्तनों में खाने का सामान है। वह उसे टेबिल पर रखता है। नेस्टफ़ील्ड और थेरिजा कुर्सियों पर बैठ जाते हैं और खानसामें जाते हैं।]

थेरिजा—**(छुरी से रोटी काटते हुए)** कहो, कल फिर राजा से क्या बातें हुईं ?

नेस्टफ़ील्ड—**(छुरी से रोटी काटते हुए)** तुम जानती हो, वह अव्वल नम्बर का बुज़दिल है।

थेरिजा—इसमें कोई शक़ है?

नेस्टफ़ील्ड—कल के वाकया से वह बहुत घबरा गया है और मैंने अच्छा मौक़ा देखकर एक नया जाल फैला दिया। **(रकाबी में से बड़े चमचे से करी खाता है।)**

थेरिजा—**(चमचे से करी खाते हुए)** कैसा, अंकिल?

नेस्टफ़ील्ड—मैंने उसे समझाया कि अभी तो और गड़बड़ी होगी। कन्हैयालाल जब अपने पेपर में यह सब हाल लिखेगा तब ऑफ़िसर्स और भी नाराज़ होंगे; शायद यह भी समझ लें कि आपने ही यह सब कराया है। **(दाँतों से रोटी तोड़कर खाता है।)**

थेरिजा—**(हँसकर)** वेल अंकिल, वेल अंकिल, व्हॉट ए फ़रटाइल हेड! व्हॉट ए फ़ॉइन थिंग! व्हॉट ए फ़ॉइन प्लॉट! **(कुछ ठहरकर)** और राजा ने इसे मान लिया होगा? **(दाँतों से रोटी तोड़कर खाती है।)**

नेस्टफ़ील्ड—सिर्फ़ मान ही नहीं लिया, उसने मुझे कन्हैयालाल से बातचीत करने को भी कहा है।

थेरिजा—अब क्या करोगे?

नेस्टफ़ील्ड—कुछ नहीं, बिल्कुल सीधा रास्ता है। तुम जानती ही हो कि राजा मुक़ाबिले में तो किसीसे बात करता नहीं।

थेरिजा—हाँ।

नेस्टफ़ील्ड—बस, राजा से कहूँगा कि कन्हैयालाल टू थाउज़ण्ड माँगता

है। कन्हैयालाल से मिलकर दो-अढ़ाई-सौ उसे टिकाऊँगा और कह दूँगा, कुछ न छापे। तुम जानती ही हो कि आजकल की एडिटोरियल-पेन काली स्याही से न लिखकर चाँदी की सफ़ेदी से लिखती है; **(मुँह भोजन से भर जाने से कुछ रुककर)** जहाँ रुपया दिया कि कुछ भी लिखवा लो या कुछ लिखा जाता हो तो बन्द करा लो। ये सेविन्टीन, एट्टीन हंड्रेड बच जायँगे।

थेरिजा—वेल अंकिल, वेल अंकिल, व्हॉट ए फ़रटाइल हेड! व्हॉट ए फ़ॉइन थिंग! व्हॉट ए फ़ॉइन प्लॉट!

नेस्टफ़ील्ड—थेरिजा, आजकल लीगल प्रोफ़ेशन में इसी तरह की चीज़ों की आमदनी रह गयी है। लिटीगेशन घट गया है, कांपिटीशन दिन-दूना बढ़ता जाता है, कमीशन पर कमीशन दो तब कहीं केसेज़ मिलते हैं, या **(फिर छुरी से रोटी काटते हुए)** जब मिलते हैं तब यह ज़ाहिर कराया जाय कि मेरी फलाँ मजिस्ट्रेट या जज से दोस्ती है।

थेरिजा—यह बात पूरी तौर पर ज़ाहिर करने के लिए उस मजिस्ट्रेट या जज के यहाँ बराबर जाना पड़ता है या उसे ही टी-पार्टी वग़ैरह के लिए बुलाना पड़ता है।

नेस्टफ़ील्ड—तुम्हीं देखो न, अपने यहाँ रोज़ ही मजिस्ट्रेटों और जजों का आना-जाना लगा रहता है।

थेरिजा—और, अंकिल, इसमें तो कुछ खर्च भी होता है।

नेस्टफ़ील्ड—बिना खर्च के नक़द आमदनी तो तभी होती है, जब या तो कोई मोटी मुर्ग़ी फँसें, या दोनों पार्टियों से मिलकर खाया जाय, या कोई इसी तरह की दूसरी साजिश की जाय।

थेरिजा—इसमें क्या शक़ है, अंकिल।

नेस्टफ़ील्ड—और, थेरिजा, दुनिया में जो कुछ है, पैसा है, यह मुरैलिटी का उसूल ही ग़लत है। जो दामोदरदास कहता है, वही ठीक है, सारी दुनिया को पैसा रूल करता है, जो हमेशा थोड़े से आदमियों के पास रहा है और इसी तरह आगे भी थोड़े से आदमियों के पास ही रहेगा। दुनिया का ड्रामा, चाँदी और सोने के स्टेज पर खेला जा रहा है।

थेरिजा—सच है, अंकिल। **(फिर छुरी से रोटी काटती है।)**

नेस्टफ़ील्ड—या तो इन थोड़े से आदमियों के मुआफ़िक ख़ुद बनना या इन्हें हाथ में रखना, यही दुनिया की सबसे बड़ी सक्सेस है। पर, जितना इन पुराने मेंडक-रईसों को ठगना आसान है, उतना इन नये बिज़िनेस-मैनों को नहीं। इनकी चाबी तो बस तुम्हीं लोग हो। इस शहर में दो ही फ़ैमिली सब कुछ हैं, **(खाने से मुँह भर जाने से रुककर)**—राजा अजयसिंह की और सर भगवानदास की। अजयसिंह का खानदान गिरती हालत में है और भगवानदास का बढ़ती। गिरते हुए खानदानों से उनके कई डरों के सबब आमदनी होती है और बढ़ते हुए खानदानों से उनके नये-नये कामों के सबब।

थेरिजा—हाँ, तुम लीगल प्रोफ़ेशनवालों को तो दोनों से ही फ़ायदा है।

नेस्टफ़ील्ड—इसमें कोई शक़ नहीं, पर होशियारी होनी चाहिए।

थेरिजा—बिना होशियारी के तो क्या हो सकता है?

नेस्टफ़ील्ड—अजयसिंह को तो मैं हाथ में रखे ही हूँ और दामोदरदास को तुम रखो। उस तोतले भगवानदास में क्या रखा है, जो कुछ है दामोदरदास है, उसीके सबब यह नाइट हुआ।

थेरिजा—दामोदरदास की तुम फ़िक्र छोड़ दो, अंकिल, वह बिल्कुल

मेरे हाथ में है। उस खानदान में तो एक मनोरमा ही अजीब चीज़ पैदा हुई है।

नेस्टफ़ील्ड—(**बेपरवाही से**) उँह! उसकी परवाह ही न करनी चाहिए, फ़ूलिश गर्ल! और देखो, थेरिजा, जैसा मैंने कहा मुरैलिटी वगैरह को ताक में रखना इस ज़माने की सच्ची ज़रूरत है। अगर मुरैलिटी की तह में जाकर देखा भी जाय तो क्या है? कुछ नहीं।

थेरिजा—बिल्कुल फ़िज़ूल की चीज़ है।

नेस्टफ़ील्ड—शादी का ही मामला ले लो। आजकल योरुप और अमेरिका में वहाँ के एज्यूकेटेड लोग, वहाँ के थिंकर्स, इस पर क्या-क्या लिख रहे हैं, देखती नहीं? हम लोग तो क्रिश्चियन हैं, वहीं के उसूलों से गवर्न होंगे।

थेरिजा—बिल्कुल ठीक, नहीं तो क्या हिन्दू-मुसलमानों के उसूलों से गवर्न होंगे?

नेस्टफ़ील्ड—योरुप और अमेरिका में कई लोगों का कहना है कि शादी करना ही ग़लत बात है। कई कहते हैं, प्रास्टीट्यूशन और शादी में फ़र्क़ ही क्या है? मामूली प्रॉस्टीट्यूशन में औरत कुछ देर को अपना जिस्म आदमी के हाथ बेचती है और शादी में हमेशा के लिए, सवाल वही फ़ॉइनेन्शल है।

थेरिजा—ज़रूर; और, अंकिल, अभी तो दुनिया में न मालूम कितने रिफ़ार्म होंगे?

नेस्टफ़ील्ड—इसमें क्या शक़ है, थेरिजा, पर मुरैलिटी ख़त्म हो गयी, इसमें कम से कम कोई शक़ बाक़ी नहीं है; न मुरैलिटी के क़ायम होने के लिए कोई रिफ़ार्म ही हो सकता है।

थेरिजा—मैंने इस पर तुम्हारी दी हुई तमाम किताबों को पढ़ लिया है और मैं सारा मामला अच्छी तरह समझ गयी हूँ। तुम दामोदरदास की तरफ़ से बेफ़िक्र रहो। **(ज़ोर से)** बैरा, सोडा। **(नेस्टफ़ील्ड से)** बार-रूम का हाल बहुत दिन से तुमने नहीं बताया, अंकिल ?

[एक खानसामे का रकाबी में दो ग्लासों में सोडा लेकर प्रवेश और दोनों ग्लास टेबिल पर रखकर प्रस्थान।]

नेस्टफ़ील्ड—वैसा ही हाल है, कोई ख़ास बात नहीं है। बार-रूम आजकल का सिविलाइज़्ड मदकखाना है।

थेरिजा—उसे मदकखाना तो तुम हमेशा ही कहते थे।

नेस्टफ़ील्ड—मदकखानों में सबसे बड़ा मदकखाना। वहाँ का धंधा ही कुर्सी पर बैठे-बैठे या तो सिगरेट और सिगार पीते हुए, या ताश खेलते हुए, दुनिया भर का क्रिटीसिज़म और हर एक की बुराई करना है। फिर प्लीडर्स बहुत बढ़ते जाते हैं। **(सोडा का ग्लास उठाकर थोड़ा-थोड़ा पीते हुए)** जैसा मैंने अभी कहा था कांपिटीशन है, कमीशन का ज़ोर है और भी तरह-तरह के करप्शन हैं। एक बात ज़रूर हुई है।

थेरिजा—क्या ?

नेस्टफ़ील्ड—बैरिस्टरों का अब उतना रोब-दाब नहीं रहा, जितना पहले था। दूसरे गाँधी मूवमेंट के सबब प्लीडर्स में भी कुछ प्योरीटन हो गये हैं; पर बहुत कम; अभी भी मिजारिटी हम लोगों की ही है।

थेरिजा—यह भी तुमने कई बार कहा। **(कुछ ठहरकर)** बार एसोसिएशन के प्रेसीडेण्ट तो तुम ही रहोगे न ? **(सोडा का ग्लास उठा कर पीती है।)**

नेस्टफ़ील्ड—(बेपरवाही से) जब तक मैं जीता हूँ तब तक बार एसोसिएशन की प्रेसीडेंटशिप और पब्लिक प्रॉसीक्यूटरशिप कोई ले सकता है ?

थेरिजा—इनसे बड़ा इन्फ़्लूएँस रहता है, क्यों, अंकिल ?

नेस्टफ़ील्ड—बहुत बड़ा; और फिर इन दो बड़े खानदानों के लीगल एडवाइज़र होने से भी बड़ा भारी इन्फ़्लूएँस है। चाहे मेरा लीगल नॉलेज कैसा ही क्यों न हो, मामूली दर्जे के क्लॉइन्ट्स और जजों तक पर इन बातों का बड़ा असर पड़ता है।

थेरिजा—हाँ, सिर्फ़ आरगूमेंट ही नहीं, लेकिन इन्फ़्लूएँस भी आजकल के इन्साफ़ के पलड़े में वज़न डाले बिना नहीं रहता। **(और सोडा पी, ग्लास खाली कर टेबिल पर रख देती है।)**

नेस्टफ़ील्ड—इसमें क्या शक़ है। **(वह भी सोडा पीकर, ग्लास खाली कर, टेबिल पर रख देता है और जेब में से सिगार-केस तथा माचिस निकाल सिगार जलाता है। कुछ ठहरकर)** अच्छा, तो अब कचहरी का वक्त हो रहा है।

थेरिजा—हाँ, अंकिल, **(हाथ की घड़ी देखकर)** ग्यारह बजने में पाँच मिनिट हैं।

नेस्टफ़ील्ड—(आश्चर्य से) ग्यारह ?

थेरिजा—बात करने में वक्त बहुत जल्दी निकल जाता है, अंकिल।

नेस्टफ़ील्ड—(चलते हुए) आज मेरी ज़रूरी अपील भी है।

थेरिजा—ग्यारह बजकर कुछ मिनिटों पर पहुँच जाओगे।

नेस्टफ़ील्ड—(चलते-चलते कुछ बेपरवाही से) उँह, कुछ देर से

भी पहुँचा तो जज रास्ता देखेगा। जजों का हाल जानती ही हो। (हँसता है।)

थेरिजा—(ज़ोर से) बैरा लोग!

[दोनों खानसामों का प्रवेश।]

थेरिजा—वैरन्डा साफ़ कर दो। (प्रस्थान।)

[एक खानसामा टेबिल और दूसरा दोनों कुर्सियों को उठा ले जाता है। परदा उठता है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान—सर भगवानदास का पूजा-घर

समय—प्रातःकाल

[पूजा घर के तीनों ओर की दीवालें दिखायी देती हैं, जिनपर अनेक देवताओं के चित्र बने हैं। तीनों दीवालों के बीच में एक-एक दरवाज़ा है। तीनों दरवाज़े खुले हैं जिनसे दूसरे सजे हुए कमरों का कुछ भाग दिखायी देता है। पूजा-घर के बीच में एक लकड़ी की चौकी पर आसन बिछाए, सोला पहने, उपरना ओढ़े, रामानंदी तिलक लगाए, पालथी मारे, भगवानदास बैठा है। सामने चाँदी के पटे पर, चाँदी के पूजन के बर्तन रखे हैं।]

भगवानदास—(आँखें बन्द किये हुए ध्यान में) तस्तूरी तिलतं ललातं पतले बत्थथले तौस्तुभम्। नासाद्रे बर मौत्तित्तं तरतले बेनुं तरे

तंतनम् । सर्बान्दे हरि तन्दन सुललितम् तंथेत्त मुत्ताबली । दो पत्री परिबेत्तितो विदयते दोपाल तूरा मनी ।

[लक्ष्मी का एक दरवाजे से प्रवेश। लक्ष्मी लगभग ६० वर्ष की, गेहुँएँ रंग की, अत्यंत मोटी स्त्री है। मुख पर शीतला के चिह्न हैं। एक मोटी पीले रंग की साड़ी और लाल रंग की चोली पहने है। सिर के अधिक बाल झड़ गये हैं, थोड़े-बहुत बचे हुए बालों को गोंद लगा, चिपका कर ऊँछा है। मस्तक पर चमकती हुई बड़ी टिकली लगी है। कान के बड़े-बड़े छेदों में सोने के कर्णफूल लटक रहे हैं। नाक में सोने की बड़ी नथ है। गले में काँच के पोत की झालर लगी हुई सोने की हँसली है। हाथों में सोने के मोटे कड़े और लाख की मोटी-मोटी चार-चार चूड़ियाँ हैं। पैरों में चाँदी के मोटे-मोटे भद्दे आभूषण हैं।]

लक्ष्मी—नासि होइ जाय तुम्हरी ढोंगी पूंजा केरि। यह बिटेवा अठारह बरस केरि होइ गै है, मुंदा बियाहे क्यार अबै तक ठीकु नहिन। लरिका औरु पुतऊ किरिस्तान अस घूमति हैं। आँखी मूँदे ते इस्सुर तो जस देखि परा नहिने रहा-सहा जौनु धरमु रहै तौनो चापर होइगा।

भगवानदास—**(जिसने लक्ष्मी का शब्द सुनते ही आँखें खोल ली थीं, लक्ष्मी की ओर देखते हुए)** तुम दुनियाँ तो समधती हो नहीं, दबर-दस्ती लाल-लाल पीली-पीली आँथें तिए घूमती हो ।

लक्ष्मी—तोहिका औरु तोरी दुनियाँ का, दून्हन का समझि लीन।

भगवानदास—त्या समध लीन । देथो, दामोदर थीत तहता है ति लरती ते ब्याब ती दल्दी ही त्या है; दब बी० ए० पास हो दायदी तब ब्याब हो दायदा; दहाँ ब्याब हुआ ति पधना-लिथना तौपत। अब रही पूदा ती बात, सो पूदा से लरता-बहू से त्या मतलब ? पूदा बेतुंथ तो

ले दायदी और लरता-बहू दुनियाँ में आराम देते हैं। इतना ही तुम समघ लो तो थाऊँ-थाऊँ तरती न घूमो।

लक्ष्मी—एकु कहौं दुइ होइ सकत हैं, अरे एकुइ रही एकुइ।

भगवानदास—(हाथ हिलाते हुए) दो नहीं हो सतता? अरे, दो त्या, दिन भर में दरूरत परे तो दस हो सतता है। रुददार-धंधा में और बदे-बदे रुददार-धंधा में एत-एत दिन में, एत-एत आदमी सौ-सौ और हदार-हदार हो दाता है। तुम दोती बात तरती हो। फिर दामोदर और उस बहू ने विदारा त्या है। घर में लाथों रुपया बधा दिये, मुदे सर बनवा दिया और तुम्हें लेदी। उनता पूदा-ऊदा, धरम-तरम पर बिसबास नहीं है। यह तो अपना अपना बिसवास थहरा और फिर अभी दवान आदमी हैं, दब बूधे होंयदे, प्राथित तर लेंदे, हो दया। लेदी साहवा, आद दुनिया ऐसी ही तलती है। बिना तिरस्तान हुए तुथ भी सफलता नहीं मिलती। दुनियाँ पर तिरस्तान ही राद तरते हैं और दब तत उनते माफित न हो दाओ तब तत भूथे मरो, भूथे। (**थूक उछालता है।**)

लक्ष्मी—(**मुँह सिकोड़ कर**) केतना थूँकु उड़ावत हई? (**मुँह पोंछती हुई**) फिर या पूजा-पाठ केरि गठरी कतौं बांधि कै धरि दे औरु तोहूँ किरिस्तान होइ जा।

भगवानदास—दरूरत होदी तो यही तरता। पर, इसती दरूरत त्या है? दामोदर और बहू सब तर ही लेते हैं।

लक्ष्मी—अपनि भरि खूब कई लेवत हैं, खूब। मेहतरन और तुर्कन के साथ बैठि के खाय लागि, अँगरेजन के साथ टेबिल-कुर्सिन पर बैठि कै माँस-मछरी, सराब, सबै गटागट उड़ावन लागि। वह पुतऊ खसम के जियतै सेंदुर, टिकुली, नथनी, बिछिया सबै उतारि डारेसि और बाल कटाइ

दिन-राति ऐसी से वैसी गलिन-गलिन नंगी-बूची मारी-मारी फिरति है, लाज-सरम सबै घोरि कै पी डारेसि। औरु बेटवा तौ हम दून्हन के जियतै म्वाछा बनवाय डारेसि, दिन-राति अँगरेजी कपरा पहि्रे तुर्कन किरिस्तानन के साथ डोंय-डोंय घूमत-फिरत है। हमरी इज्जति-आबरू केरि वहिका तनिकिउ फिकिर नहिना, वह मनोरमा अब हीं ते अपने मन कै करै लागि है, बर-बियाहे की बात तौ वहिका जहरुई अस लगती हैं। अपनि भरि खूब कई लेव, खूब। **(कुछ ठहरकर)** आजु मैं ई पूजा के समान का कुवाँ मां जो न डारिआवौं तो म्वार नांव लछिमि नहीं। **(चाँदी के बर्तनों सहित पटा को उठाकर एक दरवाजे से शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान।)**

भगवानदास—(खड़े होकर, जल्दी-जल्दी पीछे जाते हुए) अरे तांदी ते बर्तन है, तांदी ते।

[परदा गिरता है।]

आठवाँ दृश्य

स्थान—नगर का एक मार्ग

समय—संध्या

[दूरी पर मकान दिखायी देते हैं। साधारण रूप से चौड़ा मार्ग है। मनोरमा और सुशीला का अपनी साधारण वेश-भूषा में प्रवेश।]

सुशीला—बहन, लॉजिक तो तुम्हारा बड़ा प्रिय विषय रहा है न?

मनोरमा—रहा तो है, बहन।

सुशीला—फिर आज तुम्हें क्या हो गया, क्या लॉजिक प्रेम में विलीन हो गया?

मनोरमा—क्या कहूँ? सच कहती हूँ कि प्रोफ़ेसर साहब का एक प्रश्न भी मेरा मन आकर्षित न कर सका।

सुशीला—परन्तु, बहन, इस प्रकार किस तरह काम चलेगा? इन पन्द्रह दिनों में परीक्षा की सारी तैयारी करनी है। तुम सदा प्रथम श्रेणी में आयी हो।

मनोरमा—तुम प्रथम श्रेणी की बात करती हो, सुशीला, इस परिस्थिति में तो मैं पास होने तक की आशा नहीं करती।

सुशीला—यह तो भारी अनर्थ होगा।

मनोरमा—दिखता तो यही है, पर करूँ क्या? कल से आज तक मैंने लाख प्रयत्न किया कि मैं कुछ पढ़ूँ, पर पढ़ने की मूड में ही न आ सकी। मैंने जीवन में तुमसे कभी कोई बात नहीं छिपायी। सच कहती हूँ, वही मुख, वही छवि, सोते-जागते, उठते-बैठते, नेत्रों के सम्मुख घूम रही है। वे शब्द, वे वाक्य अब तक कानों में गूँज रहे हैं। सारा का सारा जीवन उथल-पुथल हो गया है।

सुशीला—परन्तु, बहन, तुम तो असम्भव बात का स्वप्न देख रही हो; वह क्षत्रिय है, तुम वैश्य, वह निर्धन देहात से आया हुआ है, और तुम इतने धनी वंश में उत्पन्न हुई हो; यह बात होना कभी सम्भव है?

मनोरमा—तुम मेरा आशय ही नहीं समझीं। तुम समझती हो, मैं उनसे विवाह करना चाहती हूँ?

सुशीला—(आश्चर्य से) और नहीं तो क्या?

मनोरमा—यह बात तो अब तक मेरे हृदय में नहीं उठी थी; यह तो तुमने एक नई हलचल उत्पन्न कर दी।

सुशीला—(**और भी आश्चर्य से**) फिर तुम उससे क्या चाहती हो?

मनोरमा—उनके संग रहना। उनको देखने के लिए नेत्र उत्कंठित हो रहे हैं, उनके वाक्य सुनने के लिए कान आतुर हैं, हृदय उनके समीप जाने के लिए उछल रहा है, परन्तु उनसे विवाह करने की तो मेरी इच्छा अब तक न हुई थी; यह तो तुमने एक नवीन तरंग उत्पन्न कर दी।

सुशीला—यह तो बड़ी विचित्र बात है!

मनोरमा—क्यों, विचित्र क्यों है? क्या स्त्री-पुरुष का वैवाहिक सम्बन्ध ही रह सकता है? और किसी प्रकार का नहीं?

सुशीला—रह क्यों नहीं सकता और सम्बन्ध भी रह सकता है, पर प्रेम-सम्वन्ध और अविवाहित प्रेम-सम्बन्ध का अन्तिम परिणाम तो विवाह ही होता है।

मनोरमा—मैं यह नहीं कहती कि यह होना अनुचित है, परन्तु मैं इसे अनिवार्य भी नहीं मानती। उन पर एकाएक अत्यधिक प्रेम और उनके बिना अत्यधिक विकलता का अनुभव करने पर भी, कम से कम अब तक तो, मेरे हृदय में विवाह की कल्पना नहीं उठी थी।

सुशीला—सचमुच तुम बड़ी विचित्र हो।

मनोरमा—मैं सच कहती हूँ कि मैं तो विवाह के सम्बन्ध में कभी सोचती ही नहीं; मैं तो उसे अनिवार्य वस्तु नहीं मानती। जब-जब माताजी और पिताजी इस सम्बन्ध में बातचीत करते हैं तब-तब मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरे विवाह की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

सुशीला—कैसी बातें करती हो, मनोरमा?

मनोरमा—सीधी-सादी, बहन; अच्छा, थोड़ी देर के लिए यदि

तुम्हारा कहना ही मान लूँ कि विवाह एक आवश्यक वस्तु है, उसीके साथ यह भी मान लूँ कि मेरा विवाह किसी वैश्य और धनवान से होना चाहिए, पर वर्तमान परिस्थिति में, जब, पल भर भी उनके बिना मुझे अपना जीवन भार-स्वरूप जान पड़ता है, तब, क्या किसी दूसरे के संग विवाह से मुझें कभी आनन्द मिल सकता है ?

सुशीला—मानती हूँ, नहीं।

मनोरमा—और विवाह काहे के लिए है ?

सुशीला—सुख के लिए।

मनोरमा—वर-वधू के सुख के लिए अथवा रूढ़ि के संतुष्ट करनें को ?

सुशीला—वर-वधू के सुख के लिए।

मनोरमा—तो उनसे मेरा विवाह इसलिए नहीं हो सकता कि वे क्षत्रिय हैं और मैं वैश्य, वे निर्धन हैं और मैं धनवान, यद्यपि मैं विवाह के लिए इन बाधाओं को बाधा नहीं समझती, दूसरे के संग विवाह से मुझे सुख नहीं हो सकता, अतः विवाह की बात ही छोड़ देनी चाहिए।

सुशीला—विवाह की बात क्यों छोड़ देनी चाहिए, उस व्यक्ति को हृदय से निकालने का प्रयत्न करना चाहिए।

मनोरमा—आह ! सुशीला, आह ! यह तुम क्या कहती हो ? यह अब हो सकना सम्भव है ? उन्हें हृदय से निकाल देना, असम्भव, सर्वथा असम्भव है। जिस प्रेम की जड़ें एक ही दिन में, हृदय में इतनी गहरी चली गयी हैं कि उन्हें निकालना मानों हृदय को निकाल कर फेंक देना है, उस प्रेम से मुख मोड़ना ? आश्चर्य की बात कहती हो, बहन !

सुशीला—तब तो दुःख का हिमालय, क्लेश का समुद्र सम्मुख है।

मनोरमा—क्यों ?

सुशीला—क्यों क्या, स्पष्ट है। तुम्हारे माता-पिता तुम्हारा विवाह अवश्य करना चाहेंगे, तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल करेंगे, उनसे तुम्हारा विवाह असम्भव है।

मनोरमा—उनसे चाहे असम्भव हो, परन्तु दूसरे से भी सम्भव नहीं है।

सुशीला—(आश्चर्य से) तो तुम कुमारी रहना चाहोगी ?

मनोरमा—इसके विचार की अभी कोई आवश्यकता नहीं है; और यदि कुमारी रहना ही पड़ा तो कौन आकाश-पाताल एक हो जायगा ? साधारण-सी बात है।

सुशीला—परन्तु, तुम तो पश्चिमी सभ्यता के विरुद्ध हो। यह तो पश्चिम में होता है।

मनोरमा—कुमारी रहने का पश्चिमी कुमारियों ने ही ठेका नहीं लिया है। भारत में भी पहले अनेक कुमारियाँ कुमारी रहती थीं। व्रज में राधा और अनेक कुमारियाँ श्रीकृष्ण के लिए आजन्म कुमारी रही थीं। बौद्ध-काल में अनेक उच्च वंश की कन्याओं ने कुमारी रहकर धर्म, देश और समाज की सेवा की थी।

सुशीला—परन्तु, आजकल तो भारत में यह नहीं होता।

मनोरमा—तभी तो स्त्रियों का जीवन नरकवत् हो रहा है। यदि कोई कुमारी रहना चाहे, तो उसका बलपूर्वक विवाह करने की क्या आवश्यकता है ? मैं यदि पूर्व को पश्चिम नहीं बनाना चाहती, तो, आज का जैसा पूर्व है, उसे वैसा का वैसा भी तो नहीं रखना चाहती।

सुशीला—और अविवाहित रहकर भी प्रकाशचन्द्र के संग रहना चाहती हो?

मनोरमा—अवश्य, क्योंकि मेरे हृदय पर उनसे अधिक और किसी वस्तु का कभी प्रभुत्व नहीं हुआ।

सुशीला—बिना विवाह के तुम्हारे और उसके संग को लोग क्या कहेंगे?

मनोरमा—मैं किसी से डरती नहीं हूँ; अपनी आत्मा से अवश्य डरती हूँ। यदि मेरे हृदय में उनके लिए वासना से भरा प्रेम नहीं है, लालसा से भरा प्रेम नहीं है, विशुद्ध प्रेम है, निष्कपट प्रेम है, तो संसार कुछ भी कहे, मुझे उसकी चिन्ता नहीं। यह तो मेरी परीक्षा होगी। मुझे देखना है कि संसार अपने ग़ुलामों से ही अपनी सेवा कराता है, अथवा उससे भी, जो अपने सिद्धान्तों के अनुकूल चलकर संसार की ग़ुलामी तो नहीं करना चाहता, पर संसार की यथार्थ सेवा अवश्य करना चाहता है।

सुशीला—और उसके संग रह कर तुम करोगी क्या?

मनोरमा—वही जो वे करेंगे। जीवन के उनके और मेरे ध्येय में कोई अंतर नहीं है। जो अकेली करती वह उनके संग करूँगी। अकेले करने से उतनी सफलता न मिलती, जितनी उनके संग रह कर मिलेगी। सर्वसाधारण जन-समुदाय को सुखी करने का प्रयत्न मैंने अपने जीवन का उद्देश बनाया था, यही उनका जान पड़ता है। गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन के समय तो मैं बहुत छोटी थी, यद्यपि मुझे स्मरण है कि उस समय भी, मैं कई राष्ट्रीय गायन बड़े चाव से गाती और जुलूस आदि देख कर बड़े ज़ोर से जय-जयकार करती थी, सत्याग्रह आन्दोलन में, मैं अध्ययन के कारण भाग न ले सकी, पर अब रुक सकना मेरे लिए सम्भव नहीं दिखता।

मैंने विद्याभ्यास पूर्ण करने के पश्चात् जो कुछ करने का निर्णय किया था वह अभी से आरम्भ कर दूँगी।

सुशीला—तो अब अध्ययन का क्या होगा?

मनोरमा—प्रयत्न करूँगी कि वह भी चलता रहे।

सुशीला—वह इसी प्रकार चलता रहेगा जैसा आज लॉजिक के प्रश्नों के उत्तर के समय चला था?

मनोरमा—यह मेरे अधिकार की बात नहीं है।

सुशीला—तब तो फेल होना निश्चित है।

मनोरमा—जो कुछ भी हो, अच्छा, चलो, अब सभा का समय हो गया। उनका भाषण सुनें।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

नवाँ दृश्य

स्थान—गाँधी-चौक

समय—सन्ध्या

[बीच में मैदान है। दूर-दूर पर मकान दिखायी देते हैं। मैदान में सार्वजनिक सभा का प्रबन्ध है। गैस की बत्तियाँ जल रही हैं। पृथ्वी पर टाट बिछे हुए हैं। बीच में एक तख्त पर, एक छोटी-सी गद्दी और तकिया है, जिनपर खादी की खोली है। गद्दी के सामने एक छोटी-सी डेस्क है, उस

पर कुछ सादे कागज़, एक पेंसिल और एक घण्टी रखी है। तख़्त खाली है। टाटों पर अनेक प्रकार के कपड़े पहने जनता बैठी है। हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं, पर हिन्दू अधिक हैं, कुछ स्त्रियाँ भी हैं, जो तख़्त के बाँयीं ओर बैठी हैं। तख़्त के दाहनी ओर प्रकाशचन्द्र, कन्हैयालाल और कई युवक खादी के कपड़े पहने हुए बैठे हैं। कुछ लोग आते-जाते हैं। मनोरमा और सुशीला का प्रवेश। ये दोनों स्त्रियों के साथ बाँयीं ओर बैठती हैं। इन्हें देख लोगों में कुछ कानाफूँसी होती है।]

एक युवक—(खड़े होकर) सभा का समय हो चुका है, अतः मैं प्रस्ताव करता हूँ कि आज की सभा के सभापति हमारे नगर के प्रधान राष्ट्रीय नेता बाबू कन्हैयालाल वर्मा बनाए जायँ। **(बैठ जाता है। तालियाँ बजती हैं।)**

दूसरा युवक—(खड़े होकर) मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ। **(बैठ जाता है। तालियाँ बजती हैं।)**

कन्हैयालाल—(तख़्त पर बैठ और फिर खड़े होकर) उपस्थित हिन्दू-मुसलमान बहनो और भाइयो! आज की यह सभा जिस कार्य के लिए बुलायी गयी है, वह आप लोगों को विज्ञापन और मुनादी द्वारा मालूम हो ही चुका है। सत्याग्रह आन्दोलन के कुछ काल पश्चात् ही, यह बड़े सौभाग्य की बात है कि, हमारे नगर में गाँव से एक प्रतिभाशाली और सुवक्ता युवक का आगमन हुआ है। आपको उनका भाषण सुनकर विदित होगा कि वर्तमान शिक्षा से शिक्षित हुए बिना, हमारे इस प्राचीन भारत देश में, आज भी गाँवों तक में, कैसे रत्न निवास करते हैं। **(तालियाँ)** भाइयो! कल संध्या को आज के वक्ता महाशय का हमारे नगर के प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ रईस दानवीर राजा अजयसिंहजी के उद्यान में भाषण हुआ था। यद्यपि भाषण देने का वह उपयुक्त अवसर नहीं था

तथा उस भाषण में कही गयी सभी बातों से, मैं सहमत नहीं हूँ, और बहुत-सी बातें केवल आवेश में आकर ही कही गयी थीं, जो इस अवस्था में वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से शिक्षित और परिमार्जित न होने के कारण, संसार-द्वारा स्वीकृत वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों के ज्ञान बिना कह डालना स्वाभाविक है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि भाषण सुन्दर, परम सुन्दर था। (तालियाँ) आप जानते हैं, हमारे नगर में राजा साहब का वंश कितना प्राचीन और प्रतिष्ठित है। उन्होंने और उनके पूर्वजों ने हमारे नगर के अनेक उपकार किये हैं। उनका दान गंगा और यमुना के प्रवाह के सदृश हमारे नगर-निवासियों के लाभ....।

एक युवक—(**खड़े होकर**) आज की सभा क्या राजा अजयसिंह और उनके वंशजों के यशोगान के लिए बुलायी गयी है? (**बैठ जाता है।**)

दूसरा युवक—(**खड़े होकर**) विज्ञापन में तो यह नहीं लिखा था। (**बैठ जाता है।**)

तीसरा युवक—(**खड़े होकर**) मुनादी में भी यह नहीं कहा गया था। (**बैठ जाता है।**)

बहुत-सी जनता—बिल्कुल ठीक, बिल्कुल ठीक।

कन्हैयालाल—(**क्रोध में जोर से**) सभापति के भाषण के बीच में किसीको बोलने का अधिकार नहीं है। (**लोग चुप हो जाते हैं।**) अच्छा, जाने दीजिए इस विषय को। मैं आज के प्रधान वक्ता श्रीयुत प्रकाशचन्द्रजी से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपना भाषण आरम्भ करें। (**बैठ जाता है। और हाथ में पेंसिल ले लेता है।**)

प्रकाशचन्द्र—(**खड़े होकर**) भाइयो और बहनो! यद्यपि मैं वर्तमान सभा-समाजों के प्रचलित शिष्टाचारों से अनभिज्ञ हूँ, तथापि सबसे

पहले मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि सभापति महाशय को, जिन्होंने मेरी प्रशंसा की है, हृदय से धन्यवाद दूँ। आप लोगों ने जिस उत्साह से मेरा स्वागत किया है इसके लिए मैं आप लोगों का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। सज्जनो! सभापति महाशय ने आपको सचेत कर दिया है कि मैं ग्रामीण जीवन व्यतीत करते हुए आपके नगर में आया हूँ और वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से शिक्षित और परिमार्जित न होने के कारण मुझे संसार-द्वारा स्वीकृत वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं है। मैं तो और आगे बढ़ता हूँ और यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि अभी इन सिद्धान्तों का मेरे हृदय पर पूरा-पूरा प्रकाश तक नहीं पड़ा है। मुझे तो मेरी दुखी माता ने, जिसका न जाने कितना समय दुःख में व्यतीत हुआ है, शिक्षित किया है। यह शिक्षा एक दुखी हृदय की शिक्षा है, सिद्धान्तों की नहीं। कहाँ दुःख से द्रवीभूत हृदय और कहाँ ठोस सिद्धान्त। मेरी शिक्षा मस्तिष्क की नहीं, हृदय की शिक्षा है, और मुझे चाहे संसार-द्वारा स्वीकृत वैज्ञानिक सिद्धान्तों का ज्ञान न हो, तथापि मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि संसार में मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय का स्थान सदैव उच्च रहा है; मस्तिष्क ने यद्यपि ज्ञान दिया है, तथापि बलिदान का कार्य सदा हृदय ने ही किया है।

कुछ युवक—अवश्य, अवश्य।

प्रकाशचन्द्र—फिर महाशयो! जिस ग्रामीण जीवन में मैं रहा, वहाँ के जीवन में भी मैंने संसार-द्वारा स्वीकृत इन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का समावेश नहीं देखा; इनकी चर्चा नहीं सुनी। इन सिद्धान्तों का जो कुछ भी परिचय मुझे मिला है, वह इस नगर के कुछ दिनों के जीवन में। (**कुछ ठहरकर**) पर, सज्जनो! संसार सिद्धान्तों के लिए है अथवा सिद्धान्त संसार के लिए?

एक व्यक्ति—सिद्धान्त संसार के लिए।

अनक युवक—अवश्य, अवश्य।

प्रकाशचन्द्र—यदि सिद्धान्त संसार के लिए हैं तो मैं कहना चाहता हूँ कि इन सिद्धान्तों में कोई न कोई त्रुटि अवश्य है, जिससे इन सिद्धान्तों के स्वीकृत और इनका पालन करने के पश्चात् भी संसार-निवासियों को सुख और सत्य का अनुभव नहीं हो रहा है।

कुछ व्यक्ति—हिअर-हिअर! हिअर-हिअर!

प्रकाशचन्द्र—सज्जनो! ग्रामों में सम्भवतः इन सिद्धान्तों का प्रचार नहीं होगा, परन्तु नगरों में तो है। नगर-निवासी क्यों दुखी हैं? निर्धन लोग कदाचित् सामाजिक संगठन के आवश्यक परिणाम हों और निर्धनता के कारण उन्हें सुख न हो, पर, धनी क्यों सुखी नहीं है? अपठित दुखी हैं, अविद्या के कारण उनका दुखी रहना भी कदाचित् स्वाभाविक हो, परन्तु पठित, बुद्धिमान और विद्वान् क्यों दुखी हैं? जिनपर अधिकारों का प्रयोग होता है, वे कदाचित् अधिकारों के प्रयोग से पीड़ित होने के कारण सुखी नहीं हैं, और उनका दुखी रहना भी कदाचित् अनिवार्य समझा जावे, परन्तु जिनके हाथों में, अधिकारों के प्रयोग की सत्ता और शक्ति है, वे क्यों सुखी नहीं हैं? ये सारे विषय अवश्य विचारणीय हैं।

कुछ व्यक्ति—अवश्य विचारणीय हैं, अवश्य विचारणीय हैं।

प्रकाशचन्द्र—महाशयो! अब हम लोग यह देखें कि ये संसार-द्वारा स्वीकृत वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्त क्या हैं? मुझे नागरिक जीवन के कुछ दिनों में, इनमें से जिन सिद्धान्तों का परिचय हुआ है, उनके सम्बन्ध में क्या मैं कुछ कहूँ?

कुछ व्यक्ति—कहिए, अवश्य कहिए।

प्रकाशचन्द्र—सज्जनो! समाज में धनी और निर्धनों का होना

एक स्वीकृत सिद्धान्त माना जाता है, परन्तु क्या ऐसा समाज नहीं हो सकता जहाँ इस प्रकार का भेद-भाव न हो, या कम से कम इस सीमा को न पहुँच गया हो ? मेरे मतानुसार तो यह समाज-रचना ही दोष-पूर्ण है, क्योंकि इस सामाजिक रचना में बहुसंख्यक लोगों को निर्धन, अत्यन्त निर्धन रहना पड़ता है और अल्पसंख्यक लोगों को उनके द्वारा उपार्जित धन पर धनी बनने का अवसर मिलता है।

कुछ व्यक्ति—अवश्य, अवश्य।

प्रकाशचन्द्र—अधिकांश धनी वर्ग ने, स्वाभाविक पुरुषार्थ से, यह धन नहीं कमाया है। अनेक भोले-भाले मनुष्य इन धनियों-द्वारा लूटे गये हैं। वे मनुष्य इसलिए दुखी हैं कि उन्हें लूटा गया है, परन्तु ये धनी भी तो सुखी रहते ? आश्चर्य तो यह है कि ये भी दुखी हैं। किस लिए दुखी हैं, जानते हैं ?

कुछ व्यक्ति—आप बतलाइए, आप बतलाइए।

प्रकाशचन्द्र—इसलिए दुखी हैं कि इस लूट को चलाने के लिए उन्हें अपनी सत्ता स्थापित रखने को नित्य नये षड्यंत्र रचने पड़ते हैं। उनके हृदय इन षड्यंत्रों से व्याप्त रहते हैं। सारा जन्म, और सारा जन्म ही क्या, उनकी पीढ़ियों की पीढ़ियें यही करते-करते बीतती हैं; अतः उन्हें भी सत्य-सुख का अनुभव नहीं हो पाता। निर्धन शरीर के लिए आवश्यक वस्तुओं के लुट जाने से दुखी हैं, तो लुटेरे मानसिक शांति के लुट जाने से क्लेशित हैं। **(तालियाँ)** जिन राजा अजयसिंह की आपके सभापति महाशय ने इतनी प्रशंसा की है, उन्हींका वृत्तान्त.......।

कन्हैयालाल—**(खड़े होकर)** मैं वक्ता महाशय से निवेदन करता हूँ कि वे किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप न करें। **(बैठ जाता है।)**

प्रकाशचन्द्र—मैंने तो किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं किया। बिना कुछ जीते-जागते उदाहरण दिये बिना मैं जनता को अपने विचार किस प्रकार समझा सकता हूँ। **(जनता से)** महाशयो ! कहिए, मैं बोलूँ या बैठ जाऊँ ?

जोर की आवाजें—अवश्य बोलिए, अवश्य बोलिए।

प्रकाशचन्द्र—मैं राजा अजयसिंह का दृष्टांत दे रहा था और उनके पश्चात् दामोदरदास गुप्ता आदि और कुछ लोगों के दृष्टांत आपके सम्मुख रखूँगा। हाँ, तो राजा अजय...।

कन्हैयालाल—**(घण्टी बजाकर)** मुझे बड़ा खेद है कि मैं सार्वजनिक सभा में इस प्रकार व्यक्तिगत बातें नहीं होने दे सकता।

एक युवक—क्या इन धनवानों से कुछ रुपया पत्र के लिए मिला है ?

कुछ जनता—अवश्य मिला है, अवश्य मिला है।

कुछ व्यक्ति—हम प्रकाशचन्द्र का पूरा भाषण सुनना चाहते हैं।

कुछ व्यक्ति—जैसा का तैसा, पूरा।

जोर की आवाजें—आप बोलिए, बोलते जाइए।

दूसरी ओर से आवाजें—बिल्कुल मत रुकिए, किसी का कहना न मानिए।

प्रकाशचन्द्र—अच्छी बात है। राजा अजयसिंह....।

कन्हैयालाल—**(फिर कई बार घण्टी बजाकर, खड़े हो, पेंसिल हाथ में घुमाते हुए जोर के शब्द में, क्रोध से)** मैं कभी भी व्यक्तिगत बातें न होने दूँगा।

[प्रकाशचन्द्र बैठ जाता है।]

एक युवक—(**खड़े होकर**) हम तुम्हें सभापति ही नहीं रखना चाहते।

बहुत-सी जनता—बिल्कुल नहीं रखना चाहते।

[**बड़ा हल्ला मचता है।**]

एक युवक—(**खड़े होकर**) मैं प्रस्ताव करता हूँ कि इस सभा का कन्हैयालाल वर्मा पर विश्वास नहीं रहा, अतः दूसरा सभापति चुना जावे।

दूसरा युवक—मैं इस प्रस्ताव का अनुमोदन करता हूँ।

कन्हैयालाल—(**पेंसिल को पटककर, तख्त से उतरते हुए अत्यंत क्रोध से**) मैं स्वयं ही ऐसी सभा का सभापति नहीं रहना चाहता। (**जाता है।**)

कुछ जनता—वह भागा, वह भागा।

[**बड़ा हल्ला होता है।**]

एक युवक—(**खड़े होकर**) शान्त होइए, महाशय! शान्त होइए।

[**सब जगह शान्ति का प्रयत्न किया जाता है, जो कुछ देर में हो जाती है।**]

एक युवक—(**खड़े होकर**) मैं प्रस्ताव करता हूँ कि इस सभा के सभापति का आसन पंडित शालिग्रामजी ग्रहण करें। (**बैठ जाता है।**)

दूसरा युवक—(**खड़े होकर**) मैं इसका अनुमोदन करता हूँ। (**बैठ जाता है।**)

शालिग्राम—(**आसन ग्रहण कर, खड़े होकर**) मैं युवक-केशरी श्रीमान प्रकाशचन्द्रजी से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपना भाषण पूर्ण करें। (**बैठ जाता है।**)

कुछ व्यक्ति—युवक-केशरी प्रकाशचन्द्र की जय!

जनता—जय!

प्रकाशचन्द्र—(तालियों और जय-जयकार के बीच खड़े होकर) सभापति महाशय! बहनो और भाइयो! मुझे बड़ा खेद है कि आपकी सभा के नियम आदि मुझे मालूम नहीं हैं, कदाचित् इसीसे यह गड़बड़ी हुई है।

जनता—बिल्कुल नहीं, बिल्कुल नहीं।

एक युवक—गड़बड़ी की जड़ें तो बड़ी गहरी हैं।

प्रकाशचन्द्र—मैं संसार-द्वारा स्वीकृत वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में बोल रहा था और इसीलिए मैं कुछ लोगों के दृष्टान्त दे रहा था।

कुछ व्यक्ति—अवश्य दीजिए, अवश्य दीजिए।

प्रकाशचन्द्र—राजा अजयसिंह की दशा देखिए। उनके पूर्वजों ने न जाने कितने भोले-भाले मनुष्यों को लूटकर यह सम्पत्ति एकत्रित की। यह केवल संयोग की बात है कि अजयसिंह ने उस वंश में जन्म ले लिया। फिर जो कुछ मैंने यहाँ सुना, उससे मालूम हुआ कि उन्होंने अपनी धन-सम्पत्ति को उन मार्गों में खर्च किया, जिनसे, उनके मतानुसार उन्हें सुख मिलना चाहिए था।

एक व्यक्ति—अरे, बड़े बुरे मार्ग थे।

कुछ व्यक्ति—बड़े बुरे, बड़े बुरे।

प्रकाशचन्द्र—उनके ध्यान से तो उन्हें उन मार्गों से सुख मिलना था, किंतु इतने सम्पत्तिशाली और सुखों के लिए खर्च करनेवाले राजा

अजयसिंह को भी कल मैंने अच्छी तरह देखा। सुन्दर वस्त्रों से वे सुसज्जित थे, हीरों के आभूषण उनके शरीर पर जगमगाते हुए नेत्रों को चकाचौंध कर रहे थे। उनके प्रीति-भोज में नगर का अच्छे से अच्छा भोजन और अच्छे से अच्छा कहा जानेवाला समाज एकत्रित था। गवर्नर साहब भी उपस्थित थे। वह उद्यान भी सुन्दर से सुन्दर था। परन्तु, अजयसिंह के मुख पर मुझे तो सुख का एक भी चिन्ह न दिखा। सुख के स्थान पर दुःख और क्लेशों के ही चिन्हों का मैंने उन पर साम्राज्य पाया।

कुछ व्यक्ति—हिअर-हिअर ! हिअर-हिअर !

प्रकाशचन्द्र—इसी प्रकार आपके नगर के प्रधान बढ़ते हुए सर भगवानदास के घराने के व्यक्तियों का दूसरा दृष्टान्त है। दामोदरदास गुप्ता और उनकी पत्नी रुक्मिणी देवी आज आपके नगर के सभ्य समाज में अग्रगण्य समझे जाते हैं। कल मैंने उनको भी निकट से देखा। दामोदरदास के मुख पर मैंने षड्यंत्र छाया हुआ देखा और रुक्मिणी के मुख पर आतुरता।

कुछ व्यक्ति—हिअर-हिअर ! हिअर-हिअर !

प्रकाशचन्द्र—कल ही जब सत्य-समाज का संगठन हुआ तब मुझे मालूम पड़ा कि मेरी कल्पना मिथ्या नहीं थी। वे एक भारी षड्यंत्र की रचना कर रहे हैं।

एक व्यक्ति—उस षड्यंत्र को भी बतलाइए।

कुछ व्यक्ति—अवश्य, अवश्य।

प्रकाशचन्द्र—सुना है, दामोदरदास ने ग्राम-निवासियों के लाभ के लिए एक नहर की योजना सरकार के सम्मुख उपस्थित की है। यह भी

सुना है कि उसका ठेका उन्हींकी कम्पनी को मिलेगा और कदाचित् पानी तक उस नहर में यथेष्ट न आवे।

कुछ जनता—धिक्कार है! धिक्कार है!

कुछ जनता—शेम-शेम! शेम-शेम!

प्रकाशचन्द्र—और आपके मिनिस्टर माननीय धनपाल भी इसमें मिले हुए हैं। इस सरकार की दशा तो आप जानते ही होंगे। मैंने यहीं आकर अधिक जाना है। सभी जगह अनर्थ ही अनर्थ हो रहा है। उसकी सत्ता यहाँ कैसे स्थापित रहे, इसीकी उसे चिन्ता है, प्रजा की नहीं। क्या इन्हीं संसार-द्वारा स्वीकृत वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों-द्वारा संसार में सुख हो सकता है?

कुछ जनता—सब चोर हैं।

कुछ जनता—नहीं, सब डाकू हैं।

प्रकाशचन्द्र—अब सज्जनो! क्या आप लोग आजकल के दूसरे स्वीकृत वैज्ञानिक हिन्दू-मुस्लिम सिद्धान्तों का वृत्तान्त सुनेंगे?

हिन्दू—अवश्य, अवश्य।

मुसलमान—ज़ुरूर।

जनता—कहे चलिए, कहे चलिए।

प्रकाशचन्द्र—जिन सिद्धान्तों के अनुसार एक ही स्थान पर रहनेवाले लोग, छोटी-छोटी-सी बात पर, एक दूसरे से सदा लड़ने को तैयार रहें, एक दूसरे के सिर फोड़ें, वे सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हो सकते हैं? हिन्दू जानते हैं कि इस देश में रहनेवाले सब मुसलमान हिन्दू नहीं हो सकते।

मुसलमान जानते ह कि इस देश में रहनेवाले सारे हिन्दू इस्लाम-धर्म ग्रहण नहीं कर सकते। दोनों जानते हैं कि दोनों को एक दूसरे के पड़ोसी बन कर ही रहना है। पर, इतने पर भी लड़ते हैं; और लड़ते हैं धर्म के नाम पर; उस धर्म के नाम पर जिसका कार्य शान्ति, सुख और भ्रातृ-भाव की स्थापना है। सज्जनो! इस लड़ाई का कारण जानते हैं?

मुसलमान—जानते तो क्यों लड़ते।

हिन्दू—आप बतलाइए, आप बतलाइए।

प्रकाशचन्द्र—इन्हें लड़ाते हैं विदेशी स्वार्थी और इन दोनों समाजों के स्वयंभू नेता।

कुछ व्यक्ति—सच है, सच है।

प्रकाशचन्द्र—सज्जनो! इन नेताओं का नेतृत्व तभी तक है जब तक इन समाजों में झगड़ा है। मुझे आपके नगर के हिन्दू-मुस्लिम नेता पंडित विश्वनाथ और मौलाना शहीदबख़्श के मुखों पर, उन्हें उस नेतापन के सँभालने की कितनी चिन्ता रहती है, यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

एक हिन्दू—भाई, कैसा सच कहा है।

बहुत-से हिन्दू—बिल्कुल सच, बिल्कुल सच।

मुसलमान—इसमें कोई शक़ नहीं, इसमें कोई शक़ नहीं।

प्रकाशचन्द्र—महाशयो! हिन्दू-मुस्लिम जनता तो लड़ती है, परन्तु ये नेता आपस में क्यों नहीं लड़ते? इनमें से किसीने आज तक एक दूसरे का सिर फोड़ा?

जनता—कभी नहीं, कभी नहीं।

प्रकाशचन्द्र—आपकी म्यूनिस्पैल्टी में एक सभापति और दूसरा उप-सभापति रहकर कैसे काम करते हैं ? म्यूनिस्पैल्टी के चरित्र मैंने तो यहीं आकर सुने हैं। आप मुझसे अधिक जानते होंगे।

जनता—खूब जानते हैं, खूब जानते हैं।

हिन्दू—सब खाऊ हैं।

मुसलमान—बेशर्म हैं।

प्रकाशचन्द्र—नहीं, ऐसे हैं जैसी सड़ी हुई लकड़ी होती है। जिस प्रकार उस लकड़ी पर कोई खुदाव का काम नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ये नहीं सुधारे जा सकते।

जनता—ठीक, बिल्कुल ठीक।

प्रकाशचन्द्र—सज्जनो ! सिद्धान्तों के लिए संसार नहीं है, संसार के लिए सिद्धान्त हैं। (**तालियाँ**) यदि वर्तमान स्वीकृत वैज्ञानिक कहे जाने-वाले इन सिद्धान्तों से संसार में सत्य-सुख की स्थापना सम्भव नहीं है, तो इन सिद्धान्तों का मूलोच्छेदन कर डालना ही हमारा कर्तव्य है।

कुछ लोग—हिअर-हिअर ! हिअर-हिअर !

प्रकाशचन्द्र—और यह कार्य किसी पुराने गृह के निर्बल विभागों को गिराने के सदृश है। जिस प्रकार उसका एक भाग गिराते समय यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि उससे लगा हुआ दृढ़ दिखनेवाला विभाग उस निर्बल विभाग के गिराने के पश्चात् स्थित रह सकेगा, या नहीं, उसी प्रकार इन वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों में एक के उखाड़ने पर दूसरे के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका क्या होगा ?

जनता—हिअर-हिअर ! हिअर-हिअर !

प्रकाशचन्द्र—सज्जनो ! वर्तमान दुःखों का—धनी वर्ग के, निर्धनों के, पठितों के, अपठितों के, नगर-निवासियों के, ग्राम-निवासियों के, पुरुष-वर्ग के, स्त्री-वर्ग के, बालकों के, बालिकाओं के—सभी दुःखों का जिन-जिन उपायों से नाश हो, मेरे मतानुसार, वही सच्चे सिद्धान्त हैं; वही मेरे इस शरीर का, इस हृदय का, उस हृदय का जिस हृदय में न जाने कितने काल से दुखी माता की शोकमयी प्रतिमा अंकित है, ध्येय है, कर्तव्य है, धर्म है और इसके लिए इस शरीर के काम आने की आवश्यकता हो तो भी यह तैयार है।

जनता—धन्य है ! धन्य है !

प्रकाशचन्द्र—इसीलिए सत्य-समाज की स्थापना हुई है और इसी पुण्य कार्य में आपके भी, हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, क्रिश्चियनों, पारसियों, बौद्धों, जैनियों, धनवानों, निर्धनों, पठितों, अपठितों, पुरुषों, स्त्रियों, सभी समाजों और वर्गों के सहयोग की आवश्यकता है।

[प्रकाशचन्द्र बैठ जाता है। जय-जयकार और तालियों की गड़बड़ाहट के साथ ही साथ यवनिका-पतन ।]

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—सर भगवानदास का उद्यान

समय—रात्रि

[नदी के किनारे पर उद्यान है। चाँदनी में दूरी पर नदी के पानी की छोटी-छोटी लहरें चमक रही हैं। उद्यान में दूब का मैदान अँगरेजी नाच के लिए सुन्दरता से सजाया गया है। मैदान में सफ़ेद रंग का मोटा एक विशेष प्रकार का कपड़ा लोहे की कीलें ठोंक कर बिछाया गया है, उस पर सफ़ेद चाक-मिट्टी फैली हुई है, जिससे नाच के समय जूते सरलता से फिसल सकें। इस कपड़े के तीन ओर गद्दीदार सोफ़ा और कुर्सियाँ हैं। बीच-बीच में टेबिलें भी रखी हैं, जो कपड़े से ढँकी हैं और जिनपर फूलों से भरे, फूलदान सजे हैं। इधर-उधर सुन्दर अँगरेजी फूलों के गमले रखे हैं। एक ओर कुछ दूरी पर एक बड़ा-सा लम्बा डेरा (रिफ़्रेशमेंट-टेंट) लगा है, जिसके बीच में खाना खाने की एक लम्बी टेबिल पर अँगरेजी मिठाइयाँ, फल, शेम्पीन और अनेक प्रकार की मदिराएँ तथा कई फूलदान

सजे हैं। कई खानसामें सफ़ेद वर्दी और कमर में चौड़ा लाल पट्टा लगाए प्रबन्ध करते हुए घूम रहे हैं। बिजली की सफ़ेद रोशनी से दिन का-सा प्रकाश है । संध्या के अँगरेज़ी कपड़े (ईवनिंग-सूट) पहने, खुले सिर, सिगरेट पीते हुए दामोदरदास और रुक्मिणी का प्रवेश। रुक्मिणी काली रेशमी पतली-सी साड़ी पहने है, उसी रंग का सलूका है। गला बहुत नीचे तक और हाथ पूरे खुले हैं। आभूषण हीरे के हैं।]

दामोदरदास—तुम, डियर, थोड़ा-सा धैर्य रखोगी तो सब बातें तुम्हारी इच्छानुसार ही हो जायँगी।

रुक्मिणी—(**हाथ मलते हुए**) धैर्य ! धैर्य कैसा ? जब उस अपमान का स्मरण आता है, तब सिर से पैर तक आग लग जाती है; तुम धैर्य की बातें करते हो ! न भोजन अच्छा लगता है, न नींद आती है, न किसी काम में मन लगता है। मेरे निर्मल हृत्-पटल पर रात और दिन कल्याणी-द्वारा किये हुए अपमान का चित्र खिंचा रहता है ।

दामोदरदास—पर, तुम सोचो, मेरा बर्थ-डे कितना निकट था, आज की यह सारी व्यवस्था करनी थी, निमन्त्रण भेजने थे, इस झगड़े को लेकर बैठता तो एक नयी आपत्ति का चित्र और खिंच जाता।

रुक्मिणी—मानती हूँ; पर आज तो यह कार्य समाप्त हो जायगा। कल यदि इस चित्र को मिटाने के लिए प्रतिकार-रूपी सेल्यूशन न लगा तो यह चित्र अमिट-सा हो जायगा।

दामोदरदास—कल ही लो। कल तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही सब कुछ न हो जाय तो कहना। (**चारों ओर देखकर**) ओहो ! फ़ाइन एरेंजमेंट, नहीं, रुक्मिणी ?

रुक्मिणी—(**चारों ओर देखकर**) तुम्हारे प्रबन्ध में कभी कोई कोर-कसर रह सकती है ?

दामोदरदास—(**हाथ की घड़ी देखकर**) अभी तो गेस्ट्स के आने में विलंब है। (**कुछ ठहरकर**) पर हाँ, मैंने धनपाल को कुछ पहले बुलाया है।

रुक्मिणी—क्यों, क्या कोई विशेष बात है ?

दामोदरदास—विशेष बात ! अरे तुम गये संडे की पब्लिक मीटिंग का वृत्तान्त नहीं जानतीं ?

रुक्मिणी—वही न जिसमें आपकी बहन साहबा भी पधारी थीं ?

दामोदरदास—हाँ, वही। उसीके सम्बन्ध में धनपाल से परामर्श करना है। उस डेविल प्रकाश ने तो बड़ी गड़बड़ी मचानी आरम्भ कर दी है। (**दाहनी ओर देखकर**) हलो ! हिअर कम्स ऑनरेबिल मिस्टर धनपाल।

[धनपाल का प्रवेश। धनपाल की वेश-भूषा भी दामोदरदास के सदृश है।]

दामोदरदास—(**आगे बढ़कर धनपाल से हाथ मिलाते हुए**) वेल मिस्टर धनपाल, मैं अभी मिसेज़ गुप्ता से तुम्हारी ही बात कर रहा था कि तुम आ पहुँचे। थिंक ऑफ़ दि डेविल एंड ही इज़ देअर।

धनपाल—(**हाथ मिलाते और मुस्कराते हुए**) सो यू आर थिंकिंग ऑफ़ डेविल्स ऑन योर बर्थ-डे; एन ओमीनस साइन। वेल, हार्टी काँग्रेचुलेशन फ़ॉर योर बर्थ-डे, मिस्टर गुप्ता।

दामोदरदास—मेनी-मेनी थैंक्स, मिस्टर धनपाल।

धनपाल—(**आगे बढ़कर रुक्मिणी से हाथ मिलाते हुए**) आपको भी मिस्टर गुप्ता के जन्म-दिवस की बधाई है।

रुक्मिणी—(**मुस्कराकर**) अनेक धन्यवाद।

दामोदरदास—(**रुक्मिणी से**) वेल, डियर, मैं इनसे बातें करता हूँ, तब तक तुम थोड़ा रिफ़्रेशमेंट का प्रबन्ध देख लो; इतना बिज़ी था कि मैं अभी रिफ़्रेशमेंट-टेंट तक न जा सका। पर, शीघ्र ही आना, थोड़ा शेम्पीन भी साथ लिवा लाना'।

रुक्मिणी—अच्छी बात है।

[रुक्मिणी का डेरे की ओर प्रस्थान। दोनों सोफ़ा पर बैठते हैं।]

दामोदरदास—(**सिगरेट-केस को धनपाल के आगे कर गम्भीरता से**) मैंने उस विषय को बहुत सोचा, अन्त में, मैं तो इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ कि मैं उस पर डिफ़ेमेशन-सूट चलाऊँ।

धनपाल—(**सिगरेट लेकर जलाते हुए**) तुम कई बार बड़ी शीघ्रता करते हो, मिस्टर गुप्ता, थोड़ा ठहरो भी। आज मैं एक नया संवाद लेकर आया हूँ। (**कुछ देर तक कान में कुछ कहता है।**)

दामोदरदास—(**हर्ष से उछलकर, धनपाल के हाथ पर हाथ मारते हुए**) अहा! यदि यही हो जाय तो सारा झगड़ा ही मिटे।

धनपाल—(**दामोदरदास का हाथ पकड़कर हिलाते हुए**) हो रहा है और आशा भी है कि हो जायगा, पर थोड़ा धैर्य रखने से। पब्लिक लाइफ़ में थिक-स्किन्ड रहने से काम चलता है, इस प्रकार नहीं।

दामोदरदास—(**फिर बैठते हुए**) पर, भाई, बदनामी का कुछ ठिकाना है? सारे नगर में मुख-मुख पर यही बात हो रही है। मनोरमा ने तो उस सभा में जाकर और अनर्थ किया है। तुमने सुना है, वह प्रकाश के सत्य-समाज की मेम्बर भी हुई है।

धनपाल—हाँ, सुना है, और नगर में इसकी भी कम चर्चा नहीं है।

दामोदरदास—उसका, ऐसे समाज का मेम्बर होने से, जिसके प्रेसीडेण्ट ने हमें हजारों गालियाँ दीं, और अधिक दुःख की बात क्या हो सकती है? ऐसी दशा में नगर में चर्चा क्यों न हो? लोग खाते घर का हैं और बात परायी करते हैं।

धनपाल—पर, तुम उसे रोकते क्यों नहीं?

दामोदरदास—बहुत प्रयत्न किये, भाई, पर एक भी सफल न हुआ।

धनपाल—अपनी मदर से कहो।

दामोदरदास—मदर से तो मैं कुछ कह नहीं सकता, हाँ, फ़ॉदर से कहा था।

धनपाल—उन्होंने क्या कहा?

दामोदरदास—स्पष्ट कह दिया कि तुम्हींने तो उसे सिर चढ़ाया है, तुम्हींने पढ़ाया-लिखाया है, तुम्हीं उससे कहो।

धनपाल—फिर तुम्हीं क्यों नहीं कहते?

दामोदरदास—मैंने भी कहा था, पर उसने मेरे ही स्वतंत्रता के प्रिंसपल को मेरे सम्मुख रख दिया। इस वर्ष वह मेजर भी हो गयी है, नहीं तो कानूनन रोकता। घर ही में आपत्ति खड़ी हो गयी; करूँ तो करूँ क्या?

धनपाल—सचमुच, भाई, बड़ा अनर्थ है।

दामोदरदास—क्या कहूँ, फिर उस डेविल ने किसीको भी तो नहीं छोड़ा। अजयसिंह, तुम, विश्वनाथ, शहीदबख्श, मैं, सभी पर आक्षेप।

धनपाल—यही तो उसने मूर्खता की कि सबके-सबको अपमान की एक ही माला में पिरो डाला।

दामोदरदास—पर, इसकी उसे क्या चिन्ता है? वह कुछ राजनीतिज्ञ तो है नहीं, न उसे इलेक्शन में खड़ा होना है।

धनपाल—हाँ, मॉब के जैसे निधड़क इर-रिसपॉन्सिबिल और मूर्ख आदमी होते हैं, वैसा है।

दामोदरदास—तभी तो जो मुँह में आया बक डाला। उठाई जीभ लगा दी तलुवे से। नंगा ठहरा। नंगा ख़ुदा से बड़ा। वह क्या पहने और क्या निचोय?

धनपाल—ठीक है, भाई, ही हैज़ नथिंग टु स्टेक।

दामोदरदास—पर, देखो, एक ही भाषण में सारे नगर की जनता उसके साथ हो गयी।

धनपाल—इस नगर की जनता बड़ी जोशीली है। नान-को-ऑपरेशन और सिविल-डिस-ओबीडियन्स के समय का स्मरण नहीं है? पर, जोश ही जोश है, करने को कुछ नहीं। कन्हैयालाल तक सिविल-डिस-ओबीडियन्स में जेल नहीं गया। **(कुछ रुककर)** हाँ, एक बात और जानते हो?

दामोदरदास—क्या?

धनपाल—इस प्रकाश से कन्हैयालाल बहुत घबड़ा गया है, उसकी राष्ट्रीय लीडरी के दिये को जैसे किसी ने फूँक मार दी है। आज प्रातः-काल मिला था।

दामोदरदास—क्या कहता था?

धनपाल—कहता क्या था, रोता था। बोला कि उस दिन राजा साहब के यहाँ की पार्टी का और सन्डे की पब्लिक मीटिंग का सच्चा वृत्तान्त

न छापने के कारण उसके पत्र के बायकाट का आन्दोलन होनेवाला है।

दामोदरदास—और विश्वनाथ तथा शहीदबख़्श मुझसे मिले थे।

धनपाल—वे क्या कहते थे?

दामोदरदास—वे भी घबड़ाये हैं। स्मरण ह, उस दिन राजा साहब के यहाँ पार्टी में शहीदबख़्श विश्वनाथ से कहता था कि वह हिन्दुओं को सँभाले, मुसलमानों में प्रकाश की दाल न गलेगी।

धनपाल—हाँ, अच्छी प्रकार स्मरण है।

दामोदरदास—पर, उसने एक ही भाषण में दोनों को मूँड़ डाला। (**हँस कर**) पंडित और मौलाना को, अगले चुनाव में, अपनी म्यूनिस्पैल्टी और कौंसिल की सीट्स सेफ़ नहीं दिखतीं। (**बेपरवाही से**) मुझे इसकी क्या चिन्ता? चेम्बर ऑफ़ कामर्स जीता रहे।

धनपाल—(**सिर हिलाते हुए**) पर, भाई, मुझे तो विश्वनाथ और शहीदबख़्श से अधिक चिन्ता है, वे तो रूरल से चुने गये हैं, मैं तो अरबन से हूँ, जहाँ यथार्थ में ये सारे आन्दोलन केंद्रीभूत रहते हैं।

दामोदरदास—(**बेपरवाही से**) उँह, तुम्हें क्या, नया कॉन्स्टीट्यूशन आते ही तुम गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया की केबिनेट में जाओगे।

धनपाल—(**सिर हिलाते हुए**) यह तो वाइसराय के हाथ की बात है।

दामोदरदास—बहुत कुछ गवर्नर के भी।

धनपाल—(**गम्भीरता से**) ये डार्विन की थियोरी के अनुसार मनुष्य के सच्चे प्रपितामह हैं, इनका कोई ठिकाना नहीं। ये किसके होते हैं? मनुष्यता प्राप्त करने के लिए इनमें अभी और कुछ एवोल्यूशन की

आवश्यकता है। (कुछ ठहरकर) हाँ, यह तो कहो, विश्वनाथ और शहीदबख्श इरीगेशन-स्कीम के लिए तो पक्के हैं न?

दामोदरदास—उन्होंने उसके विरोध में तो कुछ नहीं कहा, परन्तु डर अवश्य गये हैं। (कुछ ठहरकर) देखो, सब कुछ कैसा ठीक कर लिया था। कई ज़मीदार मेम्बरों के इस्टेट से होकर नहर आती इसीलिए वे सपोर्ट करते। हिन्दू-सभा को चंदा मिलता, इससे विश्वनाथ सपोर्ट करता और उसकी पार्टी के हिन्दू-मेम्बर, शहीदबख्श और उसकी पार्टी के मुसलमान-मेंबरों को स्वयं कुछ मिलता, इससे वे सपोर्ट करते। फिर डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड, ज़मींदार-एसोसिएशन की एक्ज़ीक्यूटिव, चेम्बर ऑफ़ कामर्स, बार-एसोसिएशन, ह्यूमैनटेरियन लीग, लेडीज़-एसोसिएशन सबने उसे ग्रामीणों के हित का सच्चा कार्य कह कर सपोर्ट किया था।

धनपाल—और डिपार्टमेंट में, मैंने सब कुछ करा लिया था। (धीरे से) यह तो तुम जानते ही हो कि पूरा पानी उसमें आयगा या नहीं, यह संदिग्ध विषय है, पर पब्लिक-वर्क्स-डिपार्टमेंट मेरे चार्ज में ठहरा। फिर तुम इस डिपार्टमेंट, पुलिस, रेलवे आदि का वृत्तान्त जानते ही हो। किसी प्रकार सब ठीक हो गया था, पर.....(कुछ ठहरकर) क्योंजी, यह पानी की बात क्यों कर आउट हुई?

दामोदरदास—(भौंहें चढ़ाकर) मैंने तो यह बात रुक्मिणी तक से नहीं कही, क्योंकि स्त्रियाँ ही ठहरीं।

धनपाल—तब डिपार्टमेंट से हुई होगी?

दामोदरदास—जो कुछ भी हो, बड़ी बदनामी हुई और इतने पर भी कौंसिल से स्कीम के समर्थन का रिज़ोल्यूशन पास हो जाय तब की बात है।

धनपाल—मैंने तो तुमसे उसी दिन कहा था कि अब, जब तक एक पब्लिक मीटिंग में उस स्कीम का समर्थन न करा लिया जाय, तब तक कौंसिल में रिज़ोल्यूशन को रखना ही ठीक नहीं है, और फिर यह भी शीघ्र कराना चाहिए, क्योंकि प्रकाश का आन्दोलन बढ़ता हुआ दिख रहा है।

दामोदरदास—परन्तु, तुम तो कहते हो न कि गवर्नमेंट प्रकाश...।

धनपाल—**(बात काटकर)** थोड़ा धीरे; पर, भाई, उस बात पर तो विचारमात्र हो रहा है और फिर जैसा मैंने अभी कहा था, उसके लिए तो राजा साहब से मिलना होगा, क्योंकि उन्हींकी इस्टेट में उसने काम आरम्भ किया है। राजा साहब बिना नेस्टफ़ील्ड के ठीक न होंगे और नेस्टफ़ील्ड को तो तुम जानते ही हो, हज़ारों लिए बिना, बात ही नहीं करता।

दामोदरदास—चाहे कुछ भी ख़र्च क्यों न हो जाय, नेस्टफ़ील्ड को मैं ठीक करूँगा।

धनपाल—तब सब ठीक हो जायगा; पर, फिर भी पब्लिक मीटिंग तो बुलाना चाहिए।

दामोदरदास—पब्लिक मीटिंग तो मैंने ह्यूमैनटेरियन लीग की ओर से अगले सन्डे को टाउनहाल में बुलायी है; आज ही नोटिस निकला है; परन्तु, उसमें यदि प्रकाश की पार्टी आ गयी तो?

धनपाल—**(बेपरवाही से)** हम पहले से ही टाउनहाल को अपने आदमियों से भर देंगे। टाउनहाल में तो निश्चित संख्या ही बैठ सकती है, और इतने पर भी वे गड़बड़ी करेंगे तो **(कान में धीरे-धीरे कुछ कहकर)** वह एक नया जुर्म और उस पार्टी पर लग जायगा। **(फिर धीरे से कुछ कहता है।)**

दामोदरदास—(प्रसन्नता से) यह ठीक है।

धनपाल—(मुस्कराकर) ये सब बातें मैंने पहले ही सोच ली थीं, तब तुमसे मीटिंग बुलाने को कहा।

दामोदरदास—मीटिंग का प्रेसीडेण्ट तुम्हें होना पड़ेगा।

धनपाल—मुझे !

दामोदरदास—क्यों ? मिनिस्टर पब्लिक मीटिंग के प्रेसीडेण्ट नहीं हो सकते ?

धनपाल—हो क्यों नहीं सकते, और फिर मैं तो इस विषय में कितना आगे बढ़ा हुआ हूँ, यह तुम जानते ही हो। मैं प्रेसीडेण्ट हो जाऊँगा। रिज़ोल्यूशन तुम रखना। अनुमोदन और समर्थन विश्वनाथ तथा शहीदबख्श करें।

दामोदरदास—मेरी ही स्कीम और मैं ही रिज़ोल्यूशन रखूँ ?

धनपाल—दूसरा उस स्कीम को समझा न सकेगा, फिर आजकल तो यह पार्लिमेंटेरियन एटीकेट हो गया है। देखते नहीं, कौंसिल में जितनी कमिटी और सबकमिटी नियुक्त होती हैं, उसके मेम्बरों की सूची में प्रस्तावक अपना नाम भी मूवर की हैसियत से जोड़ लेता है।

दामोदरदास—अच्छी बात है, रिज़ोल्यूशन मैं रख दूँगा और प्रयत्न भी करूँगा कि पंडित और मौलाना समर्थन करें, पर देखना यह है कि वे समर्थन करते हैं कि नहीं।

धनपाल—(सिर हिलाते हुए) नहीं, नहीं, यह तो उनसे कराना ही होगा।

[रुक्मिणी का एक खानसामें के संग शैम्पीन की बोतल (डिकैन्टर) और ग्लास (पेग) लिए हुए प्रवेश। खानसामा शैम्पीन टेबिल पर रख कर चला जाता है। रुक्मिणी बैठ जाती है। तीनों ग्लास भरते हैं।]

धनपाल—मिस्टर गुप्ता के जन्म-दिवस के हर्ष में, लाँग लिव मिस्टर गुप्ता। **(पीता है। दामोदरदास और रुक्मिणी भी हँसते हुए पीते हैं।)**

दामोदरदास—(घड़ी देखकर) हलो! इट इज़ आलरेडी नाइन! **(रुक्मिणी से)** डियर, तुम्हें बड़ी देर लगी।

रुक्मिणी—टेंट की व्यवस्था में कुछ परिवर्तन कराया, इसीसे थोड़ी देर हो गयी।

दामोदरदास—अब तो गेस्ट्स के आने का भी समय हुआ।

धनपाल—(दाहनी ओर देखकर) देअर इट इज़, डॉक्टर नेस्टफ़ील्ड और मिस थेरिजा पहुँच ही गये।

[दामोदरदास और धनपाल के सदृश ईवनिंग-सूट में नेस्टफ़ील्ड और उसीके साथ थेरिजा का प्रवेश। दामोदरदास, धनपाल और रुक्मिणी उठते हैं और नेस्टफ़ील्ड तथा थेरिजा से हाथ मिलाते हैं। ये लोग दामोदरदास और रुक्मिणी को दामोदरदास के जन्म-दिवस की बधाई देते हैं। ये दोनों धन्यवाद देते हैं। सब लोग कुर्सियों पर बैठ जाते हैं। इतने में फिर दूसरे मेहमान आते हैं। दामोदरदास स्वागत को उठता है। मेहमानों का ताँता लग जाता है। कुछ ही देर में कई अँगरेज़, कई मेमें, कई हिन्दुस्तानी पुरुष और स्त्रियाँ पहुँचती हैं। सब लोग एक-एक कर दामोदरदास और रुक्मिणी को बधाई देते हैं और ये लोग सबको धन्यवाद देते हैं। सभी पुरुष ईवनिंग-सूट पहने हैं तथा खुले सिर हैं। स्त्रियाँ तरह-तरह के सुन्दर कपड़े पहने हैं। कुछ बैठते हैं, कुछ नाचने

जाते हैं। रुक्मिणी और धनपाल तथा थेरिजा और दामोदरदास भी नाचते हैं। खानसामें मिठाई, मदिरा, सिगरेट आदि लेकर घूमते हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—प्रकाशचंद्र के घर का बाहरी भाग

समय—रात्रि

[तारा का हाथ में मिठाई की रकाबी लिए तथा उसीके साथ प्रकाशचन्द्र का प्रवेश। दोनों अपनी साधारण वेश-भूषा में हैं। तारा मिठाई की रकाबी रखकर बैठ जाती है। उसीके निकट प्रकाशचन्द्र बैठ जाता है।]

तारा—बेटा, अब शीघ्र खा। आज भी देख तूने कुछ नहीं खाया। उस दिन की सार्वजनिक सभा के पश्चात् तू कुछ खाता ही नहीं है। क्या नेता हो जाने से बड़ा हर्ष हो गया है, इसी हर्ष में खाना अच्छा नहीं लगता ?

प्रकाशचन्द्र—(**गम्भीरता से**) हर्ष तो तनिक भी नहीं है, माँ, हाँ, एक विलक्षण प्रकार के भार का अनुभव अवश्य होता है।

तारा—अच्छा, खाना तो आरम्भ कर, और भार कैसा है, यह भी बता।

प्रकाशचन्द्र—(**मिठाई खाते हुए**) वैसी स्वच्छंदता अब नहीं जान पड़ती, जैसी रविवार के पूर्व थी।

तारा—तब ?

प्रकाशचन्द्र—दिन-रात ऐसा जान पड़ता है कि संसार भर का भार

मेरे ही कंधों पर रखा है; साथ ही साथ, कार्य करने को अधिक है और समय भी है कम। फिर हृदय से कोई वस्तु हटती-सी जान पड़ती है।

तारा—वह मैं होऊँगी।

प्रकाशचन्द्र—नहीं, माँ, तू तो प्रत्येक बात अपने ऊपर ले लेती है। वह तू नहीं है, कदापि नहीं, वह है सुख, जिस सुख का मैंने उस दिन भाषण में वर्णन किया था। तू जानती है, उस दिन मैंने क्या कहा था?

तारा—तूने मुझे कहाँ बताया?

प्रकाशचन्द्र—मैंने कहा था कि अजयसिंह, दामोदरदास, विश्वनाथ, शहीदबख्श किसीके मुख पर सुख के चिन्ह नहीं हैं। क्यों, माँ, क्या मेरे मुख पर के सुख के चिन्ह भी अब लुप्त हो गये? अब मैं दर्पण में जब अपना मुख देखता हूँ, तब उसे वैसा तो नहीं पाता, जैसा रविवार के पूर्व पाता था। तूने मेरा मुख जन्म-काल से ही देखा है, तू सबसे अधिक बता सकती है।

तारा—अवश्य अन्तर है, बेटा, और हर क्षण यह अन्तर बढ़ता ही जाता है, तभी तो, बेटा, उस दिन मैंने तुझसे कहा था कि हम लोग गाँव को लौट चलें।

प्रकाशचन्द्र—यह बात तो करना ही निरर्थक है, माँ। तेरी ही शिक्षाएँ हृदय में ऐसी भिद गयी हैं कि मेरे लिए आगे पैर रखने के पश्चात् उसे पीछे हटाना असम्भव है।

तारा—तब तो यह मुख का अन्तर बढ़ता ही जायगा, बेटा।

प्रकाशचन्द्र—बढ़ने दे, और तू उस अन्तर को देखने के लिए अभी से तैयार हो जा। देख, माँ।

तारा—कह, क्या कहता है?

प्रकाशचन्द्र—जिस प्रकार मुझे ग्रामीण और नगर के जीवन में अन्तर दिखता है, उसी प्रकार का अब दूसरा अन्तर अकर्मण्य और कर्मण्य जीवन में अनुभव हो रहा है। कुछ ही दिनों में मेरा मुख भी अजयसिंह आदि के सदृश हो जायगा।

तारा—तेरा, आह! बेटा!

प्रकाशचन्द्र—**(जल्दी से मुँह चलाना बंदकर)** नहीं, नहीं, भूल गया, माँ। ठहर जा, अजयसिंह आदि के सदृश! **(कुछ ठहरकर)** अजयसिंह आदि के सदृश मेरा मुख! मेरा मुख कदापि वैसा नहीं हो सकता। उनके मुखों पर शोक, षड्यंत्र, चिन्ता आदि का साम्राज्य है, मेरे मुख पर वह कैसे हो सकता है? हाँ, मेरा मुख, अब तक जैसा रहा है, वैसा रहना अब सम्भव नहीं है।

तारा—तब?

प्रकाशचन्द्र—वह वैसा स्वच्छंद, वैसा अकर्मण्य अब न रहेगा; परन्तु वह पापियों के सदृश, स्वार्थियों के सदृश, कलुषित और चिन्तित क्यों कर हो सकता है? उसपर अकर्मण्यता और स्वच्छंदता के स्थान पर कर्मण्यता और कर्तव्यपरायणता के चिह्न होंगे; दुःख, षड्यंत्र और चिन्ता के नहीं।

तारा—अच्छा, खाना क्यों बन्द कर दिया? खाता भी तो जा।

प्रकाशचन्द्र—**(फिर मिठाई उठाकर खाते हुए)** यह अन्तर तो, प्यारी माँ, खेद की बात नहीं है। प्राकृतिक जीवन तक एक-सा नहीं है। **(फिर मुँह चलाना बन्दकर)** उषा का मंद प्रकाश कुछ ही क्षणों में दिन का प्रचंड ताप हो जाता है। आसन्न संध्या की प्रभामय श्यामता कुछ ही घड़ियों में रात्रि की भयंकर कालिमा हो जाती है। वसंत के संग जिस ग्रीष्म का

परोक्ष रीति से आगमन होता है, और जो उस समय आनंददायक प्रतीत होती है, वही ज्येष्ठ में निदाघ का भयंकर रूप धारण करती है। आषाढ़ के उठते हुए छोटे-छोटे मेघ भीषण गरजनेवाली घटाएँ हो जाते हैं और छोटी-छोटी बरसनेवाली बूँदों से भारी-भारी सरिताओं में पूर आ जाता है। शरद् के संग जिस सुहावनी शीत का पदार्पण होता है, वही हेमन्त में दाँतों को कँपानेवाला जाड़ा हो जाती है।

तारा—अभी तो ठंड नहीं है, फिर मिठाई पर दाँत चलाना क्यों बन्द कर दिया?

प्रकाशचन्द्र—(**मुस्कराकर मुँह चलाते हुए**) शान्त महासागर में काल पाकर ज्वार आता है और मंद-मंद चलनेवाली वायु से उठती हुई छोटी-छोटी तरंगें भयंकर कल्लोलों का स्वरूप ग्रहण करती हैं। द्वितीया को उदय होनेवाली चंद्र-रेखा पूर्णचंद्र का बिम्ब हो जाती है। निकलती हुई कली का बन्द मुख खुल कर पुष्प हो जाता है और वही पुष्प काल पाकर अपनी विकसित पँखड़ियों को छोड़ बीज का रूप धारण करता है। बाल्यावस्था का भोला मुख यौवन के देदीप्यमान मुख में परिणत हो जाता है और वृद्धावस्था पाकर उसी देदीप्यमान मुख पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। (**चुप होकर मिठाई खाता है।**)

तारा—यह तो ठीक है। प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति के पश्चात् शनैः शनैः परिवर्तन होता है, क्योंकि परिवर्तन संसार का नियम है।

प्रकाशचन्द्र—फिर, माँ, तेरा प्रकाश ही एक-सा कैसे रह सकता है? उसके हृदय के भाव और उन भावों का दर्पण मुख ही क्यों कर एक-सा रह सकता है? रहना भी नहीं चाहिए। नदी का प्रवाह ही निर्मल रह सकता है, पोखरे का रुका हुआ पानी गँदला हो ही जायगा। हाँ, एक बात अवश्य है।

तारा—वह क्या ?

प्रकाशचन्द्र—कुछ परिवर्तन अच्छाई से बुराई की ओर जाते हैं और कुछ बुराई से अच्छाई की दिशा में; कुछ जीवन से मृत्यु की ओर, और कुछ जड़ता से चैतन्य की। तेरे प्रकाश का परिवर्तन, माँ, दूसरे प्रकार का है। वह है अकर्मण्यता से कर्मण्यता और स्वच्छंदता से कर्तव्यपरायणता की ओर। **(चारों ओर देखकर)** पानी लाना तू फिर भूल गयी।

[तारा शीघ्रता से जाती है और पानी का ग्लास लेकर आती है।]

प्रकाशचन्द्र—**(थोड़ा-सा पानी पीकर)** तो फिर यह सिद्ध हो गया न, माँ, कि मेरे मुख का परिवर्तन तो हर्ष की बात है, चिन्ता की नहीं। मुझे यह विश्वास है कि मेरा यह परिवर्तन तेरे दुख से द्रवीभूत हृदय में भी परिवर्तन लाये बिना न रहेगा। पुत्र की कर्तव्यपरायणता माता के हृदय-सागर में भी हर्ष की हिलोर उठाए बिना नहीं रह सकती। माँ, तेरे मुख पर मैं वह परिवर्तन कब देखूँगा ?

तारा—बेटा, तुझे क्या हो गया है ? तू मेरी शिक्षाओं की बात करता है, परन्तु तू तो उनके बहुत आगे बढ़ता जा रहा है।

प्रकाशचन्द्र—**(फिर मिठाई खाकर)** यह तो होना ही चाहिए, माँ। बीज सदैव छोटा-सा होता है, किन्तु पृथ्वी में बो देने के पश्चात् वही पानी पाकर वृक्ष के रूप में परिणत हो शनैः शनैः बढ़ता है; पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है।

तारा—तो मेरी शिक्षा पल्लवित, पुष्पित और फलित हो रही है।

प्रकाशचन्द्र—अवश्य, यदि शिक्षा ठीक प्रकार दी जाय और उसी प्रकार ग्रहण की जाय तो उसे भी पानी का कार्य करना चाहिए। यदि वह यह न करे तब तो उसे सच्ची शिक्षा नहीं कहनी चाहिए।

तारा—(**रूखी हँसी हँसकर**) तुझसे तो अब बात करना कठिन होता जाता है, बेटा!

प्रकाशचन्द्र—(**तारा के मुँह को अच्छी तरह देखकर**) क्यों, माँ, तू सच्चे हर्ष से एक बार भी नहीं हँस सकती? देख तो, कैसी रूखी हँसी हँसती है। तेरी इस हँसी से तो तेरे आँसू ही अधिक स्वाभाविक हैं, मुझे वे अधिक सुन्दर दिखते हैं। यह हँसी तो मुझे भयानक प्रतीत होती है। या तो सच्चे हर्ष से हँसा कर, या तू कभी हँसा ही न कर। स्वाभाविकता ही सौंदर्य का प्राण है।

तारा—(**लंबी साँस लेकर**) बेटा, सच्चे हर्ष की हँसी! आह! स्मरण तो है, कभी आती थी। परन्तु, बेटा, उसे बहुत समय बीत गया, बहुत अधिक समय। पुरानी, बहुत पुरानी बात है। आह! बेटा, वे दिन! वे दिन स्मरण न करना ही अच्छा है; करने से और अधिक क्लेश होता है।

प्रकाशचन्द्र—तुझे काहे का दुःख है, माँ, यह तूने मुझे कभी नहीं बताया?

तारा—(**ओंठों पर अँगुली रखकर**) वह बात न कर; बेटा, कभी बताया नहीं और कभी बताऊँगी भी नहीं। यदि वह बात करेगा, तो यहाँ से उठकर चली जाऊँगी।

प्रकाशचन्द्र—अच्छा, जाने दे। क्या मैं प्यारी माँ को कष्ट पहुँचा सकता हूँ। (**पानी पीकर उठते हुए**) अच्छा, हाथ धुला दे।

[दोनों का प्रस्थान। तारा जूठी रकाबी और ग्लास उठा ले जाती है। दोनों का पुनः प्रवेश।]

प्रकाशचन्द्र—आज, माँ, गोद में न सुलायगी? अप्रसन्न है क्या?

तारा—(**प्रकाशचन्द्र को गोद में लिटाते हुए**) कैसी बात करता है, बेटा? अप्रसन्न! तुझसे अप्रसन्न! आज तक तूने ऐसी बात न कही थी। आज तो बड़ी भारी बात कह दी।

प्रकाशचन्द्र—और कभी अप्रसन्न होवेगी भी नहीं?

तारा—(**कातर स्वर में**) इस दुःख, महान् दुःख, आकाश से अनंत दुःख, सागर से असीम दुःख, काल से अशेष दुःख के सुख, इस टूटी हुई कमर के सहारे, फूटी हुई आँखों के तारे, मसोसे हुए हृदय के रहे-सहे भाव, आत्मा के शेष बल और शरीर के अवशेष पुरुषार्थ, तुझसे अप्रसन्न होऊँगी? तुझसे अप्रसन्न?

प्रकाशचन्द्र—(**गोद में अच्छी तरह लेटते और तारा के गले में हाथ डालते हुए**) प्यारी माँ, इस गोद में जो अलौकिक, जो अपार और जो अवर्णनीय सुख मिलता है, वह कहीं नहीं।

तारा—कहीं नहीं; बेटा?

प्रकाशचन्द्र—हाँ, कहीं नहीं; माँ, कई बार तो नगर की भीड़ से भरे हुए मार्ग में चलते हुए, इस गोद का स्मरण हो आता है, कभी मित्रों के कोलाहलपूर्ण संग में इस गोद की याद आ जाती है, कभी-कभी तो भाषण देते हुए इस गोद का ध्यान आ जाता है।

तारा—भाषण देते-देते!

प्रकाशचन्द्र—हाँ, भाषण देते-देते, माँ। उस दिन रविवार के भाषण में, जिस समय तेरी चर्चा की, इस गोद का स्मरण हो आया। तू निकट न थी, नहीं तो सच मान, अधूरा भाषण छोड़, एक बार इस गोद में लेट लेता, तब भाषण पूर्ण करता, माँ, प्यारी माँ, (**तारा का मुँह देखता है।**)

तारा—(आँसू बहाते हुए प्रकाशचन्द्र को देखकर) मेरे नेत्रों के प्रकाश, मेरे हृदय के प्रकाश, मेरी आत्मा के प्रकाश, मेरे चंद्र, बेटा, प्यारे बेटा।

प्रकाशचन्द्र—(उठकर एकटक तारा को देखते हुए) आह! कैसा अलौकिक मुख है! कैसा अलौकिक सौंदर्य है! कैसी अलौकिक मुद्रा है! (आँसू भर आते हैं। कुछ देर के लिए निस्तब्धता छा जाती हैं।)

प्रकाशचन्द्र—(नेत्रों में भरे आँसुओं को पोंछ, धीरे-धीरे) माँ, तूने एक नयी बात सुनी है?

तारा—(आँखें पोंछ, घबड़ाकर) क्या, और कोई आपत्ति है? यह तो तूने बताया था कि राजा के इस्टेट में कार्य आरंभ हो गया है और दामोदरदास की बहन तथा सुशीला भी तेरे समाज की सदस्या हुई हैं।

प्रकाशचन्द्र—यह तो मैंने सोमवार को ही बता दिया था। एक बात नयी सुनकर आया हूँ।

तारा—(और भी घबड़ाकर) वह क्या?

प्रकाशचन्द्र—आगामी रविवार को टाउनहाल में ह्यूमैनटेरियन लीग की ओर से एक सार्वजनिक सभा होगी।

तारा—उसमें क्या होगा?

प्रकाशचन्द्र—वही नहर की शुष्क योजना का प्रवाह बहाया जायगा।

तारा—सभा किसने बुलायी है?

प्रकाशचन्द्र—मैंने कहा न ह्यूमैनटेरियन लीग की ओर से होगी।

तारा—यह कौन-सी वस्तु है?

प्रकाशचन्द्र—यह मनुष्यमात्र को सुख पहुँचानेवाली एक संस्था है।

तारा—अच्छा, तब तो यह बहुत बड़ी वस्तु है। इसके कोई कर्ता-धर्ता भी तो होंगे?

प्रकाशचन्द्र—वही दामोदरदास आदि हैं।

तारा—ऐसे लोग मनुष्यमात्र को सुख पहुँचाने का उद्योग कर रहे हैं?

प्रकाशचन्द्र—ये ऐसे लोग हैं, माँ, जिनके शब्द पर्वत-शिखर पर रहते हैं, पर कृतियाँ अन्ध गर्त में। सभी संस्थाएँ इन्हीं लोगों के हाथ में तो हैं। इन संस्थाओं से जनता को लाभ अवश्य हो सकता है, पर इन लोगों को तो अपने लाभ की पड़ी रहती है, और वह भी जनता के नाम पर। सबसे अधिक विचित्र बात तो यह है कि यहाँ की इस परिस्थिति को यहाँ के सब लोग स्वाभाविक मानते हैं और इस आश्चर्यजनक परिस्थिति पर किसीको कोई आश्चर्य नहीं होता।

तारा—तो इन्हीं लोगों ने सभा बुलायी है?

प्रकाशचन्द्र—हाँ।

तारा—फिर तुझे इस सभा से क्या प्रयोजन है?

प्रकाशचन्द्र—**(दृढ़ता से)** वाह! माँ, वाह! यहाँ जो कुछ भी होगा उस सबसे हमारे सत्य-समाज का प्रयोजन है। हर बात का सच्चा स्वरूप प्रकट करना ही तो इस समाज का कार्य है। बिना सच्चा स्वरूप जाने; बुरी वस्तु तो क्या, अच्छी वस्तु की उन्नति तक सम्भव नहीं। हमारा सत्य-समाज यदि मूक और असहाय जनता के लिए हिम के सदृश शीतल है तो इन वाचाल और स्वार्थी जनों के लिए अग्नि के समान तप्त।

तारा—(**घबड़ाकर**) तो वहाँ भी तुम लोग जाओगे ?

प्रकाशचन्द्र—(**और भी दृढ़ता से**) इतना ही नहीं, उस योजना के प्रवाह के भीतरी सच्चे प्रवाह का दिग्दर्शन करायँगे। वे लोग उसके बाहरी प्रवाह को प्रवाहित करेंगे और हम उसके भीतरी प्रवाह को।

तारा—और उन्होंने टाउनहाल में न घुसने दिया तो ?

प्रकाशचन्द्र—बहुत पहले जाकर वहाँ बैठ जायँगे ?

तारा—और बलपूर्वक बाहर निकाल दिया तो ?

प्रकाशचन्द्र—तूने मुझे महात्मा गाँधी के सत्याग्रह की बात बतायी थी न ?

तारा—हाँ, बतायी तो थी।

प्रकाशचन्द्र—उनके असहयोग का उपयोग अजयसिंह के प्रीति-भोज में किया था और सत्याग्रह का टाउनहाल में करूँगा।

तारा—(**बहुत ही घबड़ाकर**) आह! बेटा, आह! बेटा, मैंने यह सब तुझे उपयोग करने के लिए थोड़े ही बताया था।

प्रकाशचन्द्र—किसी वस्तु को जान लेना और ठीक समय उसका उपयोग न करना तो कायरों का काम है। ज्ञान और कृति के बीच में यहाँ आकर जो एक तीसरी वैज्ञानिक वस्तु 'चिन्तना' सुनी है, और जिसने मनुष्यों को प्रायः अकर्मण्य एवं कायर बना दिया है, वह कम से कम मेरे पास तो नहीं है, माँ।

तारा—(**घबड़ाकर उठते हुए**) बेटा, बेटा, तू नहीं जानता कि तू क्या कर रहा है। तूने यहाँ के समाज-सागर में भयंकर ज्वार उठा दिया

है और अब छोटे से डोंगे पर बैठ उसे पार करना चाहता है। आह! मुझे तो चक्कर आता है, मैं तो अपनी खटिया पर पड़ती हूँ।

प्रकाशचन्द्र—माँ, प्यारी माँ, तू तो बहुत घवड़ाती ह, अभी तो कार्य का आरंभ ही हुआ है।

तारा—पर, तेरे कार्य ही ऐसे हैं।

प्रकाशचन्द्र—मेरे कार्य ही क्यों, सारा संसार ही एक प्रकार का युद्ध-क्षेत्र है। एक ओर सत्य, न्याय, स्वातंत्र्य और त्याग हैं; दूसरी ओर असत्य, अन्याय, दासता और स्वार्थ है। संसार में हरएक मनुष्य को किसी न किसी ओर होकर इस युद्ध में भाग लेना ही पड़ता है। प्रथम ओर के लोग सज्जन और दूसरी ओर के लोग दुर्जन हैं। तटस्थता का आरोप दिखानेवाले कायर हैं, जोकि प्रति क्षण मृत्यु का अनुभव करते हैं। माँ, तुझे तो धैर्य का अवलम्बन करना चाहिए।

[तारा का जल्दी से प्रस्थान। प्रकाशचन्द्र भी उसीके पीछे जाता है। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—मनोरमा के कमरे की दालान

समय—प्रातःकाल

[दालान की बनावट वैसी ही है जैसी रानी कल्याणी के कमरे की दालान की थी। रंग उससे भिन्न है। रुक्मिणी और मनोरमा टहल-टहलकर बातें कर रही हैं। दोनों अपनी साधारण वेश-भूषा में हैं।]

मनोरमा—परन्तु, भाभी, भारत को विलायत के सदृश बनाने का प्रयत्न क्यों होना चाहिए, यही मेरी समझ में नहीं आता।

रुक्मिणी—इसलिए कि वह संसार का आदर्श देश है। क्या तुम समझती हो कि भारत का कल्याण, जैसा भारत है, वैसा ही बने रहने में है?

मनोरमा—यह मैं कहाँ कहती हूँ? परन्तु भारत का कल्याण, भारत के विलायत बनने में अवश्य नहीं है। देखो, भाभी, प्रत्येक देश के सामने उसकी प्राकृतिक और व्यावहारिक परिस्थितियों के अनुसार उसकी निज की कुछ समस्याएँ रहती हैं।

रुक्मिणी—मानती हूँ, रहती हैं।

मनोरमा—भारत की प्राकृतिक तथा व्यावहारिक स्थिति विलायत से भिन्न है। यह उष्ण देश है, यहाँ के लोगों की रहन-सहन ठण्डे देश में रहने-वालों के सदृश हो जावे तो लोगों का जीवन सुखी और स्वाभाविक नहीं रह सकता। यहाँ की व्यावहारिक परिस्थिति भी वहाँ से सर्वथा भिन्न है। इस देश का प्राचीन इतिहास है, प्राचीन धार्मिक, सामाजिक आदि सिद्धान्त हैं, प्राचीन संस्कृति है, उनको पूर्ण रूप से मिटाकर उनपर पश्चिमी सिद्धान्तों का लादा जाना असंभव है। दूसरे शब्दों में यह प्रयत्न भारत के निज के पैर काटकर दूसरे के पैरों पर उसे चलाना है। फिर तुम क्या यह समझती हो कि विलायत-निवासी हर प्रकार से सुखी हैं? उनके सामने कोई समस्या ही हल करने को नहीं है?

रुक्मिणी—मुझे तो वे हर प्रकार से सुखी दिखायी देते हैं। यह मैं नहीं कहती कि उनके सामने कोई समस्या हल करने को ही नहीं है, परन्तु समस्याएँ संसार के सब देशों और समाजों के सम्मुख हैं। विलायत वालों की समस्याएँ हमारे देश की समस्याओं के सम्मुख नहीं के बराबर हैं।

मनोरमा—इस देश में विलायत से अधिक समस्याएँ हल करने को हैं, इसे मैं मानती हूँ, परन्तु उस देश में नहीं के बराबर समस्याएँ हैं, इसे मैं नहीं मानती। अनेक जटिल समस्याओं के कारण वहाँ का सारा जीवन ही उथल-पुथल हो रहा है।

रुक्मिणी—दो-चार समस्याएँ गिनाओ तो।

मनोरमा—एक बात के अन्तर्गत ही वहाँ की सारी जटिल समस्याएँ आ जाती हैं।

रुक्मिणी—वह कौनसी बात है?

मनोरमा—आधिभौतिकवाद को सर्वस्व मान लेना, कार्लमार्क्स का साम्यवाद, मुसोलिनी का फ़ैसिस्टवाद और हिटलर का नाज़ीवाद सब आधिभौतिकवाद की नींव पर स्थित हैं। मनुष्यत्व वहाँ रह ही नहीं गया, हर बात की तौल सिक्कों के अनुमान पर होती है। जिस पुरुष और स्त्री-समाज के स्वातंत्र्य की तुम इतनी प्रशंसा कर रही हो, उस स्वातंत्र्य ने ऐसा भयानक रूप धारण किया है कि सच्चे गार्हस्थ्य सुख का भी वहाँ पता नहीं है।

रुक्मिणी—(**ताने से**) ये सारी बातें तुम यहाँ बैठी-बैठी कर रही हो, बीबी, मैंने तो इंग्लेण्ड, फ़्राँस, जर्मनी आदि का जीवन स्वयं देखा है। समाचार-पत्रों में ये बातें चाहे कितनी ही प्रधानता से छापी जावें, वहाँ के जीवन में इनकी छाया तक नहीं दिखती।

मनोरमा—तुम वहाँ के सामाजिक जीवन में घुसी नहीं, भाभी। वहाँ के सामाजिक जीवन में ऊपर से चाहे कितना ही सुख दिखता हो, परन्तु यहाँ बैठे-बैठे ही वहाँ के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ पढ़ा है और उसपर मनन किया है, उससे मुझे निश्चय है कि यह सारी अग्नि भीतर ही भीतर सुलग कर वहाँ के जीवन को भस्म कर रही है।

रुक्मिणी—मैं तो नहीं मानती।

मनोरमा—क्योंकि तुमने भीतरी रूप ही नहीं देखा। माया का रूप ऊपर से बड़ा सुन्दर दिखायी देता है, परन्तु हम यदि उसका भीतरी स्वरूप देखें तो हमें मालूम होगा कि वह कितना भीषण है। संसार में नेत्रों से देखना ही सब कुछ नहीं होता, भाभी, चर्म-चक्षुओं से देखने की अपेक्षा समस्याओं के अध्ययन और मनन को कहीं अधिक महत्व है।

रुक्मिणी—(कुछ चिढ़कर) तो तुम समझती हो इस देश के रहनेवाले विलायत वालों से अधिक सुखी हैं?

मनोरमा—यह मेरा अभिप्राय नहीं है। मैं तो यह कहती हूँ कि भारत को विलायत बनाने का प्रयत्न इस देश के निवासियों को अधिक सुखी नहीं बना सकता।

रुक्मिणी—तो इस देश में ही कूप-मण्डूक के सदृश बैठे रहना और कहीं न जाना ही ठीक है?

मनोरमा—तुम तो बात को दूसरी ओर ले जा रही हो। विवाद के समय बात सदा अपनी सीमा के भीतर ही रहनी चाहिए। मेरे मतानुसार भी कूप-मण्डूक बने रहना बुरी बात है। मनुष्य को देश-देशान्तर का पर्यटन अवश्य करना चाहिए।

रुक्मिणी—फिर?

मनोरमा—पर, देशाटन करके हर वस्तु के भीतर घुसकर उसे देखना चाहिए। हर वस्तु को ऊपर से देख उसीका अनुकरण करने लगना, और उसीके सदृश सारे समाज को बनाने का प्रयत्न करना, तो बड़ी भयानक बात है।

रुक्मिणी—तो तुम समझती हो पश्चिम की सारी बातें बुरी हैं?

मनोरमा—कौन कहता है? अनेक बातें बहुत अच्छी हैं और अनुकरण करने योग्य हैं। किसी भी समाज की हर बात बुरी नहीं होती।

रुक्मिणी—फिर कौन अनुकरण करने योग्य है और कौन नहीं, इसका निर्णय क्यों कर किया जाय?

मनोरमा—(मुस्कराकर) यही निर्णय करना तो सबसे कठिन बात है। एक दृष्टान्त देती हूँ।

रुक्मिणी—कैसा?

मनोरमा—आजकल के पढ़े-लिखे पश्चिमी विचारों के भारतीय समझते हैं कि जनता की आवश्यकताएँ बढ़ाना सभ्यता की नींव और सभ्यता की ओर बढ़ने की पहली सीढ़ी है।

रुक्मिणी—अवश्य।

मनोरमा—मैं समझती हूँ नींव ही ठीक नहीं है, फिर उसपर बना हुआ भवन कैसे ठीक हो सकता है। मेरे मतानुसार तो इस प्रयत्न से यहाँ के समाज में घोर संकट फैलेगा।

रुक्मिणी—(घृणा से हँसकर) तो तुम समझती हो कि यहाँ के लोगों को सदा पशुओं के समान रहना चाहिए?

मनोरमा—किसे पशुओं के समान रहना कहना चाहिए और किसे देवताओं के समान, यही तो प्रश्न है। आधिभौतिक सुखों की निरन्तर बढ़ती हुई अभिलाषाएँ और आध्यात्मिक सुखों का निरन्तर ह्रास, क्या यही देवताओं के सदृश रहना है?

रुक्मिणी—और तुम समझती हो, स्त्रियों की रहन-सहन में भी परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं? पुरुष-समाज का स्त्री-समाज पर इस प्रकार का अत्याचार, उन्हें परदे में सड़ाना, उन्हें बाल-विधवाएँ बनाए रखना, ये सब उचित हैं?

मनोरमा—फिर तुम बात दूसरी ओर ले चलीं। ये सब बातें मैं स्वयं भी अच्छी नहीं मानती। मैं मानती हूँ कि स्त्री और पुरुष दोनों ही वर्गों में कई विकट समस्याएँ हल करने को हैं। मेरा कहना तो केवल यह है कि पश्चिम का अन्ध अनुकरण इन समस्याओं को हल नहीं करेगा। किसी रोग की औषधि उससे भी भयंकर दूसरे रोग का निमंत्रण नहीं है। मैं मानती हूँ, परदा बहुत बुरी वस्तु है; मैं स्वीकार करती हूँ, बाल-विवाह बहुत बुरी प्रथा है; विधवा-विवाह की आवश्यकता को मैं समझती हूँ, परन्तु इसीके साथ जिस प्रकार की स्वतंत्रता आजकल पश्चिमी ढँग से पढ़ी-लिखी कुछ भारतीय रमणियाँ ले रहीं हैं, वैसी स्वतंत्रता तो मैं भारतीय स्त्री-समाज के लिए हितकर नहीं समझती।

रुक्मिणी—तुम कौन कम स्वतंत्रता लेती हो, बीबी। सार्वजनिक सभा में जाती हो; प्रकाशचंद्र के सत्य-समाज की सदस्या हुई हो, ऐसे समाज की, जो तुम्हारे घर के लोगों की ही जड़ खोद रहा है। यह सब स्वतंत्रता नहीं है तो और क्या है?

मनोरमा—आजकल के पश्चिमी विचारों वाली रमणियाँ जैसी स्वतंत्रता लेती हैं उसका, और इस स्वतंत्रता का, क्या मिलान हो सकता है?

रुक्मिणी—क्यों?

मनोरमा—क्योंकि जो स्वतंत्रता अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर के विषय भोगों के लिए ही ली जाती है, उसमें, और समाज के उपकार

के लिए ली गयी स्वतंत्रता में, बहुत बड़ा अन्तर है। रहा सत्य-समाज की सदस्या होना, सो इस संस्था ने किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं किया। यदि भाई साहब के और तुम्हारे विरुद्ध कुछ कहा तो क्या तुम कह सकती हो कि वह झूठ था?"

रुक्मिणी—बिल्कुल झूठ।

मनोरमा—पर, मैं तो सत्य मानती हूँ; और जब मैं सत्य मानती हूँ तब उसका समर्थन मेरा कर्तव्य हो जाता है। सत्य बात चाहे घर के लोगों के विरुद्ध कही जाय, चाहे संसार में किसीके भी विरुद्ध, उसका समर्थन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए और यह सदा से भारतीय आदर्श रहा है। इसे मीरा, प्रह्लाद, ध्रुव, बुद्ध, शंकराचार्य आदि के चरित्रों में तुम देखना चाहो तो देख सकती हो।

रुक्मिणी—(**बहुत चिढ़कर**) अच्छा, तो आप अब मीरा, प्रह्लाद, ध्रुव, बुद्ध और शंकराचार्य बनेंगी?

मनोरमा—मुझमें वह सामर्थ्य कहाँ, पर हाँ, मनुष्य को अपने सम्मुख आदर्श सदा उच्च ही रखना चाहिए।

रुक्मिणी—जाने दो; तुम्हारे सिद्धान्त तुम अपने पास रखो, मेरे सिद्धान्त मेरे पास रहने दो। तुम कुछ मेरी मास्टरनी नहीं हो। कॉलेज में पढ़नेवाली आजकल की छोकरियों से कौन जीत सकता है? मुझे दूसरा काम है।

[रुक्मिणी का जल्दी से प्रस्थान। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—दामोदरदास गुप्ता के कमरे की दालान

समय—प्रातःकाल

[दालान वैसी ही है जैसी रानी कल्याणी और मनोरमा के कमरों की थीं, परन्तु इसका रंग उन दोनों से भिन्न है। दामोदरदास का सबेरे के अँगरेजी कपड़ों (मॉर्निंग-सूट) में छड़ी लिए हुए प्रवेश।]

दामोदरदास—**(ज़ोर से)** चपरासी! चपरासी!

[चपरासी का प्रवेश, वह सलाम करता है।]

दामोदरदास—**(सलाम का उत्तर देकर)** लाला साहब को सलाम दो; कहना, गुप्ता साहब को बहुत आवश्यक कार्य से बाहर जाना है और आपसे तत्काल दस मिनिट को मिलना चाहते हैं।

[चपरासी का सलाम कर प्रस्थान। दामोदरदास इधर-उधर टहलता है। कुछ देर में भगवानदास का प्रवेश। भगवानदास एक मैली धोती पहने हैं, उसीको आधी ओढ़े हैं। मोटा-सा मैला जनेऊ कान पर चढ़ाए है। हाथ में टीन का बर्तन है।]

दामोदरदास—**(भगवानदास को सिर से पैर तक देख, भौंहें चढ़ा, क्रोध से)** ओह, फ़ाँदर, यह आप किस प्रकार आये हैं? आपको सोचना चाहिए कि आप नाइट हो गये हैं। इस प्रकार घूमने-फिरने से तो मेरी बड़ी बेइज़्ज़ती होती है। हाथ में टीन का कनस्टर और इतनी मैली धोती! इस धोती से तो यहाँ तक बू आती है। **(नाक में रूमाल लगाता है।)**

भगवानदास—(डरते हुए) मैं तो पैथाने से आया हूँ, हाथ तत नहीं धोए। सिपाई पहुँता और तहा ति तुम दल्दी बुलाते हो, तुम तो वाहर दाना है, दौरा-दौरा यहाँ आ दया।

दामोदरदास—यह तो ठीक है, पर इस मैली धोती को पहन कर पैखाने जाने की भी क्या आवश्यकता है और इस टीन के कनस्टर को यहाँ क्यों लाये हैं? (बर्तन लेने बढ़ता है।)

भगवानदास—(पीछे हटते हुए) अरे मँदा नहीं है, मँदा नहीं है।

दामोदरदास—(टीन के बर्तन को छीनकर फेंकते हुए) धूल में गया मँजना। फ़ॉदर, इस प्रकार तो मेरा इस घर में निर्वाह नहीं हो सकता। आपने अब तक अपनी पुरानी आदतों को नहीं छोड़ा; माँ की भी यही दशा। उसने तो अड़ोस-पड़ोस में मेरी इतनी बदनामी कर रखी है कि जिसका ठिकाना नहीं।

भगवानदास—(डर से काँपते हुए) भैया, मुधे तो दिस तरे तू तहे मैं रहने लदूँ और उस लछमी तो तो तुही तह।

दामोदरदास—(कुछ ठहरकर, इधर-उधर घूमते हुए) जाने दीजिए, यह तो नित्य का झगड़ा है। मैंने इस समय आपको सचमुच एक अत्यन्त आवश्यक कार्य के लिए बुलाया है।

भगवानदास—(शान्त होते हुए) तह।

दामोदरदास—आपने नहीं सुना, रानी कल्याणी ने रुक्मिणी का बहुत अपमान किया है।

भगवानदास—(आश्चर्य से) अपमान!

[लक्ष्मी का प्रवेश।]

लक्ष्मी—रानी कलियानी का दोष लगावत है। झूठ, स्वारौ आना झूठ। रानी अइसि नहिन जो कोहू क्यार अपिमानु कइ डारै। रुकिमिनि रानी क्यार अपिमानु यही कीन होइसि।

दामोदरदास—(**क्रोध से**) तुम्हें यहाँ किसने बुलाया? तुम यहाँ बिना बुलाये क्यों आयीं? जाओ यहाँ से। (**लक्ष्मी को न जाते देखकर**) मैं आज्ञा देता हूँ, जाओ, नहीं तो मैं सच कहता हूँ, मैं......मैं....।

लक्ष्मी—यही खातिन तोहिका नौ महिना पेटे मा राखा रहै औरु पालि कै यतना बड़ा कीन। मसलै वाली, पालु-पालु तोहि का होइ हौं कालु। बुढ़ापा मा यहै तौ सुनै का बदा रहै।

भगवानदास—(**चकपका कर**) पर, तुम तली दाओ न यहाँ से, तुमारा ताम त्या है?

दामोदरदास—(**जल्दी-जल्दी टहलते हुए**) फ़ॉदर, इस समय मैं सचमुच बड़े क्रोध में हूँ। एक काम हो तो उसे करूँ। रुपया कमाना, अफ़सरों को प्रसन्न करना, सार्वजनिक जीवन को व्यवस्थित रखना फिर तुम लोगों की ऐसी रहन-सहन और ऊपर से अकीर्ति। यदि कुछ कहूँ तो माँ की इस प्रकार की लाल-पीली आँखें सहूँ। मैं तुमसे सच कहता हूँ, तुम इसे मेरे सामने से तत्काल हटा दो, नहीं तो आज न जानें क्या हो जायगा।

भगवानदास—(**गिड़गिड़ा कर लक्ष्मी से**) तली दाओ भाई, तली दाओ, त्यों मेरे बुधापे में धूल दलवाती हो?

[लक्ष्मी क्रोध और शोक से पति-पुत्र की ओर देख रो देती है। मनोरमा का प्रवेश।]

मनोरमा—(**आश्चर्य से**) यह सब क्या है, भाई साहब?

दामोदरदास—(**अत्यन्त क्रोध से**) आप भी यहाँ पधार आयीं। मैं आपको हर बात का एक्सप्लेनेशन दूँ, इसके लिए न तो मैं बाध्य हूँ और न इसकी कोई आवश्यकता ही है।

मनोरमा—(**लक्ष्मी से**) क्या हुआ, माँ?

लक्ष्मी—(**रोते-रोते**) कुछौ नाहीं बिटिया, तुम्हार भाई अब मोहिका मारे पर उतारू भा है।

मनोरमा—(**और भी आश्चर्य से**) यह क्या सुन रही हूँ, भाई साहब?

दामोदरदास—(**छड़ी को जमीन पर ठोकते और क्रोध से ओंठ चबाते हुए**) कोई भी जो मेरे मार्ग में रोड़ा बनकर आयगा, उसे जिस प्रकार भी हटाया जा सकेगा, मैं हटाऊँगा।

मनोरमा—(**घृणा से**) धन्य है आपके सिद्धान्तों को। (**लक्ष्मी से**) चलो, माँ, हम लोग यहाँ से चलें। तुम यहाँ आयीं ही काहे को?

लक्ष्मी—चलती हौं, बिटिया, चलती हौं। यहिका यतना लिखावा-पढ़ावा तौनु तो इत्तना क्यार निकरा औरु अब तोहूँ पढ़ति हइ, राम जानै कैस का होय। (**दामोदरदास से**) जात हौं बेटवा, जात हौं, अब कबहूँ तोरे आगे न अइहौं। खूब पढ्यो बेटवा खूब, खूब रुपइया कमायो और खूब इज्जत बढ़ायेव बेटवा। धरमु खोयो, करमु खोयो औरु बादि मा महतारी का मारै का तयार भयो। इस्सुर ऐसेन क्यार कबहूँ भला नहीं करत, बेटवा, मुंदा मैं तो त्वार भलै चहति हौं। तुइ अपने मुँह से चहै जौनु कहु।

[**लक्ष्मी और मनोरमा का प्रस्थान। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।**]

दामोदरदास—(**लम्बी साँस लेकर**) फ़ॉदर, यह सब क्या है?

मेरे इस धनोपार्जन, इस वैभव, इस ऐश्वर्य, इस मान-वृद्धि का मुझे घर में यही पुरस्कार है ? अब मैं इस घर में एक क्षण न रहूँगा। आप लोग नीचों के समान रहें, मैं सभ्यता लाने का प्रयत्न करूँ, उसपर माँ मुझे इस प्रकार गालियाँ दे। यह मनोरमा इस प्रकार धिक्कारे। ऐसे घर में रहना और ऐसे माँ-बाप, बहन का मुख देखना भी ......क्या कहूँ। **(बाहर जाना चाहता है।)**

भगवानदास—**(आगे बढ़कर दामोदरदास के पैर पकड़ते हुए)** भैया, मेरी तरफ़ देथ, मेरी उमर ती तरफ़ देथ। मेरे सपेत बालों ती तरफ़ देथ। समद ले, तेरी माँ पादल हो दई है। दुनिया में लोद पादल भी तो हो दाते हैं। **(रोता है।)**

दामोदरदास—**(लम्बी साँस लेकर)** अच्छी-भली को कैसे पागल समझ लूँ ? **(कुछ ठहरकर हाथ की घड़ी की ओर देख जल्दी से)** ओह ! इतनी देर हो गयी और काम थोड़ा भी न हुआ। मेरा एक आवश्यक एन्गेजमेंट रहा जाता है।

भगवानदास—**(कुछ शान्त होकर)** हाँ, तो तुम तहो न, उस अपमान के लिए त्या तरना ? अदयसिंह अपना दबेल है। अपन उससे सब तुथ तरा सतते हैं।

दामोदरदास—छोटीसी बात है और कुछ नहीं। रुक्मिणी तो बड़ी-बड़ी बातें चाहती थी, पर इस समय उस छोकरे प्रकाश के कारण अजयसिंह से अपना भी कुछ काम है, अतः मैंने उसे इस पर राज़ी कर लिया है कि अजयसिंह उसके नाम एक क्षमा-पत्र भेज दे।

भगवानदास—अत्था।

दामोदरदास—उसमें यह लिखा हो कि मेरी रानी ने तुमसे

अपमानपूर्वक जो बातें की हैं उसके लिए मैं हाथ जोड़कर क्षमा माँगता हूँ।

भगवानदास—अत्थी बात है।

दामोदरदास—'हाथ जोड़कर' यह वाक्य रुक्मिणी अवश्य चाहती है। वह कहती है कि राजपूत लोग किसीको हाथ जोड़ने में अपना सबसे बड़ा अपमान समझते हैं।

भगवानदास—**(बेपरवाही से)** अभी यह तित्थी ले आऊँदा।

दामोदरदास—और उसने न दी तो?

भगवानदास—नहीं तैसे न देंयदे, देना ही परेदा।

दामोदरदास—समझ लीजिए न दी तो?

भगवानदास—फिर सोतेंदे, त्या तरना।

दामोदरदास—सोचना क्या है ? ऐसी दशा में कल ही आपको उसपर नालिश करनी पड़ेगी।

भगवानदास—पर, वह दरूर दे देयदा।

दामोदरदास—**(क्रोध से)** और न दिया तो आपको नालिश करना स्वीकार नहीं है? मैं आपके लिए काम कर-कर के मरा जाऊँ, और आप अजयसिंह पर नालिश करने को तैयार न हों, चाहे रुक्मिणी का और मेरा सदा को झगड़ा हो जाय और मेरा जीवन नरक बन जाय।

भगवानदास—**(डरते-डरते)** मैंने नालिस तरने तो नाहीं तहाँ ती, मैं तो यह तहता हूँ ति वह तित्थी दे देदा।

दामोदरदास—**(दृढ़ता से)** और न दी तो कल आपको उसपर नालिश करना ही होगा; नहीं तो मैं घर छोड़कर चल दूँगा।

भगवानदास—दैसा तुम तहोदे तरूँदा।

दामोदरदास—तो स्नान और पूजन के पहले ही जाइए। आकर नहाइएगा, जिसमें अजयसिंह कहीं बाहर न चला जाय।

भगवानदास—पूदा तरते दाऊँ, तो दरा निसतिंतता रहेदी।

दामोदरदास—(**जल्दी से घुड़ककर**) नहीं, नहीं, पहले वहाँ जाइए। पूजन क्या? व्यर्थ की वस्तु है; निरर्थक समय जाता है। ईश्वर ऐसा मूर्ख है कि उसका पूजन करने और नाम लेने से वह प्रसन्न हो जाय? फिर ईश्वर है ही कहाँ? मुझे तो कभी कहीं नहीं दिखा; पर आपका विश्वास ठहरा, अतः मैं कुछ नहीं कहता। रुक्मिणी को प्रसन्न करना ईश्वर को प्रसन्न करने से कहीं अधिक आवश्यक है। यदि अधिक विलम्ब भी लग जाय तो कोई हानि नहीं, आज की और कल की, दोनों पूजा, इकट्ठी कर डालिएगा।

भगवानदास—अत्थी बात है, अभी दाता हूँ।

दामोदरदास—तत्काल। (**जाने को उद्यत होता है, पर रुककर**) और देखिए, ठीक कपड़े पहन कर जाइएगा और मोटर में। पैदल ही न चल दीजिएगा। आपकी पुरानी आदतें अभी भी नहीं गयी हैं। मैं भी बाहर जा रहा हूँ।

[आगे-आगे दामोदरदास और उसके पीछे भगवानदास का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—राजा अजयसिंह का बैठकखाना

समय—प्रातःकाल

[कमरे के तीन ओर दीवालें हैं। तीनों में अनेक दरवाज़े और खिड़कियाँ हैं। कई दरवाज़े और खिड़कियाँ बन्द हैं और कई खुले। खुले हुए दरवाज़े और खिड़कियों से प्रातःकाल के प्रकाश से प्रकाशित आकाश और पहाड़ियाँ दिख रही हैं जिससे जान पड़ता है कि कमरा दुमंजले पर है। दीवालें, छत, दरवाज़े और खिड़कियाँ बैंगनी तैल रंग से रँगे हैं, जिसपर अनेक रंग की बेलें हैं। दरवाज़े और खिड़कियों में काँच हैं और बैंगनी ज़री के महराबदार परदे पड़े हुए हैं। दीवालों पर बड़े-बड़े चित्र और आइने लगे हैं। छत से बैंगनी रंग के झाड़-फ़नूस झूल रहे हैं। नीचे बैंगनी रंग की ज़मीन का बेल-बूटेदार फ़ारस देश का रेशमी कालीन बिछा हुआ है, जिसपर बैंगनी रंग के फूलदार रेशम से मँढ़े हुए अनेक सोफ़े और कुर्सियाँ सजी हैं। एक ओर टेबिल पर लिखने-पढ़ने का सामान है। कुछ अलमारियों में पुस्तकें रखी हैं। एक सोफ़ा पर चित्र रखने की पुस्तक (एलबम) खोले हुए, सफ़ेद ढीला कुरता और पायजामा पहने, नंगे सिर अजयसिंह बैठा हुआ है। कल्याणी अपने मामूली वस्त्र, आभूषण पहने उसी सोफ़ा पर बैठी हुई झुककर उस किताब की ओर देख रही है।]

अजयसिंह—बस, यदि तुम इस चित्र में साफ़े के स्थान पर गाँधी टोपी, अचकन के स्थान पर खादी का कुरता, चूड़ीदार पायजामे के स्थान पर खादी की धोती और अँगरेज़ी जूते के स्थान पर गुजराती स्लीपर कर दो तो यह प्रकाशचन्द्र का चित्र बन जायगा। आज से लगभग चालीस

वर्ष पूर्व का यह मेरा चित्र है। मेरी अवस्था भी उस समय बीस-बाइस वर्ष की रही होगी।

कल्याणी—इतना सादृश्य है?

अजयसिंह—कुछ पूछो मत। ऐसा ही कपाल, ऐसी ही भौंहें, ऐसी ही आँखें, ऐसी ही नाक, ऐसे ही ओंठ, ऐसी ही रेख, ऐसी ही ठुड्डी, ऐसा ही भरा हुआ मुख और शरीर। कैसी अद्भुत समानता है, मानों विधाता ने इस चित्र को सामने रखकर ही उसे रचा है। क्या कहूँ, कल्याणी।

कल्याणी—सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है, महाराज।

अजयसिंह—फिर, कल्याणी, उसपर न जाने क्यों मेरा स्नेह उमड़ा पड़ता है। तुमने उसे बुलाया था?

कल्याणी—हाँ, महाराज, बुलाया था। वह तो घर नहीं मिला, उसकी माँ मिली थी और उसने उत्तर भिजवा दिया कि प्रकाशचन्द्र वहाँ नहीं आयगा।

अजयसिंह—**(आश्चर्य से)** उसकी माँ है?

कल्याणी—हाँ, महाराज, उसके माँ है।

अजयसिंह—**(जल्दी से)** जो दासी बुलाने गयी थी उसने उसकी माँ को देखा है?

कल्याणी—हाँ, अच्छी प्रकार देखा है, पर आपके सन्देह में थोड़ी-सी भी सत्यता नहीं है। मैंने दासी से सब कुछ पूँछ लिया है। उसका नाम इन्दु नहीं, तारा है।

अजयसिंह—**(कुछ विचारते हुए)** परन्तु, क़दाचित् इन्दु ने ही अपना नाम परिवर्तित कर तारा रख लिया हो?

कल्याणी—पर, महाराज, वह तो बहुत वृद्ध है, सत्तर वर्ष से कम नहीं। इन्दु दीदी की अवस्था तो पचपन से अधिक न होगी।

अजयसिंह—**(नैराश्य से लंबी साँस लेकर)** तब सन्देह का सचमुच में कोई स्थान नहीं रह जाता। **(फिर कुछ सोचकर)** पर, उसकी माँ ने यह क्यों कहलवाया कि प्रकाशचन्द्र वहाँ नहीं आयगा?

कल्याणी—उस दिन के भोज का वृत्तान्त क्या प्रकाशचन्द्र ने उससे न कहा होगा?

अजयसिंह—**(सिर हिलाते हुए)** हाँ, हाँ, यही बात है। **(कुछ सोच-कर)** पर; फिर प्रकाश इस चित्र से इतना क्यों मिलता है?

कल्याणी—**(विचार करते हुए)** कभी-कभी यह भी होता है, महाराज; जिनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उनके मुख तक एक-से हो जाते हैं।

अजयसिंह—**(कुछ ठहरकर)** और मेरा हृदय क्यों उसकी ओर खिंचा जाता है?

कल्याणी—**(कुछ ठहरकर, सोचते हुए, दुःख से मुस्कराकर)** अपुत्रक होना इसका कारण हो सकता है।

अजयसिंह—**(लम्बी साँस ले सिर हिलाते हुए)**अवश्य यही बात है, कल्याणी। तो इस विचार को ही अब हृदय से निकाल देना चाहिए। **(चित्रों की पुस्तक बंद करके रख देता है।)**

कल्याणी—और अनेक चिन्ताएँ आपको हैं ही; उस सूची को क्यों बढ़ा रहे हैं?

अजयसिंह—कल्याणी, उसने यहाँ गड़बड़ी भी बहुत आरम्भ कर दी है, अपने इस्टेट में भी बड़ी गड़बड़ी मचायी है।

कल्याणी—इसे भी भूल जाइए, महाराज। मैं तो सदा आपसे एक ही निवेदन करती हूँ कि अब यह हमारा चौथापन है, चित्त को शान्त रख, ईश्वर भजन कर, जितने दिन भी संसार में रहना है सुख से रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

अजयसिंह—**(हाथ मलते हुए)** यह तो असम्भव बात है, कल्याणी। सुख और मुझे? स्वप्न में भी सम्भव नहीं है।

[रमा दासी का प्रवेश।]

रमा—**(अभिवादन कर)** महाराज, सन्तरी आया है और कहता है, सर भगवानदासजी श्रीमान से कुछ आवश्यक कार्य से मिलने आये हैं।

अजयसिंह—**(कल्याणी से)** तुम ज़रा भीतर जाओ, मैं उनसे मिल लेता हूँ।

कल्याणी—एक बात स्मरण आ गयी, वह कह दूँ, फिर उन्हें बुलाइए। **(रमा से)** तुम बाहर ठहरो।

[रमा का प्रस्थान।]

अजयसिंह—**(घबड़ाकर)** क्या कुछ भगवानदास के सम्बन्ध में है?

कल्याणी—आप घबड़ाये क्यों जाते हैं, साधारण-सी बात है, अभी बताती हूँ।

अजयसिंह—जल्दी बता दो, वे बाहर खड़े हैं।

कल्याणी—**(बेपरवाही से)** खड़े रहने दीजिए, क्या शेर हैं जो खा जायँगे? बात यह है कि कुछ दिन हुए रुक्मिणी आयी थी। बात ही

बात में वह तुनक कर चली गयी और यह कहती हुई गयी कि मैंने उसका अपमान किया है।

अजयसिंह—(**घबड़ाकर खड़े हो**) ओह! तब तो भगवानदास इसीलिए आये होंगे।

कल्याणी—(**चिढ़कर**) आप तो, महाराज, निरर्थक ही घबड़ाये जाते हैं। भगवानदास कर क्या लेंगे?

अजयसिंह—कल्याणी, तुम समझती नहीं। यदि वे लोग चाहें तो हमें पल भर में चौपट कर सकते हैं।

कल्याणी—आपका अभिप्राय सम्पत्ति से है न?

अजयसिंह—और सम्पत्ति बिना हम लोग क्या हैं?

कल्याणी—साधारण मनुष्य तो हैं।

अजयसिंह—आह! कल्याणी, वह बिल्कुल दूसरी बात है।

कल्याणी—परन्तु, महाराज, मैं तो इस प्रकार के श्रीमान के जीवन की अपेक्षा, जो दूसरों की मुट्ठी में रहता, दूसरों की हाथ की लकड़ी पर बन्दर के समान नाचता, और रात-दिन क्लेश पाता रहता है, एक भिखारी के जीवन को अच्छा समझती हूँ।

अजयसिंह—(**घबड़ाते हुए**) इस विषय पर तो किसी दूसरे दिन चर्चा करना उत्तम होगा; वे बाहर हैं। (**कुछ रुककर**) हाँ, यह तो तुमने बतलाया ही नहीं कि रुक्मिणी से झगड़ा किस बात पर हुआ?

कल्याणी—(**रूखी हँसी हँसकर**) झगड़ा हुआ हो तब न, विलायत और भारतवर्ष की बात हो रही थी। उसीने मेरा अपमान किया और उल्टा यह कह गयी कि मैंने उसका अपमान किया है।

अजयसिंह—(जल्दी से) अच्छा, तो उनसे मिल लूं। (ज़ोर से) रमा।

कल्याणी—(लम्बी साँस लेकर) महाराज, वृद्ध हो जाने और अपुत्रक होने पर भी सम्पत्ति से इतना मोह क्यों ? मोह ही अनेक दुःखों की जड़ है। अभी आपको अपने हृदय में बहुत सुधार करना है।

[रमा का प्रवेश। कल्याणी का प्रस्थान।]

अजयसिंह—सर भगवानदासजी को अच्छी तरह से भिजवा दो।

रमा—जो आज्ञा।

[रमा का प्रस्थान। अजयसिंह बेचैनी से टहलता है। सर भगवानदास का अपनी साधारण वेश-भूषा में प्रवेश।]

अजयसिंह—(आगे बढ़ भगवानदास से हाथ मिलाते हुए) आइए, लाला साहब, आइए; कहिए आनंद से हैं ? बहुत दिनों के पश्चात् कृपा की। क्षमा कीजिए, आपको कुछ देर ठहरना पड़ा। मैं पाखाने में था।

भगवानदास—कोई हरद नहीं, कोई हरद नहीं रादा साहब, यह तो मेरा धर है। तहिए आप तो अत्थे हैं ?

[दोनों सोफ़ा पर बैठ जाते हैं।]

अजयसिंह—कृपा है आपकी। कहिए, क्या आज्ञा है ?

भगवानदास—तुथ नहीं रादा साहब, एक थोरा-सा सबाल थरा हो दया है।

अजयसिंह—(घबड़ाते हुए) कहिए, कहिए, कैसा सवाल ?

भगवानदास—आप दानते हैं, तभी-तभी औरतों में यों ही तुछ बात-तीत हो दाती है।

अजयसिंह—**(और भी घबड़ाकर)** क्यों, क्या हुआ, लाला साहब ?

भगवानदास—आप नहीं दानते, रानी साहबा से मेरी बहू ता यों ही तुथ अपमान हो दया है।

अजयसिंह—**(अत्यन्त घबड़ाकर)** हाँ, हाँ, रानी मुझसे कहती तो थी, पर अपमान की त.....त.....त.....तो कोई बात न..... न.....नहीं कही। य.....य .....यही कहा था कुछ बातचीत हुई थी।

भगवानदास—**(मुस्कराते हुए)** धबड़ाने ती तोई बात नहीं है, रादा साहब, यह तो धर ती बात है।

अजयसिंह—**(लज्जित हो कुछ शान्त होकर)** नहीं, नहीं, घबड़ाने की क्या बात है, यदि दो बड़े घरों में झगड़ा हो भी जाय तो कोई नंगे-लुच्चों का घर थोड़े ही है, निपट ही जाता है।

भगवानदास—बिल्तुल थीत फर्माते हैं, रादा साहब, इसीलिए तो मैं हादिर हुआ हूँ।

अजयसिंह—**(और भी शान्त होकर)** आज्ञा दीजिए।

भगवानदास—आप दानते हैं, हम पुराने लोदों तो, तो मान-अपमान सब बराबर है। पर, आदतल ते लरते दरा दूसरी तरह ते हैं। दामोदर ती बहू ताहती है ति आप उसते नाम एक तित्थी लिथ देवें।

अजयसिंह—**(फिर घबड़ाकर)** कैसी चिट्ठी, लाला साहब ?

भगवानदास—(बेपरवाही से) मामूली सी, ति रानी साहबा से दो तुम्हारा अपमान हो दया, उसते लिए मैं माफी माँदता हूँ।

अजयसिंह—(और भी घबड़ाकर) झगड़ा किससे हुआ, लाला साहब, और माफ़ी कोई माँगे ?

भगवानदास—(गम्भीरता से) यह तो एत मामूली-सी बात है, रादा साहब, और आप दानते हैं ति दामोदर ता सुभाव तैसा है ?

अजयसिंह—(अत्यंत घबड़ाकर) आप कल तक का समय मुझे दीजिए ।

भगवानदास—(और भी गम्भीर होकर) तब तो बात और बदर दायदी, रादा साहब।

अजयसिंह—(बहुत अधिक घबड़ाकर खड़े होते हुए) कैसी, लाला साहब ?

भगवानदास—(धीरे से) आप दानते हैं, तरार पर आप ते यहाँ से रुपया नहीं तुताया दया। ब्याद तत नहीं आया। दामोदर तो तल ही नालिस तरने तो उतारू है, रादा साहब। मैं बरी मुसतिल से समदा तर आया हूँ।

अजयसिंह—(बहुत अधिक घबड़ाहट के मारे टहलते हुए) ओह ! इतनी-सी बात पर।

भगवानदास—आदतल ते लरतों ता त्या हाल प्रथते हैं, रादा साहब ।

अजयसिंह—(फिर बैठकर धीरे से) अच्छा, यदि मैं यह पत्र लिख दूँ तो कल्याणी तो नहीं जानेगी ?

भगवानदास—(मुस्काराते हुए) त्या तहते हैं, रादा साहब, ऐसा तहीं हो सतता है।

अजयसिंह—(लंबी साँस लेकर) अच्छी बात है, लिखे देता हूँ, रादा साहब।

[टेबिल पर जा, पत्र लिखता है और लाकर भगवानदास को देकर बैठता है।]

भगवानदास—(चश्मा लगाकर पत्र पढ़) इसमें एत बात और दोर दीजिए, रादा साहब।

अजयसिंह—(घबड़ाकर) क्या, लाला साहब ?

भगवानदास—हात दोर तर।

अजयसिंह—(कुछ उत्तेजित होकर) यह तो अब बहुत अधिक है, लाला साहब।

भगवानदास—(गम्भीर होकर सिर हिलाते हुए) तब तो यह तित्थी ताम ती नहीं है और नतीदा तो आप दानते ही हैं।

अजयसिंह—(दो बार टहलकर, लम्बी साँस ले) और आप कल तक का समय भी न देंगे ?

भगवानदास—वह तो बिल्तुल ही नहीं हो सतता।

अजयसिंह—अच्छा लाइए, जोड़ देता हूँ। (पत्र लेकर फिर टेबिल पर जाता है और लिखकर उसे भगवानदास को दे लम्बी साँस लेकर बैठता है।)

भगवानदास—(पढ़कर जेब में रखते हुए) बस धदरा मिता, रादा साहब।

अजयसिंह—(**गिड़गिड़ा कर**) परन्तु, रानी न जान पाय, यह ध्यान रखिएगा।

भगवानदास—हरदिद नहीं, हरदिद नहीं, राद्रा साहब। (**कुछ ठहरकर**) अत्था तो अब इदादत हो, मैंने नहाया तत नहीं।

[**दोनों उठते हैं। भगवानदास अजयसिंह से हाथ मिलाकर जाता है। अजयसिंह एक दीर्घ निश्वास छोड़ता है। परदा गिरता है।**]

छठवाँ दृश्य

स्थान—दामोदरदास गुप्ता के कमरे की दालान

समय—संध्या

[**दामोदरदास और थेरिजा का प्रवेश। दामोदरदास अँगरेजी लम्बा कोट (फ़ॉग-कोट) और धारीदार पतलून पहने है। थेरिजा अपनी साधारण वेश-भूषा में है।**]

थेरिजा—मुझे शक़ है, मिस्टर गुप्ता, कि आज मिसेज़ गुप्ता ने हम लोगों को देख लिया।

दामोदरदास—(**बेपरवाही से**) नहीं, नहीं, थेरिज़ा, तुम्हारा डाउट ठीक नहीं है। उन्हें ड्रेसिंग-रूम में घंटों लगते हैं।

[**चपरासी का प्रवेश। वह सलाम करता है।**]

चपरासी—हुज़ूर! धनपालजी, पंडित विश्वनाथजी और मौलाना शहीदबख़्श साहब आये हैं।

दामोदरदास—भीतर ले आओ।

[चपरासी का प्रस्थान।]

थेरिजा—ये लोग इस वक्त क्या कुछ काम से आये हैं?

दामोदरदास—हाँ, देखती नहीं, मैं भी आज फ़ॉग-कोट पहने हूँ। टाउनहाल में अभी छः बजे एक पब्लिक मीटिंग है।

थेरिजा—किस लिए?

दामोदरदास—इरीगेशन-स्कीम के सपोर्ट के लिए।

थेरिजा—तब तो मैं भी चलूँगी।

[धनपाल आदि का अपनी साधारण वेश-भूषा में प्रवेश। सब दामोदरदास और थेरिजा से हाथ मिलाते हैं।]

दामोदरदास—अच्छा, वर्माजी नहीं आये?

विश्वनाथ—मैं स्वयं उनके यहाँ गया था, बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उन्होंने कहा, आज बहुत अधिक काम है।

शहीदबख़्श—अरे, यह सब बहानाबाज़ी है। वह प्रकाश से बहुत डर गया है।

धनपाल—डरेगा नहीं? उसके पत्र का यह अंक चौथाई भी नहीं बिका। ज़ोरों से उसके बॉयकाट का आन्दोलन हो रहा है।

विश्वनाथ—अच्छा सुनिए साहब, अब टाउनहाल का वृत्तान्त। वहाँ बड़ी गड़बड़ी हुई है।

दामोदरदास—**(जल्दी से)** क्यों, क्या हुआ?

विश्वनाथ—प्रकाशचन्द्र की पार्टी वहाँ पहुँच गयी और टाउनहाल के भीतर बैठ भी गयी, उन्हींमें आपकी बहन भी है।

दामोदरदास—(**आश्चर्य से**) मनोरमा भी है! ओह! सबसे बड़ा अनर्थ तो यही है। अच्छा, और अपने आदमी नहीं पहुँचे?

विश्वनाथ—मिस्टर गुप्ता, प्रकाशचन्द्र की पार्टी बारह बजे से ही वहाँ पर थी। आप सोच सकते हैं, छः बजे संध्या की सभा के लिए कोई भी भला आदमी बारह बजे दिन को जायगा? मैंने अपने सारे आदमियों को दो घंटे पहले जाने को कहा था।

दामोदरदास—हॉल तो म्यूनिस्पैल्टी के चार्ज में है, इतनी जल्दी वहाँ के सन्तरी ने हॉल के दरवाज़े क्यों खोले?

विश्वनाथ—मैं सारा वृत्तान्त आपको बतलाता हूँ। सन्तरी का कोई दोष नहीं। हम लोगों के निर्णय के अनुसार उसने चार बजे ही दरवाज़े खोले थे, पर, वे तो सब दरवाज़ों पर बैठ गये थे। चार बजे दरवाज़े खुलते ही फुर-से सबके सब भीतर घुस पड़े।

दामोदरदास—और सन्तरी ने उन्हें रोका नहीं?

विश्वनाथ—कैसी बातें करते हैं, मिस्टर गुप्ता, एक आदमी सैकड़ों आदमियों को क्यों कर रोकता? फिर सार्वजनिक विज्ञापन था, किसी को कैसे रोका जा सकता था? जो पहले आया वही बैठ गया।

दामोदरदास—तो वहाँ अपने कोई आदमी नहीं हैं?

विश्वनाथ—हैं क्यों नहीं, अपने भी आदमी हैं।

दामोदरदास—पर, अधिक संख्या उनकी है, क्यों?

विश्वनाथ—यह कहना कठिन है।

दामोदरदास—(**पैर पटककर**) अनर्थ का कुछ ठिकाना है।

शहीदबख़्श—ओफ़ !

थेरिजा—बेशक़।

धनपाल—सचमुच।

दामोदरदास—(**चिढ़कर**) पर, बात तो यह है कि वे लोग डण्डा लेकर हर काम के पीछे पड़ते हैं और हम लोग सारा काम आराम के साथ करते हैं।

चपरासी—(**प्रवेश कर**) कार हाज़िर है, हुजूर।

दामोदरदास—कौनसी ? रोल्सरायल है न ?

चपरासी—जी हाँ, सरकार। (**चपरासी जाता है।**)

दामोदरदास—(**कुछ सोचते हुए**) ऐसी स्थिति में यदि सभा आगे बढ़ा दी जावे तो ?

विश्वनाथ—(**जल्दी से**) मैं तो इस प्रस्ताव से सर्वथा सहमत हूँ।

धनपाल—इससे तो उस इरीगेशन-स्कीम का रहा-सहा सम्मान भी धूल में मिल जायगा। लोग कहेंगे, अवश्य कुछ दाल में काला है। आप चिन्ता क्यों करते हैं ? सभापति तो आप मुझको बनायँगे न ?

दामोदरदास—अवश्य।

धनपाल—बस, मैं तीन वक्ताओं को बोलने की आज्ञा दूँगा। आप प्रस्ताव रखेंगे, पंडितजी अनुमोदन और मौलाना साहब समर्थन करेंगे। आप जानते ही हैं, पंडितजी और मौलाना साहब कैसे वक्ता हैं ?

दामोदरदास—आप लोगों के सुवक्ता होने में किसे सन्देह है ?

धनपाल—जनता पर तो प्रभाव पड़ने की बात होती है। जहाँ आप लोगों का प्रभाव पड़ा और उस ओर से कोई न बोलने पाया कि प्रस्ताव पास हो जायगा।

विश्वनाथ—अजी साहब, वे पहले से ही निर्णय करके आये होंगे। ऐसे लोगों पर भाषणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आप निराशा में आशा को देख रहे हैं।

शहीदबख़्श—अगर ऐसी हालत हुई तो उसका भी मैंने कुछ इन्तज़ाम कर लिया है। मीटिंग आगे बढ़ाना तो सचमुच अपने हाथ से अपनी नाक क़ाटना है।

धनपाल—और फिर आगे की सभा में वे लोग न पहुँच जायँगे यह कौन कह सकता है? इनका तो आन्दोलन दिनों-दिन बढ़ रहा है। (**जल्दी से**) चलिए, चलिए। पब्लिक लाइफ़ में संघर्ष यों ही चला करता है। (**घड़ी देखकर**) हम लोग ऑलरेडी लेट हो चुके हैं।

शहीदबख़्श—ज़्यादा तो नहीं, सिर्फ़ इतने ही, जिससे डिस्टिंक्शन मिल सके।

दामोदरदास—(**मुस्कराते हुए**) हाँ, सार्वजनिक सभाओं में इतना लेट तो जाना ही चाहिए।

[सबका प्रस्थान। परदा उठता है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान—टाउनहाल

समय—संध्या

[सफ़ेद कलई से पुता हुआ एक बड़ा हॉल है। तीन ओर दीवालें हैं जिनमें अनेक दरवाज़े हैं। दरवाज़े खुले हुए हैं जिनसे बाहर के उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है जो सन्ध्या के प्रकाश से प्रकाशित है। पीछे की दीवाल पर किंग जॉर्ज और क्वीन मेरी तथा कई अँगरेज़ों और हिन्दुस्थानियों की तस्वीरें लगी हुई हैं। किंग और क्वीन की तस्वीरों के ऊपर यूनियन जैक टँगा है। इसके नीचे एक घड़ी लगी है, जिसमें सवा-छै बजे हैं। छत से बिजली के पंखे और बत्तियाँ झूल रहे हैं। पंखे चल रहे हैं, बत्तियाँ जल रही हैं। सामने एक तख़्त है जिस पर दरी बिछी है। तख़्त के बीच में एक टेबिल है। टेबिल कपड़े से ढँकी है और उसपर लिखने-पढ़ने का सामान और एक घण्टी रखी है। टेबिल की तीन ओर बेत से बुनी हुई हाथदार पाँच कुर्सियाँ रखी हैं। तख़्त के नीचे हॉल की ज़मीन पर भी कुर्सियाँ हैं। इन कुर्सियों पर तरह-तरह के कपड़े पहने हिन्दू और मुसलमान बैठे हैं। खादी के कपड़े वाले अधिक दिखते हैं। इन्हींमें प्रकाशचन्द्र है। तख़्त के नीचे की बाँयीं ओर की कुर्सियों पर स्त्रियाँ बैठी हैं; इन्हींमें मनोरमा और सुशीला भी हैं। दाहनी ओर की कुर्सियों पर दो अँगरेज़ और एक मेम है। कुछ कुर्सियाँ खाली हैं, कुछ लोग अभी भी आते जा रहे हैं। धनपाल, दामोदरदास, विश्वनाथ, शहीदबख़्श और थेरिजा का प्रवेश। तख़्त के ऊपर की बीच की कुर्सी को छोड़कर शेष चार पर ये लोग बैठ जाते हैं। थेरिजा दाहने ओर की, तख़्त के नीचे की, कुर्सी पर अँगरेज़ों के साथ बैठ जाती है।]

दामोदरदास—(खड़े होकर) बहनो और भाइयो ! आप सब लोग इस बात को जानते हैं कि ह्यूमेनटेरियन लीग ने आज की यह सभा किस कार्य के लिए बुलायी है। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि आज की इस सभा के सभापति हमारे प्रान्त की जनता के प्रिय मिनिस्टर माननीय मिस्टर धनपाल बनाये जायँ। (बैठ जाता है। कुछ तालियाँ बजती हैं।)

एक अँगरेज़—(**खड़े होकर**) आइ सेकिंड दिस प्रपोज़ल। (**बैठ जाता है। कुछ तालियाँ।**)

धनपाल—(**बीच की कुर्सी पर बैठ और फिर खड़े होकर**) बहनो और भाइयो ! आज जनता के हित के जिस पवित्र कार्य के लिए आप लोगों को कष्ट दिया गया है, वह आप लोग विज्ञापन-द्वारा जान ही गये हैं। आज की सभा जिस संस्था की ओर से बुलायी गयी है, वह संस्था आपकी चिरपरिचित है। उस संस्था का जैसा ह्यूमेनटेरियन लीग नाम है, वैसा ही उसका ह्यूमेनिटी अर्थात् जनता के हित के कार्य भी हैं। फिर यह संस्था आपके नगरमात्र की न होकर आपके प्रान्त की है। इस प्रान्त में, यह संस्था बहुत प्राचीन और प्रतिष्ठित है। आज की सभा, इस संस्था ने इस प्रान्त की निर्धन और दीन जनता के हित के लिए एक विशाल नहर की योजना के, जो कि श्रीगुप्ताजी ने सरकार के विचार के लिए उपस्थित की है, समर्थन के लिए बुलायी है। मुझे तो आश्चर्य होता, यदि ह्यूमेनटेरियन लीग कहलाने वाली यह संस्था इस देश, प्रान्त और विशेष कर इस ज़िले की ह्यूमेनिटी-जनता के लाभ की, ऐसी पवित्र योजना के लिए इस प्रकार की सभा न बुलाती। (**कुछ तालियाँ**) चूँकि इस योजना का पूरा हाल श्रीयुत गुप्ताजी ही आपको समझा सकेंगे, अतः मैं उन्हींसे प्रार्थना करता हूँ कि वे आपके सामने इस सम्बन्ध में प्रस्ताव उपस्थित करें। (**बैठ जाता है। कुछ अधिक तालियाँ।**)

दामोदरदास—(**खड़े होकर**) सभापति महोदय, बहनो और भाइयो ! जो प्रस्ताव मुझे आपकी सेवा में उपस्थित करने की आज्ञा दी गयी है वह इस प्रकार है—(**जेब से एक काग़ज़ निकालकर पढ़ता है।**) यह सार्वजनिक सभा दामोदरदास गुप्ता-द्वारा सरकार के सम्मुख विचार के लिए उपस्थित की गयी नहर की योजना (इरीगेशन-स्कीम) को जनता के लिए अत्यन्त लाभदायक समझती है, और उसका हृदय से समर्थन करती

है। **(काग़ज को टेबिल पर रख, पेपर-वेट से दाबते हुए)** बन्धुओ! मेरी ही योजना और मैं ही प्रताव उपस्थित करूँ, यह सचमुच विचित्र-सी बात है, **(कुछ हँसी)** परन्तु यदि मेरी आत्मा कहती है कि यथार्थ में इससे जनता का भारी लाभ होनेवाला है तो मैं ऐसा करने में कोई हानि नहीं देखता। सज्जनो ! जैसा आपसे सभापति महोदय ने कहा है, आज इस संस्था ने जिस कार्य के लिए सभा बुलायी है, वह यथार्थ में जनता का एक अत्यन्त हितैषी कार्य है। **(कुछ तालियाँ)** आप जानते हैं कि भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है । यहाँ के निवासियों में एक प्रकार से सौ में से अस्सी और दूसरे प्रकार से सौ में से नब्बे मनुष्य कृषि पर अपना निर्वाह करते हैं। कृषि, कभी भी, बिना यथेष्ट पानी की सिंचाई की साधना के, जैसी चाहिए वैसी, सफल नहीं हो सकती। अन्य देशों में एकड़ पीछे जो उपज होती है उससे भारतवर्ष की एकड़ पीछे उपज बहुत कम है। यद्यपि उसके कई कारण हैं, परन्तु प्रधान कारण यहाँ सिंचाई की सुविधा न होना है। जहाँ-जहाँ यह सुविधा है, या होती जाती है, वहाँ-वहाँ खेती की उपज बहुत अधिक है और बढ़ती जाती है। सज्जनो ! मैं तो उस समय का स्वप्न देख रहा हूँ, जब इस योजना की नहर से मीलों दूर-दूर तक सिंचाई होगी, फ़ुट-फ़ुट और डेढ़-डेढ़ फ़ुट के गेहूँ के पौधे बढ़-बढ़कर छाती तक ऊँचे हो जायँगे। दो-दो और तीन-तीन इंच लंबी बालें छः-छः इंच लंबी होने लगेंगी। **(कुछ तालियाँ)** इतना ही नहीं, गन्ने के जंगल यहाँ दिखने लगेंगे और अनेक प्रकार की बहुमूल्य फसलें भी हम लोग उत्पन्न कर सकेंगे।

कुछ व्यक्ति—हिअर-हिअर ! हिअर-हिअर ! **(कुछ तालियाँ।)**

दामोदरदास—इस योजना के कारण, बन्धुओ ! बिचारे निर्धन किसान और मज़दूर, भूख से त्राहि-त्राहि और पाहि-पाहि करनेवाले किसान तथा मज़दूर, बिना यथेष्ट वस्त्रों के, जाड़ों में काँपनेवाले किसान और

मज़दूर, बिना अच्छे घरों के टूटे-फूटे और बरसात में सैकड़ों जगह से चूनेवाले घरों में रहनेवाले किसान और मज़दूर, मालामाल हो जायँगे। **(कुछ तालियाँ)** भाइयो ! सारे दुःखों की जड़ निर्धनता है और इस देश की निर्धनता दूर करने का सबसे बड़ा उपाय इस देश की कृषि की उन्नति करना है। मेरी योजना इसीके लिए है। **(कुछ तालियाँ)** फिर सज्जनो ! यह योजना सर्वथा नवीन भी नहीं है। इसका समर्थन ज़मींदारों और किसानों के हित के लिए ज़मींदार एसोसिएशन ने, ग्राम-निवासी जनता के हित के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने, ग्राम-निवासी स्त्रियों के हित के लिए लेडीज़-एसोसिएशन ने और सभी जनता के हितार्थ ह्यूमेनटेरियन लीग ने किया है। क़ानून की दृष्टि से भी इसमें सबों के हकों की रक्षा है, यह इससे प्रकट है कि बार-एसोसिएशन ने भी इसका समर्थन किया है और इसके कारण उपज बढ़ने पर व्यापार को लाभ पहुँचेगा, यह इससे सिद्ध है कि चेम्बर आफ़ कॉमर्स ने भी इसके पक्ष में अपना मत दिया है। **(कुछ तालियाँ)** बन्धुओ ! मुझे मालूम है कि स्वार्थियों ने अपने स्वार्थ-वश इस योजना के विरुद्ध तरह-तरह की बातें फैलाना आरम्भ किया है।

कुछ व्यक्ति—शेम ! शेम !

दामोदरदास—परन्तु, यह कोई नयी बात नहीं है। संसार में आरम्भ में हर नयी बात का, चाहे वह कितनी ही अच्छी और कल्याणकारी क्यों न हो, इसी प्रकार का विरोध हुआ है। मुझे विश्वास है कि आप मेरे प्रस्ताव को एक मत से पास करेंगे। **(कुछ अधिक तालियाँ, बैठता है।)**

धनपाल—**(खड़े होकर)** इस प्रस्ताव का अनुमोदन हमारे वयोवृद्ध नेता आपकी म्यूनिस्पैल्टी के प्रेसीडेण्ट, हिन्दू-हितैषी श्रीमान पंडित विश्वनाथजी करेंगे। **(बैठ जाता है।)**

विश्वनाथ—**(खड़े होकर)** सभापति महाशय और बन्धुओ ! इस

प्रस्ताव का मैं हृदय से अनुमोदन करता हूँ। (**कुछ तालियाँ**) विश्वास रखिए कि यदि इस योजना से जनता के सच्चे लाभ का, ग्रामीण बन्धुओं के—ग़रीब ग्रामीण बन्धुओं के सच्चे लाभ का, मुझे विश्वास न होता तो मैं कभी आपके सामने खड़े होकर इस प्रस्ताव का अनुमोदन न करता। (**कुछ तालियाँ**) बन्धुओ! इस सभा में बहुत कम, वरन् मैं यहाँ तक कह दूँ तो अत्युक्ति न होगी, कि एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसे ग्राम-निवासियों का उतना अनुभव हो जितना मुझे है। मैंने जाड़े की कँपकँपानेवाली ठंड, वर्षा की मूसलाधार वृष्टि और गरमी की झुलसानेवाली धूप एवं लू में घूम-घूमकर ग्राम-निवासियों को देखा है, उनकी सेवा की है। एक बार नहीं, भाइयो! अनेक बार। (**कुछ तालियाँ**) प्लेग और हैज़े-सदृश महामारियों में मैंने भटक-भटक कर उनको दवाएँ बाँटी हैं। (**कुछ तालियाँ**) मैं जानता हूँ कि जिस रत्नगर्भा वसुन्धरा पर जन्म लेने के लिए कभी देवता भी तरसते थे, उसी भारत भू पर निवास करनेवाले यहाँ के अस्सी प्रतिशत अथवा नब्बे प्रतिशत लोगों की क्या दशा है। उनके पास न पूरा भोजन है और न वस्त्र; फिर दूसरे सांसारिक सुखों की तो बात करना ही विडम्बना है। इन लोगों की इस स्थिति के लिए हम सरकार को नित्य गालियाँ दिया करते हैं। मैं भी मानता हूँ कि सरकार का इसमें बड़ा भारी दोष है, परन्तु बन्धुओ! इनके उपकार के लिए, सरकार को गालियाँ देने के अतिरिक्त, हमने भी कौनसा विधायक कार्य किया है?

कुछ लोग—हिअर-हिअर! हिअर-हिअर!

विश्वनाथ—मैं श्रीमान गुप्ताजी को सरकार के सम्मुख ऐसी सुन्दर योजना उपस्थित करने के लिए बधाई देता हूँ। (**कुछ तालियाँ**) मुझे विश्वास है कि उन हिन्दुओं का, जो ग्रामों में बहुत अधिक संख्या में रहते हैं, इस योजना से भारी लाभ होगा। (**कुछ तालियाँ**) अतः मैं इस

प्रस्ताव का हृदय से अनुमोदन करता हूँ। (बैठता है। कुछ अधिक तालियाँ।)

धनपाल—(खड़े होकर) अब इस प्रस्ताव का समर्थन हमारे यहाँ के मुस्लिम-नेता मौलाना शहीदबख़्श साहब करेंगे। (बैठता है।)

शहीदबख़्श—(खड़े होकर) जनाबे सदर! हज़रात! ऐसी-ऐसी जोशीली तक़रीरों के बाद मेरे मुआफ़िक लट्ठ आदमी की तक़रीर आपको क्योंकर पसन्द आ सकती है? (कुछ हँसी) हज़रात! मैं पण्डितजी के इस कहने से मुत्तफ़िक नहीं हूँ कि देहात में हिन्दू ही ज़्यादातर रहते हैं। मैं पण्डितजी के मुआफ़िक़ बुज़ुर्ग नहीं हूँ, इसलिए मुझे उतना तजुर्बा भी नहीं है, फिर भी मुझे जितना तजुर्बा है; उसकी बिना पर मैं आपसे कह सकता हूँ कि मुसलमान भी देहात में ही ज़्यादा रहते हैं। यह दूसरी बात है कि हिन्दू इस मुल्क में ज़्यादा और मुसलमान कम हैं। बिरादरान! हिन्दू फिर भी दौलतमंद हैं, पर मुसलमानों के पास उतनी भी दौलत नहीं; वे तो बहुत ही ग़रीब हैं। मुझे मालूम है कि देहातों में वे किस तरह कुत्ते और बिल्लियों की मौत मरते हैं। मैं तो कहूँगा कि ऐसे मौक़े पर, जब एक हिन्दू दौलतमंद ने सरकार के सामने एक ऐसा स्कीम पेश किया है, जिससे मुसलमानों की भी उतनी बेहतरी होगी जितनी हिन्दुओं की, तब किसी भी मुसलमान का उसके ख़िलाफ़ अपनी राय देना, खुद अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारनी है, खुदकुशी करनी है, और देहात में रहनेवाले अपने ग़रीब भाइयों का गला घोंटना है।

कुछ व्यक्ति—हिअर-हिअर! हिअर-हिअर!

शहीदबख़्श—अब रही यह बात कि कुछ लोग इस स्कीम के ख़िलाफ़ हैं, इसके लिए मैं पूछना चाहता हूँ कि दुनिया में आज तक कोई ऐसी बात हुई है जिसके कुछ लोग ख़िलाफ़ न रहे हों?

कुछ व्यक्ति—नहीं-नहीं, नहीं-नहीं।

शहीदबख़्श—हज़रत मुहम्मद साहब तक के—

कुछ मुसलमान—वसललल्लाहो तआला वालय वसल्लम्।

शहीदबख़्श—(ज़ोर से) हज़रत मुहम्मद साहब तक के कुछ लोग ख़िलाफ़ थे। हरेक जमात और हरेक फ़िरक़े में कुछ लोग ऐसे होते ही हैं जो ख़ुद अपनी नाक काटकर दूसरों का नुकसान करते हैं।

कुछ व्यक्ति—शेम-शेम! शेम-शेम!

शहीदबख़्श—बिरादरान! मैं इस रिज़ोल्यूशन की तहेदिल से ताईद करता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि हरएक मुसलमान इसके हक़ में अपनी राय देगा।

धनपाल—(प्रस्ताव का काग़ज़ हाथ में लेकर) भाइयो! प्रस्ताव आपके सामने उपस्थित कर दिया गया, उसका अनुमोदन और समर्थन भी हो गया, अब मैं इसपर आपके मत लेना चाहता हूँ। जो लोग इस प्रस्ताव के पक्ष........।

प्रकाशचन्द्र—(खड़े होकर) सभापति महाशय, बहनो और भाइयो!

धनपाल—(जल्दी से) क्या आप भाषण दे रहे हैं?

प्रकाशचन्द्र—जी हाँ।

धनपाल—आप बिना सभापति की आज्ञा के नहीं बोल सकते

कुछ लोग—बिल्कुल नहीं, बिल्कुल नहीं।

प्रकाशचन्द्र—बहुत अच्छी बात है, तो मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। मुझे इस प्रस्ताव का विरोध करना है।

धनपाल—आप अपना मत इसके विरोध में दे सकते हैं। मैं अब इस पर और किसीको बोलने की आज्ञा न दूँगा।

प्रकाशचन्द्र—हम सबों ने बहुत शान्ति से प्रस्ताव के पक्ष के भाषण सुने; अब इसके विरोध के भाषण न होने देना सरासर अन्याय है।

ज़ोर की आवाज़ें—अवश्य अन्याय है, अवश्य अन्याय है।

धनपाल—(ज़ोर से) मैं आपसे कहता हूँ, बैठ जाइए; मैं बोलने की आज्ञा नहीं दूँगा।

प्रकाशचन्द्र—मैं सभापति की ऐसी आन्यायपूर्ण आज्ञा मानने को तैयार नहीं हूँ। मैं कदापि नहीं बैठूँगा।

ज़ोर की आवाज़ें—बोलिए आप, अवश्य बोलिए।

और ज़ोर की आवाज़ें—बिल्कुल मत बैठिए, बिल्कुल मत बैठिए।

धनपाल—(और ज़ोर से) यह कभी नहीं हो सकता।

एक युवक—(**खड़े होकर, यह वही युवक है जिसने कन्हैयालाल के विरुद्ध प्रस्ताव रखा था।**) मैं प्रस्ताव करता हूँ कि इस सभापति पर इस सभा का विश्वास नहीं है, अतः दूसरा सभापति चुना जाय। मैं अपने सभापति पर अविश्वास के प्रस्ताव के विरोध में जिसे बोलना हो, बोलने की आज्ञा देता हूँ।

[बड़ा हल्ला होता है। कुछ मुसलमान युवक प्रकाशचन्द्र के दल के लोगों को घूँसा मारते हैं। मारपीट बढ़ती है। लोग भागते हैं। प्रकाशचन्द्र जैसा का तैसा खड़ा रहता है, उसपर के आक्रमण, उसके रोकने पर भी मनोरमा सहती है।]

यवनिका-पतन

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—घुड़दौड़ का मैदान

समय—संध्या

[दूरी पर घोड़े दौड़ने का एक मार्ग दिखायी देता है, जो सामने की ओर सफ़ेद रंग के, लकड़ी के, कटघरे (रेलिंग) से घिरा हुआ है। इस मार्ग के एक ओर घोड़े कूदने की, घास की बनी हुई, टट्टियाँ भी दिखायी देती हैं। बाँयीं ओर दूरी पर, घुड़दौड़ देखनेवाले जिस मकान में बैठते हैं, उसका एक कोना दिखायी देता है। बीच में घोड़ों पर दाव लेनेवाले जुवारियों की दुकानें बनी हैं। इसके सामने ऊँचे-ऊँचे काले तख़्ते (बोर्ड) लगे हुए हैं, उनपर खड़िया-मिट्टी (चॉक) से कुछ लिखा है। इन तख़्तों के पास दाव लेनेवालों के खड़े होने के लिए ऊँचे मोढ़े (स्टूल) रखे हैं, जो ख़ाली हैं। दाहनी ओर एक बड़ा-सा, लम्बा डेरा (रिफ़्रेशमेंट-टेंट) लगा है, जिसमें एक लम्बी टेबिल पर मदिरा, खाने-पीने का सामान आदि सजा है। बाहर कई छोटी-छोटी टेबिलें तथा कुर्सियाँ इधर-उधर पड़ी हैं।

मैदान संध्या के प्रकाश और डेरा बिजली की बत्तियों से आलोकित है। घुड़दौड़ समाप्त हो चुकी है। कुछ लोग इधर-उधर घूम रहे हैं और कुछ कुर्सियों पर बैठे खा-पी रहे हैं। डेरे में कुछ खानसामें सामान बंद कर रहे हैं और कुछ लोगों को खाने-पीने का सामान दे रहे हैं। एक ओर से अपने साधारण कपड़े पहने और सिर पर टोप लगाए धनपाल का और दूसरी ओर से दामोदरदास का प्रवेश।]

धनपाल—हलो मिस्टर गुप्ता, आज मिसेज़ गुप्ता तो दिखी ही नहीं, उन्हें तो रेसेज़ का बड़ा शौक़ है।

दामोदरदास—(उदास भाव से) गये सण्डे से ही उनकी तबियत ठीक नहीं है।

धनपाल—(एक कुर्सी को खींचकर बैठते हुए) तुम भी बहुत उदास दिखते हो, कुछ अधिक हार गये क्या?

दामोदरदास—(दूसरी कुर्सी पर बैठते-बैठते) पूरे बारह हज़ार, मिस्टर धनपाल; और फिर घोड़ा भी हार गया।

धनपाल—(बेपरवाही से) उँह, यह तो तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं है और अभी तो कल रेसेज़ और हैं, कल पन्द्रह हज़ार जीत लोगे। अभी तुम्हारे तीन और घोड़े हैं।

दामोदरदास—(कुछ बेपरवाही से) हाँ, हार-जीत की बात तो नहीं है, पर, भाई, **(गम्भीर होकर)** इधर कुछ दिन ही उल्टे आ गये हैं। सभी उल्टा होता है। कुछ करने को जाओ और कुछ होता है।

धनपाल—(गम्भीरता से सिर हिलाते हुए) यह तो ठीक है, मिस्टर गुप्ता, उस सण्डे की मीटिंग का ही फल देखो। हमारा रिज़ोल्यूशन न पास हो सका, इतना ही नहीं, तुम्हें सूचना मिली होगी कि प्रकाशचंद्र भी छूट गया।

दामोदरदास—(आश्चर्य से) अच्छा, कब?

धनपाल—अभी तीन बजे, जब मैं यहाँ आ रहा था, तब कचहरी से उसका जुलूस जा रहा था। जुलूस में, भाई, अपार भीड़ थी। सारा नगर का नगर उलट पड़ा था। स्त्रियाँ भी बहुत थीं, मनोरमा भी थी।

दामोदरदास—आह! इस मनोरमा ने तो मेरे वंश को चौपट कर दिया। तुम जानते हो उस दिन प्रकाश के बचाव में उसपर भी मार पड़ी थी।

धनपाल—हाँ, सुना था।

दामोदरदास—सार्वजनिक सभा में मेरी बहन का पिटना, अपमान की सीमा हो गयी।

धनपाल—फिर जनता में उसके और प्रकाश के सम्बन्ध में अनेक बातें फैल रही हैं।

दामोदरदास—क्या कहूँ, मैं क्या जानता था कि यह लड़की इतना अनर्थ करेगी, नहीं तो काहे को इतना पढ़ाता-लिखाता, वही ग्यारह वर्ष की अवस्था में विवाह कर के पिंड छुड़ाता। **(कुछ ठहरकर)** परन्तु, भाई, प्रकाश बहुत शीघ्र छूटा। यह तो डॉक्टर नेस्टफ़ील्ड से सुन चुका था कि वह छूट जायगा, परन्तु इतने शीघ्र छूट जायगा, यह नहीं जानता था।

धनपाल—**(धीरे-धीरे)** होता क्या? पुलिस ने एरेस्ट कर लिया, झूठा केस तक चला दिया, पर नगर भर में एक गवाह भी उसके विरुद्ध न मिला। विश्वनाथ, शहीदबख़्श, उनकी पार्टी में से भी सबने उसके विरुद्ध गवाही देना अस्वीकृत कर दिया।

दामोदरदास—किसकी शामत आयी थी कि उसके विरुद्ध गवाही

देता। उस दिन की मीटिंग के कारण अपने ही आदमी फँसे, क्यों?

धनपाल—हाँ, अपने ही छः आदमी; पर, यह किसी प्रकार सिद्ध न हो सका कि वे अपने आदमी थे।

दामोदरदास—क़ानूनन चाहे सिद्ध न हुआ हो, पर मुँह-मुँह पर बात तो यही है। भाई, मैं तो आरंभ से ही उस मीटिंग के सम्बन्ध में बड़ा नर्वस था। इरीगेशन-स्कीम समाप्त हो गयी। अब उसे विश्वनाथ, शहीदबख़्श आदि कोई सपोर्ट न करेगा।

धनपाल—वह स्कीम चौपट हुई इतना ही नहीं, अपना सबका उसके कारण मुँह भी काला हो गया।

दामोदरदास—तभी तो मैं कहता हूँ, सभी कुछ उल्टा हो रहा है। कुछ करने को जाते हैं और कुछ होता है। यदि प्रकाश बाहर रहा तो देखना अभी और क्या-क्या होता है।

धनपाल—(सिर हिलाते हुए) इसमें सन्देह नहीं, इतने थोड़े से दिनों में यह दशा हुई है।

दामोदरदास—(कुछ सिर ऊँचा कर) केबिनेट में तो हो, क्यों नहीं गवर्नर को घुमाते कि सब ठीक हो जाय।

धनपाल—बहुत प्रयत्न किया, पर वह पब्लिक उपीनियन से बहुत डरता है। अब स्पष्ट हो गया कि इस सम्बन्ध में गवर्नमेंट, जब तक बाहर से कोई एप्लीकेशन न हो, हाथ न डालेगी। तुम नेस्टफ़ील्ड से राजा अजयसिंह को क्यों नहीं ठीक कराते।

दामोदरदास—उसका प्रयत्न तो हो रहा है।

धनपाल—जैसा मैंने तुम्हारे बर्थ-डे को कहा था, वे इतनी ही

एप्लीकेशन कर दें कि हमारे गाँवों में वह बलवे की तैयारी कर रहा है, और चार-छः अच्छे-अच्छे गवाह दे दें, फिर तो मैं उसे सात वर्ष से कम के लिए न भिजवाऊँगा। राजा साहब चाहें तो सैकड़ों गवाह उनके गाँवों में मिल सकते हैं।

दामोदरदास—मैंने कहा न कि वह तो कर रहा हूँ, भाई, जब से यह सुना था कि इस मुक़दमे में वह छूट जायगा, तभी से इस प्रयत्न में हूँ। एप्लीकेशन टाइप तक करा ली है, पर वह खूसट अजयसिंह हस्ताक्षर करे, तब तो। नेस्टफ़ील्ड को पाँच हज़ार तक देने को कह दिया है।

धनपाल—आज अजयसिंह भी तो यहाँ आये हैं।

दामोदरदास—हाँ, और मैंने नेस्टफ़ील्ड को उन्हींके पीछे लगा दिया है।

धनपाल—**(बाँयीं ओर देखते हुए कुछ ठहरकर)** यह लो, वे दोनों आ ही रहे हैं।

दामोदरदास—**(उसी ओर देखकर)** तुम थोड़ा हट जाओ, तुम्हारे सामने कदाचित् खुल कर बातें न हो सकें।

धनपाल—अच्छा, तो मैं अब घर ही जाता हूँ। रात को खबर भिजवाना कि क्या हुआ।

दामोदरदास—अवश्य।

[धनपाल का दाहनी ओर प्रस्थान। अजयसिंह और नेस्टफ़ील्ड का बाँयीं ओर से प्रवेश।]

दामोदरदास—**(खड़े होते हुए नेस्टफ़ील्ड से)** फिर क्या निश्चय हुआ, डॉक्टर साहब? **(तीनों बैठ जाते हैं।)**

नेस्टफ़ील्ड—राजा साहब बहुत कुछ राज़ी तो हो गये हैं, मिस्टर गुप्ता, पर अभी तक एप्लीकेशन पर साइन नहीं किया है।

दामोदरदास—(कुछ रुखाई से, अजयसिंह से) देखिए, राजा साहब, आपसे कोई झूठ बात करने को तो कहा नहीं जाता है। आप जानते हैं, उसने आपके इस्टेट में कितनी गड़बड़ी मचायी है।

अजयसिंह—यह तो मानता हूँ, परन्तु, दामोदरदासजी......।

दामोदरदास—(और रुखाई से) इसमें, किन्तु-परन्तु की कोई बात ही नहीं है, राजा साहब, फिर मेरे लिए भी तो यह आर्थिक प्रश्न है। मेरा भी लाखों रुपया आपके इस्टेट में फँसा हुआ है।

अजयसिंह—आपका रुपया तो दूध पी रहा है, दामोदरदासजी।

दामोदरदास—दूध क्या, पानी भी नहीं पी रहा है, राजा साहब। आप निश्चित समय पर ब्याज तक नहीं देते हैं, मूल की तो बात ही जाने दीजिए।

अजयसिंह—इन वर्षों में लगातार फ़सल ख़राब होने के कारण ऐसा हुआ है।

दामोदरदास—इरीगेशन-स्कीम का कुछ ठीक हो जाता तो फसल कई गुनी बढ़ जाती, आपके इस्टेट के मूल्य और आय में भी बहुत वृद्धि होती, मेरे रुपयों का भी कुछ ठिकाना होता, पर उसका ठीक-ठाक होना तो अभी प्रकाश के कारण असम्भव दिखता है।

अजयसिंह—कभी न कभी तो नहर बन ही जायगी, दामोदरदासजी।

दामोदरदास—न जाने कब, आज तो उसके स्थान पर, आपके इस्टेट में दिन-रात इस प्रकार के झगड़ों से, इस्टेट का मूल्य और आय उल्टी घटेगी। मुझे तो अपने रुपयों की सेफ़्टी तक की चिन्ता हो चली है।

अजयसिंह—(**डरते-डरते**) यह आप कैसी बात करते हैं। आपके रुपयों से इस्टेट का मूल्य कई गुना अधिक....।

दामोदरदास—(**अजयसिंह को डरते देख और कड़ाई से**) नहीं, साहब, बातों का प्रश्न नहीं है। या तो अभी आप उस एप्लीकेशन पर हस्ताक्षर करें या कल मुझे नालिश करनी पड़ेगी, और डॉक्टर साहब दोनों घरों के लीगल एडवाइज़र हैं, लाखों का प्रश्न है, अतः मैं कलकत्ते से किसी दूसरे बैरिस्टर को बुलाऊँगा।

अजयसिंह—(**बहुत ही डरकर**) अच्छा, कल तक मुझे और सोच लेने दीजिए।

दामोदरदास—(**अपनी कड़ाई का प्रभाव पड़ते देख और भी कड़ाई से**) नहीं, राजा साहब, बहुत हो गया। (**नेस्टफ़ील्ड से**) डॉक्टर साहब, वह एप्लीकेशन है?

नेस्टफ़ील्ड—(**जेब से एप्लीकेशन निकाल कर**) जी हाँ, यह है।

दामोदरदास—(**दरख़्वास्त लेकर अपना फ़ाउंटेन-पेन और दरख़्वास्त दोनों अजयसिंह के आगे कर**) लीजिए, राजा साहब।

[अजयसिंह मूर्तिवत् बैठा रहता है।]

दामोदरदास—(**दोनों चीज़ों को हटाकर उठते हुए**) अच्छी बात है, न कीजिए। आप मेरा नेचर जानते हैं। कल डिस्ट्रिक्ट जज की कोर्ट में नालिश पेश कर दी जायगी। (**उठता है।**)

नेस्टफ़ील्ड—(**दरख़्वास्त दामोदरदास से लेकर**) ठहरिए, मिस्टर गुप्ता, राजा साहब ज़रूर दस्तखत कर देवेंगे। (**अजयसिंह से**) राजा साहब, मैं आप दोनों फ़ैमिलीज़ की हमेशा भलाई चाहनेवाला रहा हूँ।

हमेशा ही मैंने आपको सर भगवानदास के घर से मदद दिलवायी है, और भी आप दोनों की हर तरह से ख़िदमत करने की कोशिश की है। उस दिन अगर कन्हैयालाल को न सँभाला जाता और पार्टी का हाल उसके पेपर में निकल जाता तो, आप सच मानिए कि, गवर्नर शायद आपकी पुश्तैनी टाइटिल तक वापिस माँगने पर उतारू हो जाते। इस मामले का भी आप गवर्नमेंट से कम ताल्लुक़ न समझिए। मैं पब्लिक प्रॉसीक्यूटर हूँ और मुझे कई भीतरी बातें मालूम रहती हैं। वह प्रकाश अभी सिर्फ़ इसलिए छूटा है कि इस मामले में उसे सज़ा भी होती तो बहुत कम। आप यह न सोचिए कि गवर्नमेंट को विटनेस नहीं मिले। गवर्नमेंट चाहती तो सौ गवाह मिल सकते थे। वह बदज़ात जो कुछ यहाँ कर रहा है, और यहाँ उसने जितनी भी गड़बड़ी मचायी है, इसके सबब, आप समझते हैं, सरकार उससे चिढ़ी हुई नहीं है? इस तरह आपके दरख़्वास्त देने से, गवर्नमेंट के दिल में उस दिन की पार्टी का अगर कुछ मलाल होगा तो, वह भी निकल जायगा। फिर आप दोनों फ़ैमिलीज़ की फ़्रेंडशिप ज़्यादा चीज़ है, या वह मिस्चीवियस, वेगाबाँड छोकरा? आपके और गवर्नमेंट के ताल्लुक़ात की वजह से आपके और सर भगवानदास के घर के आपसी कनेक्शन के सबब से, और भी सभी बातों को सोच, मैं जो आपका हमेशा से भला चाहने-वाला रहा हूँ और हमेशा से आपकी ख़िदमत करता रहा हूँ, यही मुनासिब समझता हूँ कि आप इस दरख़्वास्त पर फ़ौरन दस्तख़त कर दें।

[नेस्टफ़ील्ड दरख़्वास्त आगे करता है। अजयसिंह फ़ॉउन्टेन-पेन लेकर हस्ताक्षर करता है। हस्ताक्षर करते-करते अजयसिंह के नेत्रों से दो बूँद आँसू दरख़्वास्त पर टपक पड़ते हैं, फ़ॉउन्टेन-पेन हाथ से छूटकर गिर जाता है। दामोदरदास अजयसिंह की नज़र बचा नेस्टफ़ील्ड को देख कर हँस देता है। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—नगर का एक भाग

समय—प्रातःकाल

[वही मार्ग है जो पहले अंक के आठवें दृश्य में था। प्रकाशचन्द्र और कन्हैयालाल का प्रवेश।]

कन्हैयालाल—तो अब आज तक के मेरे सब अपराध क्षमा हुए?

प्रकाशचन्द्र—**(मुस्कराते हुए)** मेरी दृष्टि में तो आपके कोई अपराध थे ही नहीं।

कन्हैयालाल—और मन के भ्रम?

प्रकाशचन्द्र—न मेरे मन में कोई भ्रम ही थे। आपके पत्र के बहिष्कार का प्रस्ताव भी मैंने सत्य-समाज में उपस्थित नहीं किया था। समाज के अन्य एक युवक सदस्य ने उसे उपस्थित किया था। हाँ, जब उसने आपके पत्र के सम्बन्ध में कुछ बातें वहाँ कहीं तब मैंने भी अवश्य उसके प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया, क्योंकि उस युवक का सारा कथन मुझे सत्य जान पड़ा।

कन्हैयालाल—आप ठीक कहते हैं, प्रकाशचंद्रजी, जो कुछ इन दिनों में यहाँ हुआ उससे यदि आप लोगों ने मेरे पत्र का बहिष्कार किया तो इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु साथ ही आप मेरी कठिनाइयों का भी थोड़ा अनुमान कीजिए। आप अभी जानते नहीं हैं कि पत्रों के चलाने में कितना घाटा होता है।

प्रकाशचन्द्र—अच्छा! मैं तो समझता था इनसे लाभ होता है।

कन्हैयालाल—लाभ का नाम न लीजिए और हानि की बात भी मत पूछिए। आय के केवल दो मार्ग हैं और व्यय के बीसों।

प्रकाशचन्द्र—यह कैसे ?

कन्हैयालाल—आय होती है पत्र की बिक्री और विज्ञापन से। विज्ञापन की आय ही मुख्य आय है, क्योंकि बिक्री बढ़ने से काग़ज़ आदि के समान ख़र्च भी बढ़ जाता है। फिर हिन्दी-पत्रों की दशा तो बहुत ही शोचनीय है।

प्रकाशचन्द्र—अच्छा ! हिन्दी यहाँ की भाषा होने पर भी ?

कन्हैयालाल—क्या कहूँ, उन्हें अँगरेज़ी पत्रों के सदृश विज्ञापन की आय नहीं। बिक्री, जब तक कोई भारी आन्दोलन न हो, तब तक अधिक नहीं होती। इन्हीं दो चार धनिकों के कारण पत्र चलता था, मैं करता तो करता क्या ?

प्रकाशचन्द्र—**(सिर हिलाते हुए)** इसमें सन्देह नहीं कि आपके सामने भारी समस्या थी।

कन्हैयालाल—**(प्रकाशचन्द्र की सहानुभूति देख कुछ उत्साह से)** फिर, प्रकाशचंद्रजी, मेरे कुटुम्ब का भार भी तो पत्र पर ही है। बड़ा भारी कुटुम्ब है। **(उँगली पर गिनते हुए)** देखिए, एक बूढ़ी माँ, तीन बेवा बुआ, दो छोटे भाई और उनकी औरतें, एक के तीन बच्चे और दूसरे के दो, फिर मेरी सात लड़कियाँ, छः लड़के, तीन लड़कों की बहुएँ, मेरी औरत, उसके तीन भाई, दो बहनें और मैं स्वयं।

प्रकाशचन्द्र—**(आश्चर्य से)** अच्छा ! आपको तो क़लम से खेती बोनी पड़ती है।

कन्हैयालाल—(कुछ शर्माते हुए) क्या कहूँ, फिर कुटुम्ब भी महा रोगिष्ट। चार-छः खटियाँ घर में सदा बिछी ही रहती हैं। दो रोगी क्षय के और एक संग्रहणी का है। हर मास वैद्य-डॉक्टरों का लम्बा बिल चुकाना पड़ता है।

प्रकाशचन्द्र—(खेद से) राम, राम, राम।

कन्हैयालाल—फिर, प्रकाशचंद्रजी, हर वर्ष बच्चा पैदा होता है। भाइयों पर भी ईश्वर की कृपा है। और इस वर्ष बड़े लड़के के भी बच्चा होनेवाला है।

प्रकाशचन्द्र—हाँ !

कन्हैयालाल—और फिर, प्रकाशचंद्रजी, भाई, लड़के और औरतों के नातेदार सब निकम्मे। उनसे पत्र के बंडल बँधवा लीजिए या उनपर टिकट लगवा लीजिए, पते तक ठीक नहीं लिख सकते। कमानेवाला एक मैं और खानेवाले ये सब।

प्रकाशचन्द्र—(और भी खेद से) सचमुच बड़ी आपत्ति है।

कन्हैयालाल—और फिर, प्रकाशचंद्रजी, छोटे बच्चों को पढ़ाने का खर्च, विवाह और ऐसा कठिन समय। आप स्वयं विचार कर सकते हैं, मेरी क्या स्थिति है।

प्रकाशचन्द्र—(लम्बी साँस लेकर) बड़ी शोचनीय स्थिति है वर्माजी, इसमें सन्देह नहीं।

कन्हैयालाल—(आँखों में आँसू भरकर) कुछ पूछिए नहीं, मेरी स्थिति मैं ही जानता हूँ।

प्रकाशचन्द्र—(सहानुभूतिपूर्वक) वर्माजी, आप दुःखित न हों;

जो कुछ इस तुच्छ व्यक्ति से आपकी सहायता होगी वह सदैव करने को तैयार रहेगा।

कन्हैयालाल—(सिर हिलाते हुए) आपका तो बहुत बड़ा सहारा अब हो ही गया, पर, आप बहुत दिन बाहर रह पायें तब न। आपने सभी को तो अप्रसन्न कर डाला है। बिना अपनी रक्षा का कोई प्रबन्ध किये बर्रइयों का छत्ता उकसा दिया है, सभी आप पर टूट पड़े हैं, थोड़ा धीरे-धीरे और ढँग से कार्य होता तो ठीक होता।

प्रकाशचन्द्र—मैं राजनीतिज्ञ तो हूँ नहीं, वर्माजी, न मेरा इन सब कार्यों में स्वार्थ ही है।

कन्हैयालाल—परन्तु, कार्य के हित की दृष्टि से भी यही आवश्यक था। असहयोग आन्दोलन के समय, मैं जेल में गया था, पर जब मेरे पश्चात् कोई भी जेल न गया तब मैंने भी सत्याग्रह में जेल जाना उचित न समझा।

प्रकाशचन्द्र—सत्याग्रह में यहाँ से कोई जेल नहीं गया?

कन्हैयालाल—दो-चार उचक्के यदि चले भी गये तो न जाने के समान ही है। हाँ, उन्हें जेल के फाटक तक पहुँचाने हज़ारों आदमी गये थे; पर, जुलूस और बड़ी-बड़ी सभाओं के अतिरिक्त और किसीने कुछ न किया। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि कार्य के हित की दृष्टि से आपका जेल के बाहर रहना आवश्यक है और इसके लिए भाषण आदि में सतर्कता रखना।

प्रकाशचन्द्र—यह मेरे लिए असम्भव है, वर्माजी। जो बात सत्य होगी उसे मैं तो अवश्य तत्काल कहूँगा और करूँगा। फल जो कुछ भी हो। कहिए, फिर कोई गिरफ़्तारी का वारेंट है क्या?

कन्हैयालाल—(धीरे-धीरे) वारेंट तो कदाचित् अभी तक नहीं

है, पर उड़ती हुई ख़बर अवश्य सुनी है।

प्रकाशचन्द्र—कैसी ?

कन्हैयालाल—सुना है, राजा अजयसिंह ने सरकार को एक दरख्वास्त दी है कि आप उनके इस्टेट में बलवा कराने की तैयारी कर रहे हैं। पुलिस ने इसकी जाँच भी कर ली है। आप जानते हैं, नगर के सदृश वहाँ, आपके विरुद्ध गवाह न मिले हों यह तो हो नहीं सकता, क्योंकि अभी आपका वहाँ पूरा ज़ोर तो हो नहीं पाया था।

प्रकाशचन्द्र—**(बेपरवाही से)** उँह ! मुझे क्या चिन्ता है। जब चाहें तब पकड़ ले जायँ। मुझे तो ईश्वर पर विश्वास है। मैं तो मानता हूँ कि सत्य को किसी प्रकार की रक्षा की आवश्यकता नहीं, वह हर परिस्थिति में स्वयं अपना रक्षक है। मेरे जेल में रखने से भी सत्यता जेल के भीतर बन्द नहीं रह सकती। यदि यही हो सकता तो अब तक संसार में सत्य का चिन्ह तक न रह जाता।

कन्हैयालाल—यह तो आप ठीक कहते हैं और आपको अपनी गिरफ़्तारी की चिन्ता भी नहीं है, पर, हम लोगों को तो आपकी आवश्यकता है।

प्रकाशचन्द्र—वर्माजी, ईश्वरीय कार्य किसी के लिए नहीं रुकता। **(कुछ ठहरकर)** अच्छा, तो अब आज्ञा हो।

कन्हैयालाल—अच्छी बात है, अब तो नित्य ही मिलना होगा।

प्रकाशचन्द्र—अवश्य। **(जाने को उद्यत होता है।)**

कन्हैयालाल—**(प्रकाशचन्द्र को रोकते हुए)** देखिए तो, अभी कोई जान न पावे कि मैंने आपसे यह वृत्तान्त कहा है।

प्रकाशचन्द्र—(आश्चर्य से) क्यों, सत्य बात छिपाने की क्या आवश्यकता है?

कन्हैयालाल—(लज्जित हो, चकपका कर) ह...ह...ह......हाँ, यह तो ठीक है, परन्तु, क...क...कार्य थोड़े ढँग से ही होना चाहिए। फिर यह उड़ती हुई ख़बर है कदाचित् झ.....झ.......झूठ ही हो।

प्रकाशचन्द्र—तब आपने मुझसे कहा ही क्यों?

[एक ओर प्रकाशचन्द्र का घृणा से मुस्कराते हुए तथा दूसरी ओर कन्हैयालाल का नीचा मुँह किये हुए प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—दामोदरदास के सोने का कमरा

समय—रात्रि

[कमरा मन्द नीली बिजली की बत्ती से प्रकाशित है। रुक्मिणी लेटी हुई है। दामोदरदास का प्रवेश।]

दामोदरदास—(पलँग के निकट जाकर धीरे से) डियर।

रुक्मिणी—(जल्दी से उठते हुए) आप फिर यहाँ पधारे आये। क्षमा कीजिए, मुझे डियर न कहिए।

दामोदरदास—(डरते-डरते) तो मैं जाऊँ कहाँ? संसार में मेरे लिए अब बाहर कोई स्थान नहीं रह गया और घर में भी नहीं है?

रुक्मिणी—उसी थेरिजा के यहाँ जाइए। वहीं आपको सुख और शान्ति मिलेगी।

दामोदरदास—उसका रहस्य तो समझ लो, डियर, वही तो इतने दिन से समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ, जब तुम सुनो तब न।

रुक्मिणी—(**घृणा से हँसकर**) जी हाँ, यह दूसरा जाल बिछाने का उद्योग हो रहा है। सारे संसार को हर काम में धोखा देना तो आपका स्वभाव हो गया है।

दामोदरदास—ओह! रुक्मिणी, तुम भी ऐसा कहती हो?

रुक्मिणी—आपकी वर्तमान परिस्थिति इसीका परिणाम है और भविष्य में यह स्वभाव आपको न जाने कहाँ ले जाकर छोड़ेगा।

दामोदरदास—पर, . . .।

रुक्मिणी—क्षमा कीजिए, मुझे। अब मुझे मालूम हुआ कि मनुष्य का फिसलना आरंभ होने के पश्चात् उसके फिसलने का अन्तिम स्थान निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं उस गति को, जो प्रति क्षण बढ़ती ही जाती है, रोकने में असमर्थ हो जाता है।

दामोदरदास—(**लम्बी साँस लेकर**) डियर, डियर, . . .।

रुक्मिणी—ओह! फिर वही, फिर वही। मुझे तो अब इन डियर, प्रिये आदि शब्दों में विडम्बना जान पड़ती है।

दामोदरदास—शब्दों में विडम्बना?

रुक्मिणी—नहीं, नहीं, भूल गयी। शब्दों का क्या अपराध है, यह तो हृदय के भावों में परिवर्तन हो गया है।

दामोदरदास—पर, उस परिवर्तन की आवश्यकता ही.....।

रुक्मिणी—आवश्यकता! अरे! आश्चर्य तो यह है कि इसमें इतना विलंब लगा और मैंने बिना इन चर्म-चक्षुओं से देखे आपके चरित्र को न पहचाना। विलायत में और यहाँ, संसार भर में, जो सोशल एन्गेजमेंट के नाम; मुझे छोड़-छोड़े आप घूमते-फिरते थे, उनमें भी यही रहस्य होगा।

दामोदरदास—पर, तुम उस रहस्य को समझी ही नहीं।

रुक्मिणी—नहीं, नहीं, अब तो समझ गयी, भली प्रकार समझ गयी; पहले अवश्य नहीं समझती थी। पहले समझती थी, जैसे निष्कपट होकर मैं आपको चाहती हूँ, वैसे ही आप भी, कम से कम, मेरे प्रेम में निष्कपट होंगे। मैं तो अनुमान करती थी कि आपके सारे हृदय को मैंने व्याप्त कर रखा है, पर अनुभव कटु, अत्यन्त कटु हुआ। अब मुझे मालूम हुआ कि उस हृदय की श्याम चादर में मेरे लिए भी कोई श्वेत कोना खाली नहीं है।

दामोदरदास—पर, तुम भूल में हो। देखो,...।

रुक्मिणी—अब भूल में हूँ, अब? नहीं, कदापि नहीं, पहले भूल में थी कि आपसे इस प्रकार का अंध प्रेम किया और जो कुछ आपने कहा सो करती रही। मनोरमा बीबी ही ठीक कहती थीं कि इस देश के समाज का कल्याण पश्चिमी सिद्धान्तों से नहीं हो सकता।

दामोदरदास—ओह! डियर,...।

रुक्मिणी—(क्रोध से) मैंने आपसे कह दिया कि मुझे डियर न कहिए। यह शब्द मेरे सारे गत जीवन को एक दारुण निराशा के स्वरूप में लाकर खड़ा कर देता है। मेरे वर्षों के सिंचित हरे-भरे उद्यान को, आपने जो एक दिन में ही काँस से भर दिया है, यह शब्द कानों के द्वारा

हृदय तक पहुँच, नेत्रों से उसका भयंकर रूप दिखला, मुझे कँपा देता है। मेरा हृदय विदीर्ण होने लगता है, फटने लगता है; मैं हाथ जोड़ती हूँ, मुझे यह न कहिए।

दामोदरदास—(**लम्बी साँस लेकर**) प्रिये, प्रिये, कुछ तो.....।

रुक्मिणी—नहीं मानेंगे, क्या आपके कारण मुझे यह घर भी छोड़ना पड़ेगा? मुझे अकेली पड़ी रहने दीजिए, आप जो चाहें, कीजिए, मेरे निकट न आइए। जाइए यहाँ से। अपने कमरे में बैठी-बैठी मैं ईश्वर में मन लगाने का प्रयत्न करूँगी। नहीं तो विश्वास मानिए, मैं घर ही छोड़ दूँगी। (**दामोदरदास को चुप देखकर**) आपकी और अधिक निन्दा होगी। (**हाथ जोड़कर**) क्या मेरी इतनी प्रार्थना भी स्वीकृत न होगी? (**दामोदरदास को न उठते देखकर**) अच्छी बात है, मैं ही चली जाती हूँ। आपका, मेरे संग में रहना अब असम्भव है। अब तक मेरा और आपका हृदय अलग हुआ था, पर, अब हृदय के वियोग के साथ घर का वियोग भी होता दिखायी देता है। आप जानते हैं कि रुक्मिणी अपने निश्चय की पक्की है, वह अपने सर्वस्व की बाज़ी लगा, उसे खोकर, परिणाम को भोगने का साहस रखती है।

[रुक्मिणी दामोदरदास को फिर भी जाते न देख, स्वयं बाहर जाने लगती है। यह देख दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए दामोदरदास का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—प्रकाशचंद्र के घर का बाहरी भाग

समय—तीसरा पहर

[**प्रकाशचन्द्र का प्रवेश।**]

प्रकाशचन्द्र—माँ! ओ माँ!

[**तारा का प्रवेश।**]

तारा—सबेरे का गया हुआ अब आया। आज कुछ खाया या नहीं? लाऊँ खाना।

प्रकाशचन्द्र—तुझे तो दिन-रात खाने की पड़ी रहती है। अभी-अभी खाकर आ रहा हूँ। खाना तो मैं प्रातःकाल से तीन बार खा चुका। पर, संसार में खाना ही सब कुछ है या और भी कुछ?

तारा—और कुछ क्यों नहीं है? दिन घूमना, रात घूमना, सड़क-सड़क की धूल छानते फिरना, घर-घर जूतियाँ चटकाते फिरना।

प्रकाशचन्द्र—(मुस्कराकर) और?

तारा—और? और ले, व्याख्यान देना, बड़े-बड़े लोगों से लड़ाई करना, फिर हवालातों और जेलों की सैर करना और अपने शरीर को ख़राब करना।

प्रकाशचन्द्र—और?

तारा—और भी। अच्छा और ले, बूढ़ी माँ को जीती की जीती जलाते रहना। अब यथेष्ट हुआ या नहीं।

प्रकाशचन्द्र—और तो तूने सब ठीक कहा, माँ, पर अन्तिम बात ठीक नहीं कही कि बूढ़ी माँ को जीते जी जलाते रहना। आह! प्यारी माँ, कैसी बात कहती है? माँ को जीती की जीती जलाते रहना, यह तूने कैसे

कहा माँ ? तेरा यह पुत्र, अपनी प्यारी माँ को—संसार में सबसे अच्छी माँ को, जीती की जीती, ओह! जीती की जीती जलायगा ? आह! माँ, क्या कहती है ? कभी-कभी आवेश में आकर तू मेरे साथ अन्याय कर बैठती है।

तारा—(**प्रकाशचन्द्र को गोद में लिटाकर मुख देखते हुए**) बेटा, तुझे दोष नहीं देती। मैं चाहे संसार में सबसे अच्छी माँ न होऊँ, पर, बेटा, तू संसार में सबसे अच्छा पुत्र अवश्य है। बेटा, जब तेरा इतना आदर होते देखती हूँ, तेरे नाम की जय-जयकार सुनती हूँ, तेरे बड़े-बड़े जुलूस देखती हूँ, उस समय दुःख से भग्न हृदय में भी फिर से हर्ष की हिलोरें उठने लगती हैं। परन्तु......... । (**कुछ रुक जाती है।**)

प्रकाशचन्द्र—परन्तु पर अटक क्यों गयी, माँ, कह चल।

तारा—क्या कहूँ, बेटा ?

प्रकाशचन्द्र—फिर भी, कुछ तो ?

तारा—बेटा, इस आदर, इस जय-जयकार, इस जुलूस के पीछे जो भयानकता छिपी है, जब उसका स्मरण आता है, जब सोचती हूँ, यह भयानकता मेरे लाल को कदाचित् सदा के लिए मेरी गोद से पृथक् न कर दे, उन बादलों के समान जो बरस-बरस कर संसार का तो उपकार करते हैं, पर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, तुझे स्वयं को इस कार्य में विलीन न कर दे, तब, बेटा, प्यारे बेटा, तेरी जीती माँ भी, जीती की जीती, जलने लगती है। इसीसे कहती हूँ कि तू जीती की जीती माँ को जलाता है; तू नहीं जलाता है, तो तेरे कार्य जलाते हैं, बेटा।

प्रकाशचन्द्र—पर, माँ, कर्तव्य का पथ तो, तू ही कहती थी; कि, फूलों का न होकर काँटों का होता है। संसार में सभी के लिए यह पथ ऐसा ही रहा है। यह पथ तो दान का ही पथ है, ग्रहण का नहीं।

तारा—हाँ, मैं ही कहती थी; पर, तू उसी पथ का पथिक होगा, यह मैं कहाँ जानती थी ?

प्रकाशचन्द्र—ऐसे काँटे वाले पथ का पथिक होने पर भी मुझे एक विचित्र प्रकार का सुख हुआ है, माँ, और उसका कारण है।

तारा—क्या ?

प्रकाशचन्द्र—मेरा जीवन निरुद्देश नहीं रह गया। उद्देशमय जीवन में एक विचित्र प्रकार का सुख होता है, इसका अब मैं अनुभव करने लगा हूँ। फिर मैं यह भी जानने लगा हूँ कि कुछ लोग संसार को प्रसन्न करने के लिए कर्तव्य करते हैं।

तारा—और तू ?

प्रकाशचन्द्र—मैं अपने को प्रसन्न करने के लिए करता हूँ। मैं नहीं जानता कि, जिसे मैं अपना कर्तव्य कहता हूँ, उससे संसार प्रसन्न होता है या नहीं, मेरे हृदय को उससे अवश्य प्रसन्नता होती है और फिर प्यारी माँ, . . .। **(रुक जाता है और तारा की ओर एकटक देखने लगता है।)**

तारा—फिर क्या ?

प्रकाशचन्द्र—फिर ? फिर, माँ, जब इस कर्तव्य को मैं अपने हृदय में प्रतिष्ठित तेरी भव्य मूर्ति को अर्पित करता हूँ तब तो मेरे आनन्द की सीमा नहीं रह जाती।

तारा—बेटा, प्यारे बेटा।

प्रकाशचन्द्र—**(माँ की ओर देखते हुए कुछ ठहरकर)** क्यों, माँ, तुझे मेरे इस आदर, इस जय-जयकार, इन जुलूसों से बड़ा हर्ष होता है ?

तारा—अवश्य होता है, बेटा; तुझे नहीं होता ?

प्रकाशचन्द्र—(लम्बी साँस लेकर) यदि इन सबमें सत्यता होती, उच्च हृदय के सच्चे भावों का समावेश होता; तो अवश्य होता।

तारा—(आश्चर्य से) ये सब सच्चे नहीं हैं?

प्रकाशचन्द्र—जितने होते हुए तू देखती है, उतने सच्चे नहीं हैं।

तारा—यह कैसे?

प्रकाशचन्द्र—कुछ लोग तो, इसमें सन्देह नहीं कि, मेरा सच्चे हृदय से आदर, हृदय के सच्चे आवेग से जय-जयकार करते हैं, परन्तु उन्हीं आदर करनेवालों, उन्हीं जय-जयकार बोलनेवालों में अनेक ऐसे कलुषित हृदय के लोग भी हैं, जो मन में मुझसे घृणा करते हैं, मन में मुझसे ईर्षा रखते हैं, मन में मेरे बढ़ते हुए प्रभाव को देख कर जलते हैं और मेरा विनाश तक कर डालना चाहते हैं; परन्तु ऊपर से विवश होकर उन्हें मेरा आदर करना पड़ता है, मेरी पराजय चाहने पर भी, उच्च स्वर से मेरा जय-घोष बोलना पड़ता है।

तारा—अच्छा!

प्रकाशचन्द्र—इनसे तेरा काम न पड़ने के कारण तुझे इनका अनुभव नहीं हो सकता, माँ, पर मैं ऐसे लोगों को मुखों से पहचान सकता हूँ। फिर, कई ऐसे हैं जो मेरे कार्यों को लेशमात्र नहीं समझते, परन्तु सबके साथ मिल मेरे आदर और जय-घोष में सम्मिलित हो जाते हैं।

तारा—और सच्चे कितने होंगे, बेटा?

प्रकाशचन्द्र—बहुत कम, परन्तु, माँ, इस आदर और जय-घोष से चाहे हृदय में क्षणिक उत्साह भर जाय, चाहे हृदय को क्षणिक आनन्द मिल जाय, पर यथार्थ में ये सच्चे और स्थायी आनन्द देने की वस्तु ही नहीं

हैं। अब मुझे अनुभव होने लगा है, माँ, कि सच्चा आनन्द बाहर के आदर और जय-घोष से प्राप्त नहीं होता, उसकी उत्पत्ति तो भीतर से होती है। जब मैं अपने किसी भी कर्तव्य को, सचाई से, निस्वार्थ भाव से, पालन करता हूँ, और उस पालन को, अन्तःकरण के भीतर प्रतिष्ठित तेरी उदासीन तथा सकरुण प्रतिमा के चरणों में.....। (**चुप होकर तारा की ओर एकटक देखने लगता है।**)

तारा—हाँ, चरणों में क्या? चुप क्यों हो गया?

प्रकाशचन्द्र—चरणों में भेंट करता हूँ, माँ, प्यारी माँ, उस समय जिस सच्चे आनन्द की मुझे प्राप्ति होती है, वह वर्णनातीत है। (**कुछ ठहरकर**) इस आनन्द की प्राप्ति मुझे इस नगर में आने के पूर्व कभी नहीं हुई थी। सबसे पहले इसका कुछ अनुभव राजा अजयसिंह के प्रीति-भोज के भाषण के पश्चात्, थोड़ा-थोड़ा फिर कई बार सत्य-समाज की बैठकों आदि में, और सबसे अधिक टाउनहाल की सभा में, जिस समय लोग भाग रहे थे, उस समय पिटते रहने पर तनिक भी विचलित हुए बिना, खड़े रहने के समय और स्वयं पिटने के अपराध में गिरफ़्तार होने के समय, हुआ। माँ, यह आनन्द तो दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

तारा—और, बेटा, इस आनन्द से माता की शोकमयी प्रतिमा, जिसे तू अपने हृदय में अंकित बताता है, धीरे-धीरे धुल रही है; क्यों?

प्रकाशचन्द्र—फिर वही बात। आह! माँ, यही तो तू समझती नहीं। यदि वह अंकित मूर्ति धुल जाय तब तो मेरा हृदय भी इन ऊपरी आदर और जय-घोष करनेवालों के सदृश ही हो जाय; इस सच्चे आनन्द का मुझे अनुभव ही न हो। इस अपूर्व आनन्द का अनुभव ही इसी कारण होता है कि तेरी शोकमयी मूर्ति मेरे हृदय पर अंकित है।

तारा—(कुछ ठहरकर) बेटा, जब तू तीन दिन हवालात में रहा, उस समय तुझे मेरा स्मरण आया था?

प्रकाशचन्द्र—तेरा स्मरण? तेरा स्मरण, प्यारी माँ? यह पूछने की बात है? वहाँ तो तेरा इतना अधिक स्मरण आया, जितना इसके पूर्व कभी आया ही न था। मैंने तुझसे एक दिन कहा था न कि जब गाँव में, सदा मैं तेरे ही पास रहता था, तब मेरे सामने नगर के तेरे बताये हुए दृश्य घूमते थे।

तारा—हाँ, बेटा, कहा था।

प्रकाशचन्द्र—और यह भी कहा था कि नगर में तुझसे अलग रहने पर कई बार घूमते-घूमते, कई बार मित्र-मंडली में बात करते-करते और कई बार भाषण देते-देते तेरा स्मरण हो आता था।

तारा—हाँ, बेटा, यह भी कहा था।

प्रकाशचन्द्र—अब हवालात का वृत्तान्त सुन, माँ।

लारा—वह भी कह।

प्रकाशचन्द्र—गाँव में सदा तेरे साथ रहता था, इससे दूसरी बातें स्मरण हो आती थीं, नगर में जब चाहे तब तेरे पास आ सकता था, इससे कभी-कभी ही तेरा स्मरण आता था, परन्तु, माँ, हवालात में तू मेरे पास न थी, और मैं भी तेरे पास आने के लिए स्वतंत्र न था, अतः वहाँ तो, आठों पहर और चौसठों घड़ी, हृदय में अंकित तेरी मूर्ति के दर्शन करता रहता था। माँ, प्यारी माँ, यथार्थ में वहाँ तू हृदय के जितनी निकट थी, उतनी आज तक कभी भी नहीं रही। वहाँ मुझे मालूम हुआ कि वियोग में प्रेमपात्र हृदय के कितना सन्निकट रहता है। (कुछ ठहरकर) तेरी यहाँ क्या दशा थी?

तारा—वह न बताऊँगी।

प्रकाशचन्द्र—इतने दिन से टाल रही है, आज तो मैं सुनूँगा ही। नहीं तो मचल जाऊँगा। (**पैर पछाड़ता है।**)

तारा—तुझमें अभी भी कितना बचपन है; (**लम्बी साँस लेकर**) क्या सुनेगा ही?

प्रकाशचन्द्र—(**पैर पटकते-पटकते**) अवश्य, अवश्य सुनूँगा; चाहे कुछ भी हो, सुनूँगा।

तारा—अच्छा सुन, तुझसे ठीक विपरीत।

प्रकाशचन्द्र—अच्छा!

तारा—जिस समय पुलिस यहाँ से तुझे ले चली, उस समय मुझे ऐसा ज्ञात हुआ, जैसे मेरे शरीर की सारी नसों के, हृदय के और आत्मा के भीतर से कोई वस्तु खींच कर ले जायी जा रही है। तेरे जाने के पश्चात् मैं यहीं बैठी रही और जब तेरे जुलूस का जय-घोष सुना तब उठी, बेटा।

प्रकाशचन्द्र—(**आश्चर्य से**) अच्छा! तो तूने तीन दिन तक कुछ नहीं खाया! और सोयी भी नहीं!

तारा—खाया! सोयी! बेटा, खाना-सोना कैसा? तेरे जाने के पश्चात् मैं जानती ही नहीं, कहाँ क्या हुआ, कितना समय बीता, जब प्रकाश होता था, तब आँखों को कुछ सफ़ेदी दिख जाती थी और जब अंधकार होता था तब कालिमा। एक बात आश्चर्यजनक अवश्य थी।

प्रकाशचन्द्र—वह क्या?

तारा—दो स्त्रियों के सदृश कोई वस्तुएँ, मेरे चारों ओर घूमा करती थीं, कुछ कहती भी थीं, पर वे कौन थीं, क्या कहती थीं, मैं नहीं जानती; मेरे भीतर क्या था और बाहर क्या, मुझे ज्ञात न था। तीन दिन पश्चात् तू आया, यह मुझसे तूने कहा।

प्रकाशचन्द्र—(**घबड़ाकर उठते हुए**) आह! माँ, आह! माँ, यह तो बड़ा भारी अनर्थ है। अभी तो मैं तीन ही दिन में आ गया, समझ ले न छूटता, और तीन माह या तीन वर्ष को चला जाता, तो भी तू इसी प्रकार बैठी रहती?

तारा—न जानें क्या करती; मैं कुछ नहीं कह सकती।

प्रकाशचन्द्र—(**कुछ ठहरकर**) माँ, वे स्त्रियाँ मनोरमा और सुशीला तो नहीं थीं?

तारा—यह भी मैं नहीं जानती।

प्रकाशचन्द्र—(**फिर कुछ ठहरकर**) क्यों, माँ, मुझे तू अपने भीतर क्यों नहीं देखती?

तारा—(**कुछ ठहरकर शोकमयी मुस्कराहट के साथ**) बेटा, जब तू मेरे भीतर था, तब तुझे भीतर देखती थी; जब तुझे बाहर निकाल दिया तब तुझे बाहर देखती हूँ। तू मुझे अब अपने भीतर नहीं दिखता। तू अपने हृदय का अनुभव कर सकता है, मेरे हृदय का नहीं।

प्रकाशचन्द्र—कैसे, माँ?

तारा—कैसे? सुनेगा?

प्रकाशचन्द्र—अवश्य।

तारा—(**लम्बी साँस लेकर**) जिस दिन से तूने मेरे उदर में प्रवेश किया, उसी दिन से मेरे बाहरी दुःखों का आरम्भ हुआ।

प्रकाशचन्द्र—अच्छा! तूने यह सब मुझे कभी नहीं बताया।

तारा—आज सुन ले। मैं भी महलों में रहती थी, उत्तमोत्तम पदार्थ

खाती और उत्तमोत्तम कपड़े पहनती थी; सब छूट गये। परन्तु, उस समय अपने भीतर एक दूसरे प्रकार के विलक्षण आनन्द का अनुभव हुआ।

प्रकाशचन्द्र—वह क्या ?

तारा—अपने भीतर तुझे देखना। अनेक विचार, अनेक कल्पनाएँ, अनेक संकल्प-विकल्प मेरे हृदय में तरंगों के सदृश उठते और विलीन हो जाते थे। उन तरंगों पर तेरी काल्पनिक मनोहर मूर्ति नृत्य करती थी। **(चुप होकर प्रकाशचन्द्र की ओर देखने लगती है।)**

प्रकाशचन्द्र—अच्छा, आगे ?

तारा—कुछ समय पश्चात् जब तू पेट में फड़कने लगा, तब तेरे साथ मेरे हृदय के भाव भी फड़कने लगे, और जब तूने पेट में घूमना आरम्भ किया, तब मुझे जान पड़ता था कि सारा विश्व मेरे पेट में घूम रहा है।

प्रकाशचन्द्र—ओह !

तारा—प्रसव की पीड़ाओं में मुझे स्वर्ग-सुख का अनुभव हुआ, और जब तू बाहर आया, तब मेरे भीतर का सारा विश्व, तेरे संग ही, बाहर आ गया।

प्रकाशचन्द्र—तो तब से तू मुझे भीतर न देख सकी ?

तारा—कैसे देखती ? तुझे बाहर निकाल, बाहर देखने लगी, और उस दर्शन में अपूर्व सुख पाने । तेरे कभी मुस्कराते और कभी रोते हुए मुख-कमल में मेरे संसार का सारा सौन्दर्य छिपा था और तेरे हिलते हुए हाथ-पैरों में संसार की सारी हलचलें। जब तू दूध पीता, तब मुझे अनुभव होता कि मैं अपने शरीर से सारे संसार का भरण-पोषण कर रही हूँ और तुझे

कपड़ा पहनाने में अनुभव होता कि सारे विश्व को वस्त्र दे रही हूँ। जब तू खाने योग्य हुआ और जब से मैंने तुझे भोजन कराना आरम्भ किया, तब से मुझे अपने में अन्नपूर्णा देवी का अंश प्रतीत होने लगा। जब तू पढ़ने योग्य हुआ और मैंने ही तुझे शिक्षा दी, तब से मुझे भासता है कि सरस्वती का भी मुझमें समावेश है। पर, बेटा, इस महान् सुख में एक दुःख भी था और वह बहुत बड़ा।

प्रकाशचन्द्र—कैसा दुःख, माँ?

तारा—जब कभी तू बीमार होता, तब तेरी छोटी-सी बीमारी में भी मुझे यही ज्ञात होता कि कहीं मेरे सोने का संसार विनष्ट न हो जाय। उस समय के मेरे दुःख का वर्णन ही नहीं हो सकता।

[तारा चुप हो जाती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

प्रकाशचन्द्र—तो इस प्रकार मेरे जन्म के पश्चात् से ही तू मुझे बाहर ही देखती है?

तारा—हाँ, बेटा। फिर मेरा जगत्, मेरा संसार, मेरा विश्व, बहुत विस्तीर्ण नहीं है, संकुचित, अत्यंत संकुचित है और वह तू है, बेटा, तू। जब तक तू मेरे भीतर था, तब तक मेरा संसार मेरे भीतर था, और जब से तू बाहर आया, तब से मेरा संसार मेरे बाहर आ गया। तुझे बाहर कर, बाइस वर्ष तक अपने संसार को बाहर देख, जैसा तू है, वैसा तुझे बना, अब मैं अपने भीतर तुझे कैसे देखूँ, यह तू ही बता, बेटा? तू ही मुझे समझा दे।

प्रकाशचन्द्र—**(अत्यंत गम्भीर होकर)** माँ, प्यारी माँ!

तारा—**(प्रकाशचन्द्र को देखते हुए)** कह, बेटा!

प्रकाशचन्द्र—क्या कहूँ, कुछ समझ में नहीं आता। मैं अपने भीतर

तुझे देखता हूँ, बाहर उतनी अच्छी प्रकार नहीं देख सकता। तू अपने बाहर मुझे देख सकती है, अपने भीतर देख ही नहीं सकती। पर, माँ, (**घबड़ा कर**) तेरी स्थिति तो बड़ी ही भयानक है।

तारा—है तो, बेटा, तभी तो तुझसे कई बार कहा कि हम लोग गाँव लौट चलें।

प्रकाशचन्द्र—(**दृढ़ता से**) यह तो कल्पना तक करने की बात नहीं है, माँ। संसार को बुरा समझ, अपने ऊपर आनेवाली आपत्तियों के भय से भागना और अपने कर्तव्य का पालन न करना, यह तो कायरों का काम है। यह तो तेरी शिक्षा के विरुद्ध है, ठीक विरुद्ध है, प्यारी माँ। (**कुछ ठहरकर**) अच्छा, तो तू मुझे बाहर ही देख सकती है, क्यों?

तारा—हाँ, बेटा, भीतर तो नहीं देख सकती।

प्रकाशचन्द्र—अच्छा, माँ, अब तक तूने मुझे शिक्षा दी है, आज मैं तुझे दूँगा।

तारा—(**शोकमयी मुस्कराहट से**) अच्छी बात है, मैं तुझे गुरु मान लेती हूँ।

प्रकाशचन्द्र—(**मुस्कराकर**) तू तो मेरी हँसी करती है। (**कुछ ठहर कर धीरे-धीरे**) देख, माँ, यदि किसी समय मैं तुझसे कुछ समय के लिए.....। (**रुक जाता है।**)

तारा—हाँ, कहता जा, यदि किसी समय तू मुझसे कुछ समय के लिए विलग कर दिया जाय, तो मैं क्या करूँ?

प्रकाशचन्द्र—(**कुछ साहस से**) मेरा कार्य तूने सरल कर दिया, माँ। तू कहती है न कि तू मेरे सदृश अपने भीतर मुझे नहीं देख सकती, बाहर देख सकती है?

तारा—कितनी बार 'हाँ' कहूँ।

प्रकाशचन्द्र—तो बस, ऐसे अवसर पर अपने बाह्य जगत् की सारी वस्तुओं में—(**जल्दी-जल्दी**) आकाश में स्थित उषा की द्युति, दिन के प्रकाश, संध्या की प्रभा, रात्रि के अंधकार, सूर्य, चन्द्र, तारागण, मेघ, दामिनी इन्द्र-धनुष में; पृथ्वी पर स्थित पर्वतों, नदियों, वनों, उपवनों, वृक्षों, पल्लवों, पुष्पों, फलों, गृहों, मार्गों में; नभचरों, जलचरों, थलचरों में; अपने स्वयं के गृह और उसकी वस्तुओं में; तू अपने प्रकाश, प्यारे प्रकाश को देखना। माँ, प्यारी माँ, यदि तू प्रयत्न करेगी तो तुझे तेरा प्रकाश सर्वत्र दृष्टिगोचर होगा, अवश्य होगा; और देख, मेरे लिए चिन्तित न होना, माँ। प्यारी माँ, तेरी महान् शोकमयी, अलौकिक सौन्दर्यमयी, अद्भुत बलमयी अपूर्व शक्तिमयी, जो प्रतिमा मेरे हृदय में अंकित है, वह, मुझे कारागृह की अँधेरी कोठरियों में, लोहे की तौक और हथकड़ी, बेड़ियों में, छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी आपत्ति में, सब स्थानों में, हर स्थल पर, प्रत्येक अवसर, हर परिस्थिति में सुखी रखेगी, माँ, सुखी रखेगी; यहाँ तक कि कर्तव्य पालन में मुझे शूली पर भी चढ़ना पड़ा तो भी हँसते-हँसते चढ़ा देगी।

तारा—(**प्रकाशचन्द्र को गोद में लिटा, उसका मुँह देखते हुए**) बेटा, दृढ़प्रतिज्ञ बेटा, धर्मनिष्ठ बेटा, कर्मनिष्ठ बेटा, मेरी कोख को सफल करनेवाले बेटा, मेरे प्रकाश, संसार के प्रकाश, मेरे चन्द्र। (**आँसू टपकते हैं।**)

प्रकाशचन्द्र—(**तारा के मुँह की ओर एकटक देखते हुए**) प्यारी माँ, संसार में सबसे अच्छी माँ, मेरा आनन्द, मेरा बल, मेरी शक्ति माँ, माँ, माँ! कैसा अलौकिक सौन्दर्य है, कैसा अद्भुत सौन्दर्य है! (**आँसू भर आते हैं। कुछ देर को सन्नाटा छा जाता है।**)

प्रकाशचन्द्र—(उठते हुए) माँ, तेरे लिए अब एक भयानक संवाद है।

तारा—(शान्ति से) क्या, बेटा?

प्रकाशचन्द्र—राजा अजयसिंह ने नेस्टफ़ील्ड बैरिस्टर के द्वारा सरकार को दरख़्वास्त दी है कि मैं उनके इस्टेट में बलवा कराने का उद्योग कर रहा हूँ। पुलिस ने इसकी जाँच कर ली है और उसे गवाह भी मिल गये हैं।

तारा—(क्रोध से) किसने दरख़्वास्त दी है, किसने दरख़्वास्त दी है?

प्रकाशचन्द्र—अजयसिंह ने, माँ।

तारा—(कुछ ठहरकर) बेटा, मैं अभी आती हूँ और तुझे आज्ञा देती हूँ कि जब तक मैं न आऊँ, तब तक तू घर के भीतर जाकर बैठ।

प्रकाशचन्द्र—(आश्चर्य से) कहाँ जाती है, माँ?

तारा—यह न बताऊँगी।

प्रकाशचन्द्र—(जल्दी-जल्दी) पर, तू कोई ऐसी बात तो न करेगी, जिससे मैं कर्तव्य-पथ से भ्रष्ट होऊँ, या किया जाऊँ।

तारा—वचन देती हूँ, कदापि नहीं। **(जाना चाहती है।)**

प्रकाशचन्द्र—(रोक कर) सुन, माँ, तू आज्ञा देकर जा रही है कि मैं घर के बाहर न जाऊँ; तेरी आज्ञा मेरे लिए संसार में सबसे अधिक पवित्र वस्तु है; पर मान ले, पुलिस मुझे आकर गिरफ़्तार कर ले जाये?

तारा—(दृढ़ता से) यह दूसरी बात है। ऐसी परिस्थिति में अब

मैं तुझसे जेल में आकर मिलूँगी। **(जाती है। चादर लकर आती है और फिर जाती है।)**

प्रकाशचन्द्र—(खड़े होकर) माँ, प्यारी माँ, दुखी माँ, संसार में सबसे अच्छी माँ।

[दूसरी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—नगर का एक मार्ग

समय—तीसरा पहर

[वही मार्ग है जो पहले अंक के आठवें दृश्य में था। मनोरमा और सुशीला का प्रवेश।]

मनोरमा—मुझे सचमुच बड़ा खेद है, बहन, कि मेरे कारण तुम्हारा भी यह वर्ष गया।

सुशीला—यदि तुम मुझे इतना स्वार्थी समझती हो तब तो मैं तुम्हारी मैत्री के योग्य ही न थी। यह कभी सम्भव था कि तुम दिन भर मारी-मारी उनकी गिरफ़्तारी का पता लगाती घूमो और मैं कॉलेज हॉल में बैठ कर परीक्षा दूँ। यदि जाती भी तो एक प्रश्न तक का उत्तर न दे सकती।

मनोरमा—तो आज इतना तो पता लग गया कि उनका अब गिरफ़्तार होना निश्चित है।

सुशीला—हाँ, यह तो जान ही पड़ता है।

मनोरमा—बहन, वे जेल जायँगे। **(लम्बी साँस लेकर)** सर्व प्रथम तो यही मेरी समझ में नहीं आता कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के जेल भेजने का क्या अधिकार है। फिर यदि समाज की यह एक अनिवार्य बुराई मान ली जाय और चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों आदि के सुधार एवं समाज की रक्षा ऐसे व्यक्तियों को जेल भेजे बिना न हो सकती हो, तो भी प्रकाशचन्द्रजी के सदृश व्यक्तियों के लिए भी जेल! और इस प्रकार के मनुष्यों को जेल भिजवाएँ मेरे भाई साहब और राजा साहब के सदृश व्यक्ति। मुझे तो आश्चर्य होता है, बहन, कि मेरे भाई और राजा साहब आदि के सदृश डाकुओं से भी बड़े डाकू, चोरों से भी बड़े चोर और व्यभिचारियों से भी बड़े व्यभिचारी, समाज में आनन्द से रहते हैं, प्रतिष्ठा के साथ रहते हैं और प्रकाशचन्द्र के सदृश व्यक्ति जेल भेजे जाते हैं।

सुशीला—ठीक कहती हो, बहन, पर न जाने कैसे संसार में सदा यही होता आ रहा है।

मनोरमा—तभी तो समाज दुखी है और आश्चर्य की बात यह है कि मेरे भाई साहब-सदृश व्यक्ति भी दानी, त्यागी और दानी, त्यागी ही नहीं, दूसरों के दुःख से दुखी रहने की डींग मारते हैं। दुखी रहने का दिखावा भी कदाचित् दूसरों पर रोब रखने में सहायक होता है।

सुशीला—और अब तुम्हें भी इन्हीं लोगों के कारण दुःख मिलेगा। उनके बिना तुम्हारा समय कैसे निकलेगा?

मनोरमा—**(फिर दीर्घ निश्वास छोड़कर)** उनके स्वरूप के ध्यान, उनके नाम के जप और उनके अधूरे कार्यों को पूर्ण कर के। सौभाग्य की बात है, सुशीला, कि मेरी उनसे एकता, केवल प्रेम में ही न होकर, कर्तव्य-क्षेत्र में भी है। उनके वियोग में यद्यपि जीवन भार-स्वरूप हो जायगा,

आँखें दर्शनामृत पान करने के लिए और कान वाक्यामृत श्रवण करने के लिए तरसेंगे, पर इन्हें वश में रख मैं उनके कार्यों को पूर्ण करूँगी। मैं जानती हूँ, बहन, उससे भी मुझे एक अद्‌भुत आनन्द की प्राप्ति होगी।

सुशीला—अब मेरी समझ में आया कि विवेकी और अविवेकी के प्रेम में क्या अन्तर है, स्वार्थ और निस्वार्थ भाव के प्रेम में क्या अन्तर है। जिस जनता में इस प्रेम का कुछ अपवाद-सा फैल गया है, वह जनता अब जानेगी कि सच्चा प्रेम किसे कहते हैं। वह दिन दूर नहीं है, बहन, जब तुम्हारे और उनके विशुद्ध प्रेम की गाथा गाँव-गाँव और घर-घर में गायी जायगी।

मनोरमा—इसकी मुझे चिन्ता नहीं है, सुशीला। मैं तो इतना जानती हूँ कि इस आत्मा, इस हृदय, इस शरीर के अधिष्ठाता-देवता, प्रेम-देवता, सर्वस्व वे ही हैं, और कोई नहीं। उन्हींके ध्यान, उन्हींके संग, उन्हींकी वार्ता से मुझे आनन्द मिलता है और किसी वस्तु से नहीं। जब वे न होवेंगे तब उनके उस स्वरूप को, जो माता की गोद में उषा की गोद से उदय होते हुए बालसूर्य के सदृश सुन्दर और सौम्य, एवं कर्तव्य-पथ में मध्याह्न के सूर्य के सदृश प्रखर रहता है, ध्यान कर, उनके उस शब्द को, जो वार्तालाप के समय कोमल और मधुर, एवं भाषण के समय मेघ की गर्जना के समान गम्भीर रहता है, स्मरण कर, आत्मा को शांति दूँगी और सत्य-समाज के अधूरे कार्यों को पूर्ण करूँगी।

सुशीला—तुम्हें धन्य है, मनोरमा।

मनोरमा—इसमें कोई विशेषता तो नहीं है, सुशीला, संसार सुख चाहता है। बाल्यावस्था में बालक को खिलौने से खेलने में सुख मिलता है, युवावस्था गृहस्थों को वैवाहिक प्रेम से, ऋषि-मुनियों को तपस्या और

भक्तों को भाक्त स, मैं वही कहती हूँ और वही करूँगी जिससे मुझे सुख मिलेगा; जनता की निन्दा-स्तुति की मुझे चिन्ता नहीं है।

सुशीला—पर, बहन, उनके हृदय में तुम्हारे प्रति कैसे भाव हैं?

मनोरमा—मैं नहीं जानती। हाँ, इतना तो मैंने अवश्य देखा कि उन्होंने कभी मेरी ओर दृष्टि भर कर देखा भी नहीं, न प्रेम की कोई बात ही कही; परन्तु मुझे इसकी भी चिन्ता नहीं है। मैं वह प्रेमिका भी नहीं कि प्रेम-पात्र की ओर से परिवर्तन में प्रेम की आकांक्षा करूँ और प्रति-सहयोग न मिलने पर प्रेम न कर सकूँ। हाँ, मेरे कार्य पर उनका अत्यधिक विश्वास है। दूसरे, उस दिन टाउनहाल में उनपर पड़नेवाले प्रहारों को जब मैंने सहा, तब वे बहुत विचलित हुए और मुझे धन्यवाद भी कई बार दिये। बहन, उन प्रहारों के सहने से जितना आनन्द मुझे मिला उतना आज तक कभी न मिला था।

सुशीला—परन्तु, तुमने आज तक अपना हृदय खोल कर उनके सम्मुख रखा भी तो नहीं।

मनोरमा—न यह भविष्य में कभी करूँगी।

सुशीला—तो यह कुसुम-कलिका क्या बिना खिले ही मुरझा जायगी? प्रेम तो विकसित करने का कार्य करता है। क्या यह प्रेम अपने स्वभाव के विरुद्ध कार्य करेगा?

मनोरमा—नहीं, बहन, तुम तो प्रेम का एक पहलू बता रही हो, उसका दूसरा पहलू भी है, और वह है बलिदान। कहीं प्रेम सुख का साम्राज्य स्थापित करता है और कहीं बलिदान की आहुति माँगता है। प्रथम विकास है और दूसरा विसर्जन। विकास से विसर्जन कई गुना श्रेष्ठ और

आनन्ददायक है। फिर बलिदान के समय तो हृदय पर प्रेम का स्वरूप उस तरु के समान हो जाता है जो खण्डहर पर हरा-भरा रहता है।

सुशीला—सचमुच ही तुम धन्य हो, मनोरमा।

मनोरमा—मुझे अपनी विशेष चिन्ता नहीं है, सुशीला, चिन्ता है उनकी वृद्धा माता की। स्मरण नहीं है, उन तीन दिनों में, जब तक वे हवालात में रहे, न तो वे सोईं, न उन्होंने कुछ खाया, न हम लोगों को पहचाना, न हमारी बात समझी और न हमसे कुछ कहा ही। अधिकतर हम लोग उन्हींके पास रहीं, पर, कोई फल न हुआ। सुशीला, उन तीन दिनों में तुमने उनमें एक बात देखी?

सुशीला—क्या बहन?

मनोरमा—माता का अद्‌भुत शोक। उनके शोक में साधारण करुणा न थी, परन्तु करुणा के संग ही एक विचित्र प्रकार का बल था। नारी को अबला कहा जाता है, परन्तु कदाचित् माता के लिए, और विशेषकर पुत्र के लिए शोकित माता के लिए, अबला शब्द का उपयोग नहीं किया जा सकता।

सुशीला—हाँ, बहन, उनके शोक में करुणा के संग ही एक विचित्र प्रकार का बल अवश्य था।

मनोरमा—मुझे भय है कि प्रकाशचन्द्र के इस बार के वियोग में उनका यह विचित्र बल ही उनके प्राण हरण न कर ले। सुशीला, शोक में जिनके प्राण जाते हैं, उनके प्राणों को, शोक की करुणा नहीं, पर शोक का यह विचित्र बल ही हरण करता है। फिर माता के शोक में इस बल की कितनी बड़ी मात्रा रहती है यह हम लोगों ने देखा ही है।

सुशीला—परन्तु, कई बार यह भी होता है कि जिस प्रकार अत्यधिक

सुख बहुत काल तक नहीं ठहरता उसी प्रकार अत्यधिक दुःख भी। जो कुछ हो, हमें उनकी सेवा में कोई बात न उठा रखनी होगी।

मनोरमा—(**कुछ ठहरकर**) अच्छा, बहन, एक बार अजयसिंह के पास जाऊँ, उनके सम्बन्ध में कह कर देखूँ कि क्या होता है।

सुशीला—क्या होगा, मुझे तो कोई आशा नहीं है।

मनोरमा—(**कुछ सोचते हुए**) पर, प्रयत्न करके देखने में क्या हानि है ?

सुशीला—हाँ, प्रयत्न करने में कोई हानि नहीं। मैं भी चलूँ ?

मनोरमा—(**फिर कुछ सोचते हुए**) नहीं, अकेली ही जाऊँगी।

सुशीला—वहाँ के निर्णय की सूचना तो दोगी ही ?

मनोरमा—अवश्य, इसमें क्या सन्देह है।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—राजा अजयसिंह का बैठकखाना

समय—तीसरा पहर

[अजयसिंह और कल्याणी बैठे हैं।]

कल्याणी—जितना मैं आपके हृदय को शान्ति पहुँचाने का उद्योग

करती हूँ, उतना ही मैं देखती हूँ, दिनोंदिन आपकी उद्विग्नता बढ़ती ही जाती है, महाराज ।

अजयसिंह—मैंने तो कई बार तुमसे कहा, कल्याणी, कि मुझे शान्ति और सुख मिल ही नहीं सकते । मेरा शोक, ऐसा शोक है जिसे वही मनुष्य जान सकता है जो शनैः शनैः अपनी संपत्ति खोता है, उसे बचाने का अच्छे और बुरे सभी मार्गों से प्रयत्न करता है, पर इतने पर भी उन प्रयत्नों में असफल होता है। तुम जानती हो, गत अनेक वर्षों में मैंने पद-पद पर अपने दुर्भाग्य से युद्ध किया है, परन्तु विजय सदा उसीकी हुई है। वह शोक, जो इस प्रकार के पराजयों से धीरे-धीरे बढ़ता है, एकाएक होनेवाले शोक से कहीं अधिक कष्टदायक है । एकाएक होनेवाली बर्बादी और धीरे-धीरे होनेवाली बर्बादी में कदाचित् उतना ही अन्तर है जितना फेफड़ों की ही दो बीमारियों, निमोनियाँ और थाइसेस में। एकाएक होनेवाली बर्बादी के कारण कष्टमय बड़ी बात कदाचित् सहनीय है, परन्तु धीरे-धीरे होनेवाली बर्बादी के कारण छोटी-छोटी कष्टमय बातें नहीं । किसी उच्च स्थान से शनैः शनैः मेरा पतन हो रहा है, इस विचार से अधिक कष्ट देनेवाला कदाचित् और कोई विचार नहीं है।

कल्याणी—और, महाराज, यदि हम लोग इस सब बचे हुए ऐश्वर्य को छोड़ कर वानप्रस्थ ले लें तो ?

अजयसिंह—(हाथ मलते हुए) कल्याणी, कैसी बात कहती हो। मैं बिना ऐश्वर्य के जीवित रहने की कल्पना ही नहीं कर सकता ।

कल्याणी—परन्तु इस ऐश्वर्य से आपको किस सुख की प्राप्ति हो रही है ?

अजयसिंह—कल्याणी, तुम समझती नहीं हो; मैंने उस दिन भी तुमसे कहा था, आज भी कहता हूँ।

कल्याणी—कैसे, महाराज ?

अजयसिंह—मैं तुम्हें समझा नहीं सकता, स्वयं समझ सकता हूँ। मेरे भीतर न जाने कौनसी वस्तु, कौनसी शक्ति, इस सारे एश्वर्य को स्थिर रख सकने के लिए मेरे शरीर, मेरे हाथों, मेरे सारे अवयवों से सब प्रकार के कार्य, कल के सदृश करा रही है।

कल्याणी—परन्तु, महाराज, अपना वृद्ध-काल उपस्थित हुआ है, सन्तान भी नहीं है, फिर यह सब किस लिए ?

[अजयसिंह चुप रहता है।]

कल्याणी—महाराज।

अजयसिंह—कल्याणी।

कल्याणी—यह मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता।

अजयसिंह—जानता हूँ।

कल्याणी—यह ऐश्वर्य साथ नहीं चलेगा।

अजयसिंह—जानता हूँ।

कल्याणी—यों ही दुःख ही दुःख में आप अपना सारा जीवन निरर्थक व्यतीत कर रहे हैं।

अजयसिंह—जानता हूँ।

कल्याणी—मेरा जीवन निरर्थक व्यतीत करा रहे हैं।

अजयसिंह—जानता हूँ।

कल्याणी—अभी तक कई ऐसे कार्य कर रहे हैं, जो नहीं करना चाहिए।

अजयसिंह—जानता हूँ।

कल्याणी—फिर ?

अजयसिंह—फिर क्या ? मैं शक्तिहीन हूँ। इस बन्धन को तोड़ सकने का, इस जाल को काट डालने का; मुझमें साहस नहीं है। देखो कल्याणी, ...।

[रमा का प्रवेश।]

रमा—**(कल्याणी से)** जिस प्रकाशचन्द्र के यहाँ आपने मुझे एक बार भेजा था, उसकी माता तारा आयी है। कहती है, रानी साहबा से अभी मिलना चाहती हूँ।

अजयसिंह—**(आश्चर्य से खड़े हो, हाथ मलते हुए)** आह ! तारा आयी है ! तारा आयी है !

कल्याणी—**(रमा से)** अच्छा, मैं अभी आयी। **(रमा का प्रस्थान। अजयसिंह से)** इसमें भी उद्विग्नता महाराज ? आप ही ने तो एक बार प्रकाशचन्द्र को बुलाने का प्रयत्न किया था। उसकी माँ स्वयं आयी है और यह सुनकर भी आप उद्विग्न हो रहे हैं। अच्छा मैं अभी आयी।

[कल्याणी का प्रस्थान।]

अजयसिंह—**(घूमते और हाथ मलते हुए)** आह ! कल्याणी, तू नहीं समझती, मैं कहता हूँ नहीं समझती।

[परदा गिरता है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान—रानी कल्याणी के कमरे की दालान

समय—तीसरा पहर

कल्याणी—(**बाँयीं ओर से प्रवेश कर**) रमा ! रमा ! उन्हें ले आ।

[**दाहनी ओर से रमा और तारा का प्रवेश। रमा तारा को छोड़कर जाती है।**]

तारा—(**चादर मुख पर से हटाते और कल्याणी का मुख देखते हुए**) बहन, मुझे पहचाना ?

कल्याणी—(**ध्यान से तारा का मुख देखकर आश्चर्य से**) इन्दु दीदी से तुम्हारा मुख मिलता-जुलता है। (**कुछ ठहरकर उसी प्रकार तारा का मुख देखते हुए**) मिलता-जुलता क्या वैसा ही मुख है। (**फिर कुछ ठहरकर उसी प्रकार तारा का मुख देखते हुए**) अरे, वैसा-ही मुख क्या, तुम वही हो, वही हो। आँखें धोखा तो नहीं देतीं, कान धोखा तो नहीं खाते, इन्दु दीदी, इन्दु दीदी !

तारा—हाँ, कल्याणी, अभागिनी इन्दु ही है।

कल्याणी—(**इन्दु के पैर छूकर**) दीदी, इतनी वृद्ध हो गयीं ?

तारा—बहन, दुःख जो न कर दे सब थोड़ा है। अवस्था तो पचपन वर्ष की है। अच्छा, अधिक समय नहीं है।

कल्याणी—इसका क्या अर्थ है ? अब तुम कहाँ जा सकती हो, दीदी ?

तारा—व्यर्थ की बातें न कर; बहन। जिस काम को आयी हूँ, वह सुन। मेरे पुत्र प्रकाश को जानती है ?

कल्याणी—कौन इस नगर में है, जो उनका नाम नहीं जानता ? परन्तु अब तुम्हारा पुत्र प्रकाश क्यों ? राजा साहब का राजकुमार प्रकाश।

तारा—फिर वही पागलपन। सुन, काम की बात होने दे। राजकुमार प्रकाश नहीं, व्यभिचारिणी इन्दु का निर्धन और अनाथ पुत्र प्रकाश। दुखिया तारा के टूटे हुए हृदय का सहारा प्रकाश। अंधी तारा के नेत्रों का तारा प्रकाश। सुन, उस पर नयी आपत्ति आनेवाली है और उस आपत्ति के कारण हैं तेरे पति-देव, राजा साहब।

कल्याणी—**(आश्चर्य से)** राजा साहब ! राजा साहब !

तारा—हाँ, राजा साहब ! उनके इस्टेट में प्रकाश का सत्य-समाज कार्य कर रहा है। उन्होंने बैरिस्टर नेस्टफ़ील्ड के द्वारा सरकार को झूठी दरख़्वास्त दी है कि वहाँ प्रकाश बलवा कराने का उद्योग करा रहा है। पुलिस ने उसकी जाँच भी कर ली है। गवाह भी ले लिए हैं।

कल्याणी—**(सिर पकड़कर बैठकर)** ओह ! यह अत्याचार ! यह अनर्थ ! वे तो कहते थे कि प्रकाश की ओर उनका हृदय आपसे आप स्नेहवश खिंचा जाता है।

तारा—**(रूखी हँसी हँसकर)** उनका हृदय ! उनके हृदय है भी ?

कल्याणी—**(उठती हुई)** मैं अभी नेस्टफ़ील्ड को बुलवाती हूँ और दरख़्वास्त वापस करवाती हूँ। **(ज़ोर से)** रमा ! रमा !

[रमा का प्रवेश।]

कल्याणी—**(रमा से)** इसी समय डॉक्टर नेस्टफ़ील्ड के यहाँ मोटर भिजवा, और कहला, अत्यन्त आवश्यक कार्य है, वे तत्काल आवें।

रमा—बहुत अच्छा, रानी साहबा। **(जाती है।)**

कल्याणी—**(तारा से)** अच्छा, दीदी, चलो, अब भीतर चलो। यह सब तो बहुत शीघ्र ठीक हो जायगा। राजा साहब अब बहुत कुछ बदल गये हैं। जो थोड़े बहुत दोष उनमें रह गये हैं, वे तुम्हें और प्रकाश को पाकर निकल जायँगे।

तारा—**(रूखी हँसी हँसकर)** फिर वही पागलपन आरम्भ हुआ। कल्याणी, अभी भी तू बड़ी भावुक है। जैसे मैंने अट्ठारह वर्ष की अवस्था में छोड़ा था, वैसा का वैसा स्वभाव जान पड़ता है।

कल्याणी—ये सब बातें फिर होंगी। तुम चलो तो......।

तारा—पागल कहीं की। अच्छा सुन, प्रकाश को तेरी गोद में छोड़ कर जाती हूँ।

कल्याणी—यह कभी हो सकता है। **(इन्दु का हाथ पकड़ती है।)**

तारा—**(चोली में से कटार निकालकर)** इसका यह उत्तर है, बहन। यदि तू विवश करेगी तो बाइस वर्षों में जो न किया वह यहीं तेरे सम्मुख कर लूँगी। यह कटार मेरे दुखी कलेजे को क्षण भर में पार कर देगी।

[कल्याणी हक्की-बक्की-सी होकर एकटक तारा की ओर देखती है।]

तारा—**(जल्दी-जल्दी अत्यन्त भावपूर्ण स्वर में)** व्यभिचार का अभियोग, बहन, झूठे व्यभिचार का अभियोग! पतिव्रता पत्नी पर, गर्भवती पत्नी पर, व्यभिचार का अभियोग! हिन्दू-स्त्री के लिए इहलोक और परलोक दोनों की ही दृष्टि से पातिव्रत से अधिक मूल्यवान और कोई वस्तु नहीं है और इस समाज में पति का स्त्री को व्यभिचारिणी कह देना, उसका व्यभिचारिणी होना सिद्ध कर देता है। मैंने उनके लिए क्या नहीं

किया; ऐसे पति के लिए भी सब कुछ किया। सन्तान के लिए उनका दूसरा विवाह कराया। तुझे छोटी बहन के सदृश रखा। अनेक शिक्षाएँ दीं। उन्हें मदिरा तक पिलायी। वेश्याओं का संग तक किया। कल्याणी, मुझे उस रात्रि का स्मरण है, जब प्रकाश को पेट में लिए मैं इस महल से बाहर की गयी थी। यदि प्रकाश पेट में न होता तो क्या तू फिर आज इन्दु का मुख देखती ? उसी दिन इस अभागिनी इन्दु ने संसार छोड़ दिया होता, पर नहीं, प्रकाश के कारण जीवित रहना पड़ा। मुझे उन दिनों का स्मरण है, जब मेरा मुख देखकर कोई पहचान न ले कि यह वही व्यभिचारिणी इन्दु है, मैं मुख छिपाए-छिपाए नाम बदल कर, दर-दर, गाँव-गाँव और जंगल-जंगल प्रकाश का बोझ उदर में लादे घूमती-फिरती थी। हृदय को हलका करने के लिए दिन को रो तक न सकती, यह सोच कि कोई रोते देख सन्देह न कर ले। जब रात को टाट पर सोती, रात की निस्तब्धता में हृदय रोये बिना न मानता, और रोते-रोते वह मोटा टाट भी भींग जाता, तब निकटवर्ती जनों से यह कहती कि मुझे पसीने का रोग है। प्रकाश के जन्म के पश्चात् राजकुमार प्रकाश जिस प्रकार अनाथवत पाला गया, बड़ा हुआ वह सब मुझे स्मरण है । जो राजकुमार प्रकाश खस की टट्टियों में रहता , वही ग्रीष्म की भयानक लू में झुलसता रहता था। वर्षा में झोपड़े के स्थान-स्थान पर चूने के कारण, मैं उसे गोद में ले, अनेक रातें जागते-जागते झोपड़े के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूम-घूम कर बिताती थी। हेमन्त के कँपकपानेवाले जाड़े में, जब कभी वह बीमार पड़ता, तब मुझे रोते हुए प्रकाश को लेकर, यथेष्ट वस्त्र न रहने के कारण, रुई से ही उसे ढाँक कर, झोपड़े भर में इधर का उधर नचाना पड़ता था। जो राज-कुमार प्रकाश अच्छ से अच्छे महलों में रहता, अच्छे से अच्छा भोजन करता, अच्छे से अच्छे वस्त्र पहनता, मोटरों पर बैठता, बीसों नौकरों के साथ रहता, वही प्रकाश जिस प्रकार घास के झोपड़े में रहा, जिस

प्रकार रूखे-सूखे टुकड़े खाकर पला, जिस प्रकार चिथड़े पहन कर बड़ा हुआ और जिस प्रकार धूप और वर्षा में पैदल, अकेला मारा-मारा घूमा, वह सब मेरे सामने है, कल्याणी। जो राजकुमार बड़े से बड़े विद्यालय में पढ़ता, उसकी जिस प्रकार की शिक्षा हुई, वह भी मैं भूल नहीं सकती, बहन। व्यभिचारिणी के बालक की और क्या दशा हो सकती थी, रानी? आज बाइस वर्ष इसी प्रकार बीत गये! बाइस वर्ष! बाइस वर्ष तक अपने व्यभिचार का मैंने प्रकाश के नाम पर पूजन किया है और आज उसी प्रकाश का पिता उस निर्दोष प्रकाश को जेल भिजवा रहा है! तू, बहन, मुझे अब महलों में रोकना चाहती है। पागल हो गयी है, पागल हो गयी है?

[तारा का शीघ्रता से प्रस्थान। कल्याणी कुछ क्षण निस्तब्ध खड़ी रहकर, फिर जाती है। परदा उठता है।]

आठवाँ दृश्य

स्थान—राजा अजयसिंह की बैठक

समय—तीसरा पहर

[अजयसिंह टहल रहा है। कल्याणी का प्रवेश।]

कल्याणी—**(भर्राये हुए स्वर में)** यह मैं क्या सुन कर आयी हूँ, महाराज?

अजयसिंह—**(जल्दी-जल्दी)** यही न कि मैंने प्रकाशचंद्र को गिरफ़्तार करने के लिए सरकार को दरख्वास्त दी है?

कल्याणी—(**आश्चर्य से**) और यह कोई आश्चर्य तथा खेद की बात नहीं है ?

अजयसिंह—(**जल्दी से कल्याणी के पास आकर**) इस्टेट को बचाने के लिए यह आवश्यक था, नितान्त आवश्यक। सुना, समझी, या (**चिल्ला कर**) अब भी नहीं समझी ?

कल्याणी—(**लम्बी साँस लेकर**) महाराज, महाराज।

[अजयसिंह चुप रहकर हाथ मलते हुए इधर-उधर टहलता है।]

कल्याणी—और आपने यह मुझसे भी नहीं कहा ?

अजयसिंह—(**टहलते हुए ही**) इस्टेट के प्रबन्ध की सब बातें स्त्रियों से कहने की आवश्यकता नहीं है।

कल्याणी—इसीलिए कदाचित् जो पत्र आपने रुक्मिणी के नाम क्षमा-याचना का लिखकर दिया था, उसकी सूचना भी मुझे नहीं दी गयी ?

अजयसिंह—(**आश्चर्य से, खड़े रहकर**) अच्छा, यह वृत्तान्त भी तुम्हें विदित हो गया ?

कल्याणी—उसी दिन दोपहर को रुक्मिणी आकर मुझे वह पत्र बता गयी थी और जो मन में आया कह गयी थी। मैंने आपको इसीलिए नहीं कहा कि आपकी चिन्ता की सूची क्यों बढ़ायी जाय।

अजयसिंह—(**बेपरवाही से**) हाँ, उस पत्र का वृत्तान्त भी तुम्हें न कहने का कारण इस्टेट ही है। (**फिर टहलता है।**)

कल्याणी—यदि आरम्भ से ही इस्टेट का इतना ध्यान रखा गया होता तो यह स्थिति ही काहे को होती ?

अजयसिंह—**(टहलते हुए, लम्बी साँस लेकर)** उसीका तो प्रायश्चित्त कर रहा हूँ।

कल्याणी—आप जानते हैं प्रकाश कौन है?

अजयसिंह—**(उत्सुकता से कल्याणी के निकट आकर)** कौन है, कल्याणी?

कल्याणी—आपका पुत्र।

अजयसिंह—**(सिर पकड़ कर चिल्लाकर)** सच?

कल्याणी—हाँ, आपका सन्देह ही सच निकला, महाराज। प्रकाश इन्दु का पुत्र ही है। इन्दु ही अभी आयी थीं, उन्हींने अपना नाम तारा बदल लिया है और दुःख के कारण ही उनकी अवस्था इतनी अधिक दिखती है।

अजयसिंह—**(सोफ़ा पर गिरते हुए)** और राजकुमार प्रकाशचंद्र उसके पिता की दरख़्वास्त पर ही गिरफ़्तार हो गया, यही सूचना देकर इन्दु चली भी गयी, क्यों?

कल्याणी—नहीं।

अजयसिंह—**(उत्सुकता से उठकर)** अच्छा, अभी प्रकाशचंद्र गिरफ़्तार नहीं हुआ?

कल्याणी—नहीं, इन्दु कहती थीं उसके गिरफ़्तार होने की चर्चा है।

अजयसिंह—**(जल्दी से चिल्लाकर)** तब तो कुशल है, अब भी कुशल है। मेरे कपड़े, मोटर, मैं अभी नेस्टफ़ील्ड के यहाँ जाता हूँ।

कल्याणी—थोड़ा धैर्य रखिए, महाराज। मैंने उनको लाने के लिए मोटर भेजी है, वे आते ही होंगे।

अजयसिंह—**(जल्दी से इधर-उधर घूमते हुए)** कल्याणी, कल्याणी।

[रमा का प्रवेश।]

रमा—सर भगवानदासजी की पुत्री मनोरमा आयी हैं और श्रीमान तथा रानी साहबा से अभी मिलना चाहती हैं।

कल्याणी—इस समय ? **(कुछ सोचकर)** अच्छा, उन्हें यहीं भेज दो।

[रमा का प्रस्थान और मनोरमा का प्रवेश।]

मनोरमा—राजा साहब और रानी साहबा का अभिवादन करती हूँ।

कल्याणी—कहो, मनोरमा, आज कैसे कष्ट किया ?

मनोरमा—अपने घर के लोगों के पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए, रानी साहबा।

कल्याणी—कैसा प्रायश्चित्त, मनोरमा ?

मनोरमा—कदाचित् आप नहीं जानतीं कि मेरे भाई साहब के कहने से राजा साहब ने प्रकाशचंद्र के विरुद्ध सरकार को एक दरख्वास्त दी है।

कल्याणी—मुझे सारा वृत्तान्त अभी विदित हुआ है, मनोरमा।

मनोरमा—उसीके लिए मैं राजा साहब की और आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूँ। रानी साहबा, मैं प्रकाशचंद्र के सत्य-समाज की एक सदस्या हूँ।

कल्याणी—यह मैं जानती हूँ।

मनोरमा—इतना ही नहीं, मैं उन्हें इतना चाहती हूँ, जितना संसार में

किसी वस्तु को नहीं। मैं उनके प्रेम को छिपाना नहीं चाहती, अपने ही अन्तःकरण में, कम से कम इस समय, नहीं रखना चाहती। यदि संसार की किसी भी पवित्र वस्तु को प्रकट करना पाप नहीं है, तो उस प्रेम को प्रकट करना भी पाप नहीं। गंगा की धारा से यदि पृथ्वी पवित्र हुई है, हिमालय के उच्च शिखरों से यदि इस संसार का मस्तक ऊँचा हुआ है, तो विशुद्ध प्रेम की धारा गंगा से भी अधिक पृथ्वी को पवित्र कर सकती है, विशुद्ध प्रेम के उच्च विचार संसार के मस्तक को हिमालय से भी अधिक उन्नत कर सकते हैं। संसार हमारे प्रेम को चाहे कैसी भी दृष्टि से देखे, परन्तु, मैं कह सकती हूँ, दावे के साथ कह सकती हूँ, सूर्य और चन्द्र को, समुद्र और अग्नि को, स्वयं भगवान को साक्षी देकर कह सकती हूँ कि हमारा प्रम शुद्ध, नितान्त शुद्ध है, पवित्र, अत्यन्त पवित्र है, गंगा से अधिक पवित्र है, हिमालय से अधिक उच्च है। उसमें लालसा नहीं है, वासना नहीं है, वह निष्काम है, ओत-प्रोत प्रेम है। बस, प्रेम! भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, प्रेम है, बस प्रेम! उसी प्रेम के नाम पर आपसे और राजा साहब से एक भिक्षा माँगने आयी हूँ, केवल एक; आप उस दरख़्वास्त को लौटा लें।

अजयसिंह—**(घूमते हुए)** कल्याणी, कल्याणी, मेरा सिर चक्कर खा रहा है।

कल्याणी—**(मनोरमा से)** वही हो रहा है, मनोरमा।

[रमा का प्रवेश।]

रमा—डॉक्टर नेस्टफ़ील्ड आ गये हैं।

कल्याणी—उन्हें यहीं भेज दो।

[रमा जाती है। नेस्टफ़ील्ड का प्रवेश।]

अजयसिंह—(आगे बढ़कर जल्दी से) बैरिस्टर साहब, प्रकाशचंद्र के सम्बन्ध में मैंने जो दरख्वास्त दी है, उसे मैं, चाहे मेरा सर्वस्व क्यों न चला जाय, लौटा लेना चाहता हूँ।

नेस्टफ़ील्ड—(सिर हिलाते हुए) यह तो अब नहीं हो सकता, राजा साहब।

अजयसिंह—(घबड़ाकर बहुत जल्दी से) क्यों? मैंने दरख्वास्त दी है, मैं लौटाना चाहता हूँ।

नेस्टफ़ील्ड—ऐसे मामले में सरकार कानूनन मुद्दई हो जाती है और अब तो मामला बहुत बढ़ गया है, इनक्वायरी हो चुकी, गवाह दर्ज़ हो गये, वारेन्ट निकल गया और कदाचित् वह गिरफ़्तार भी हो गया होगा।

[नेपथ्य में 'प्रकाशचन्द्र की जय', 'युवक-केशरी प्रकाशचन्द्र की जय' इत्यादि शब्द होते हैं।]

नेस्टफ़ील्ड—(खिड़की से बाहर की ओर देखकर) यह देखिए, यह देखिए, आपके महल के नीचे से ही पुलिस उसे गिरफ़्तार कर के लिए जा रही है। शहर के बहुत से लुच्चे उसके साथ जा रहे हैं। राजा साहब, मैं आपका भला चाहनेवाला हूँ। यक़ीन रखिए, आप किसी तरह नहीं फँसेंगे, बिल्कुल नहीं फँसेंगे।

अजयसिंह—(अत्यन्त आतुरता से) आह! बैरिस्टर साहब, आह! बैरिस्टर साहब, आप नहीं जानते, आप नहीं जानते कि क्या मामला है। प्रकाश मेरा लड़का है।

[मूर्च्छित होकर सोफ़ा पर गिर पड़ता है।]

मनोरमा—आह! रानी साहबा, आह! रानी साहबा, यह सब क्या है?

[गिरना चाहती है। कल्याणी सँभालती है। नेस्टफ़ील्ड स्तम्भित-सा होकर सबकी ओर देखता है।]

यवनिका-पतन

उपसंहार

स्थान—एक दूकान

समय—तीसरा पहर

[वही दूकान है, जो उपक्रम में थी। बहुत-से चीनी के बर्तन अलमारियों से गिर-गिर कर फूट गये हैं। साँड़ को रस्सियों से बाँध लिया गया है। तरह-तरह की वेश-भूषा वाले कुछ लोग इधर-उधर खड़े हैं। सभी भयभीत हैं; इनमें दो पुलिस कॉन्सटेबिल भी हैं। कुछ व्यक्ति दीवालों से सटे खड़े हैं, कुछ अलमारियों पर चढ़ गये हैं, कुछ साँड़ की रस्सियाँ पकड़े हुए हैं।]

वृद्ध—(रोते हुए) यह तो पकड़ गया, पर, हाय ! हाय ! मेरे बर्तन फूट गये, चकनाचूर हो गये ! कैसे अच्छे, चमकीले, पॉलिशदार थे !

यवनिका-पतन

समाप्त